VAKROKTIJIVITA

OF

RAJANAKA KUNTAKA

Chapters I & II

Edited by

Dr. Dashrath Dwivedi

M. A., Ph. D., Sahityacharya

DEPARTMENT OF SANSKRIT, UNIVERSITY OF GORAKHPUR

GORAKHPUR



VISHWAVIDYALAYA PRAKASHAN

CHOWK, VARANASI

FIRST EDITION 1977

Price Rs. 12·50



Published by
VISHWAVIDYALAYA PRAKASHAN
CHOWK, VARANASI

Printed at
JNANAMANDAL LIMITED
KABIRCHAURA, VARANASI

श्रीमद्राजानककुन्तक विरचित

वक्रोक्तिजीवितम्

प्रथम–द्वितीय उन्मेष

हिन्दी व्याख्या अनुवाद तथा समीक्षात्मक
भूमिका सहित

व्याख्याकार तथा सम्पादक

डॉ० दशरथ द्विवेदी

एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्याचार्य

प्राध्यापक, संस्कृत-विभाग

गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

प्रथम संस्करण १९७७ ई०

मूल्य : बारह रुपये पचास पैसे

प्रकाशक : विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी
मुद्रक : ज्ञानमण्डल लिमिटेड, कबीरचौरा, वाराणसी—७५९७-३३

भूमिका

आचार्य कुन्तक, उनका कृतित्व

एकस्तावद् रचयितुमलं श्रोतुमेवापरस्ता-
मन्यः कर्तुं तदुभयमपि ज्ञातुमेकोऽभियुक्तः।
नत्वेकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणानां-
मेकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षा क्षमोऽन्यः॥ रत्न श्री ज्ञान॥

एक रचना करता है तो दूसरा उसका आनन्द लेने मे समर्थ होता है, किन्तु उभयगुणविशिष्ट कतिपय ऐसे भी कृती पाये जाते है जो सर्जना की उज्ज्वल प्रतिभा से मण्डित होने के साथ उसका आनन्द प्राप्त करने मे भी उतने ही पटु होते है। रचना के सदसद् का विवेचक, काव्यतत्त्वज्ञ, काव्यपरीक्षक, काव्यालोचक इन तीनों से परे कोई एक ही होता है। और प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास मे ऐसे ही अद्वितीय काव्यतत्त्वज्ञ हैं आचार्य कुन्तक, जिनकी एकमात्र उपलब्ध किन्तु खण्डित कृति 'वक्रोक्तिजीवित' से संस्कृत काव्यशास्त्र की अमरबेल मे एक और अपूर्व अभिनव वक्रोक्तिशाखा की लुनाई की विविध भङ्गी छाया का प्रादुर्भाव हो गया है। डॉ० सुशीलकुमार दे की उक्ति के अनुसार मद्रास से उपलब्ध इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि मे वक्रोक्तिकार के कुन्तलक तथा कुन्तक दोनो ही नाम उपलब्ध होते हैं। इसका समर्थन उन्मेषों की समाप्ति पर—

'इति राजानककुन्तक (कुन्तलक) विरचिते वक्रोक्तिजीविते काव्यालङ्कारे प्रथमोन्मेषः।

इति श्री कुन्तकविरचिते वक्रोक्तिजीविते द्वितीय उन्मेषः।' लिखी गयी इन पक्तियो से हो जाता है। प्रकृत संस्करण मे मैने डॉ० दे की सम्पादित 'वक्रोक्तिजीवित' का ही उपयोग किया है, किन्तु पाठान्तरो को मैने एकदम छोड़ दिया है। अतएव उन्मेषो की समाप्ति पर भी यहाँ 'कुन्तक' ही मिलेगा। इस प्रकार यद्यपि वक्रोक्तिकार के उपर्युक्त दोनो नाम उपलब्ध होते हैं किन्तु जैसलमेर से प्राप्त [1]पाण्डुलिपि तथा अरुणाचलनाथ, भट्टगोपाल आदि के उद्धरणो और परवर्ती रुय्यक, विद्याधर प्रभृति की कृतियो मे ग्रन्थकार का कुन्तक नाम ही पाया जाता है। अधुनातन विद्वान् इसी नाम का समर्थन भी करते है। रुय्यक ने अपने 'अलङ्कारसर्वस्व' के प्रारम्भ में केवल 'वक्रोक्तिजीवितकार' मात्र कहकर कुन्तक अभिमत काव्य की आत्मा का उल्लेख किया है—

---

१. द्रष्टव्य, डॉ० एस० के० दे की वक्रोक्तिजीवित, भूमिका, पृ० १ तथा काणे, सस्कृत साहित्य का इतिहास, हिन्दी सस्करण, पृ० २८१–८३।

'वक्रोक्तिजीवितकारः पुनः······वक्रोक्तिमेव प्राधान्यात् काव्यस्य जीवितमुक्तवान्।' अ० स० पृ० ९, सम्पा०, डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी।

कुन्तक के मत का प्रत्याख्यान करते हुए एकावलीकार विद्याधर ने पृ० ५१ पर कहा है—

'एतेन यत्र **कुन्तकेन** भक्तावन्तर्भावितो ध्वनिस्तदपि प्रत्याख्यातम्।'

स्वय आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ के प्रथम उन्मेष की नवी कारिका मे उचित तथा विवक्षित अर्थ के प्रतिपादक शब्द के उदाहरण मे, 'संरम्भः करिकीटमेघशकलोद्देशेन' इत्यादि श्लोक को प्रस्तुत किया है। इसी श्लोक को 'विधेयाविमर्श' दोष के उदाहरण मे प्रस्तुत करते हुए आचार्य महिमभट्ट ने अपने ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' के द्वितीय विमर्श की २९ वी कारिका के अन्तर्गत कुन्तक का इस प्रकार स्मरण किया है—

काव्यकञ्चनकपाश्ममानिना कुन्तकेन निजकाव्यलक्ष्मणि।
यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता श्लोक एष स निर्दशितो मया॥ व्यक्तिविवेक, २।२९

इसी प्रकार आचार्य महिम ने कुन्तक का नामोल्लेख न करते हुए भी उनके काव्यलक्षण का खण्डन भी किया है।[1] अरुणाचलनाथ ने 'कुमार-सम्भव' की अपनी टीका मे—'यदाहुः कुन्तकः—' कहते हुए 'वक्रोक्तिजीवित' की (१।३५) कारिका को उद्वृत किया है।[2] मम्मट के 'काव्यप्रकाश' की टीका 'साहित्यचूडामणि' (त्रिवेन्द्रम् सं०, १९२६, पृ० २) की भूमिका के श्लोको मे श्री भट्टगोपाल ने कुन्तक को अलङ्कार के आचार्यो की श्रेणी मे तीसरे स्थान पर रखा है। क्रम इस प्रकार है— दण्डी, वामन, कुन्तक, भामह, उद्भट, रुद्रट, धनञ्जय, भोज, ध्वनिकार, लोचनकार तथा महिमभट्ट। पुनः कुन्तक की प्रशसा मे भी कहते है—

'वक्रानुरञ्जनीमुक्तिं चञ्चूमिव मुखे वहन्।
कुन्तकः क्रीडति सुखं कीर्तिस्फटिकपञ्जरे॥'

त्रिपुरारि ने 'मालतीमाधव' की अपनी टीका मे 'असार सरारम्' (व० जी०, श्लो० ३०) इत्यादि श्लोक से कुन्तक का मत रखते हुए उनका नामस्मरण किया है—'अतो विधिविलसित सर्वमफलम्' इति पठनीयम् इति कुन्तकप्रभृतयः काव्यतत्त्वज्ञा सहृदया'। किन्तु कुन्तक द्वारा निर्दिष्ट पाठान्तर इससे भिन्न ही है। इसी प्रकार परवर्ती काव्यालङ्कारिको ने कुन्तक या वक्रोक्तिजीवितकार नाम से 'वक्रोक्तिजीवित' के लेखक का उल्लेख किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि ग्रन्थकार का नाम कुन्तक ही है। वस्तुतः ग्रन्थकार का कश्मीरीय नाम तो कुन्तक है, यह कश्मीर कवि या काव्यशास्त्रकारो की नामकरण-पद्धति से सिद्ध होता है। सम्भावना तो यह है कि कुन्तकरचित 'वक्रोक्तिजीवित' की प्रति जब दक्षिण पहुँची तो उसमे

१. द्रष्टव्य, व्यक्तिविवेक, पृ० १४२, चौखम्बा सस्करण, १९६४।
२. उद्धृत, डॉ० दे की वक्रोक्तिजीवित की भूमिका, पृ० २।

के रसास्वाद की अशमात्र भी समानता करने मे समर्थ नही है। वस्तुत शास्त्र, श्रुति-कटु, कष्टसाध्य, दुरधिगम तो होता ही है, अध्ययन के समय ही उसकी कठिनता आदि के कारण महान् कष्ट हाता है। शास्त्र कडवी औषध के समान है। काव्य से उसकी तुलना ही व्यर्थ है। आनन्ददायक काव्य अमृतकल्प होता है—

कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्।
आह्लाद्यमृतवत्काव्यमविवेकगदापहम् ॥

इस प्रकार कुन्तक की दृष्टि से काव्य का प्रमुख प्रयोजन सच्चरित्रो के निबन्धन-पूर्वक पुरुषार्थ-चतुष्टय का कोमल उपदेश. नूतनौचित्य समन्वित लोकव्यवहार की शिक्षा तथा अलौकिक काव्यामृतरस का सहृदय-हृदय मे चमत्कार पैदा करना है। प्राचीन आचार्यो तथा परवर्ती काव्यालोचको का काव्यप्रयोजन देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि, कुन्तक का यह विवेचन कोई नया नही है। भामह ने धर्मादि, कलावैचक्षण्य तथा कीर्ति-प्रीति को काव्य का प्रयोजन माना था। कुन्तक के इस विवेचन मे कीर्ति का अभाव है। वस्तुतः भामह-मम्मट आदि के प्रयोजन कवि तथा सामाजिक दोनो की दृष्टि से कहे गये है जबकि कुन्तक ने यहाँ सहृदय-सामाजिक-लोक को दृष्टि मे रखकर ही काव्य की उपयोगिता बताई है। कान्तासम्मित उपदेश या सद्यःपरिनिर्वृति-रूप काव्यप्रयोजन भी कुन्तक के उपर्युक्त विवेचन मे समाविष्ट है। पश्चिम मे काव्य को कला का एक अङ्ग माना जाता है। समष्टितया पश्चिम का काव्यप्रयोजन "कला कला के लिए, कला जीवन के लिए, जीवन से पलायन के लिए, सेवार्थ, आत्मानुभूति का साधन, आनन्दार्थ, विनोदार्थ तथा सृजन की आवश्यकता-पूर्ति" के रूप मे माना जा सकता है। इस प्रयोजन की विवेचना न करके यही कहना उचित होगा कि भारतीय काव्यप्रयोजन के समक्ष ये समस्त प्रयोजन बहुत ही हीन है। कुन्तक के प्रयोजन मे इन समस्त को देखा जा सकता है। पर इनसे परे जो भारतीय काव्य तथा कुन्तक-विवेचना का भी उद्देश्य है 'रामादिवत् व्यवहार' तथा अन्ततः चरमलक्ष्य परिनिर्वृत्ति, मोक्ष, वह पश्चिम के काव्यप्रयोजन मे अप्राप्य है।

अलङ्कार और अलङ्कार्य :—कुन्तक भी प्राचीन आचार्यो भामह आदि के समान शब्द-अर्थ के साहित्य का अलङ्कार मानते है। किन्तु उनके अनुसार अलङ्कृत ही शब्दार्थ काव्य कहे जाते है। अतएव काव्य सदैव अलङ्कृत होता ही है न कि काव्य का अलङ्कार के साथ योग होता है। शब्द और अर्थ ही अलङ्कार्य है। उनका अलङ्कार है वक्रोक्ति। इन दोनो का पृथक्-पृथक् विवेचन काव्य-व्युत्पत्ति के लिए ही किया जाता है। अन्यथा इनमे कोई तात्त्विक पार्थक्य नही है।

काव्य-लक्षण :—भामह, रुद्रट तथा परवर्ती मम्मट आदि भी शब्दार्थ-साहित्य को ही काव्य मानते है। भामह से ही वक्रोक्ति को लेकर प्रस्थान का स्वरूप देने वाले कुन्तक भामह के ही काव्य-लक्षण को भी स्वीकार करते है। किन्तु यह विवेचन इतना सरस, मनोहारी, विशद तथा सुस्पष्ट हो गया है कि प्रयास करने पर भी

संस्कृत काव्यशास्त्र का कोई भी आचार्य वहाँ तक नही पहुँच पाया है। उनके अनुसार सहृदय-हृदयहारी, वक्रकविव्यापारशोभित, बन्ध मे व्यवस्थित सम्मिलित शब्द और अर्थ ही काव्यपदवी के भागी होते है।

शब्द-अर्थ :—वाचक शब्द तथा वाच्य अर्थ सम्मिलित ही दोनो काव्य कहे जाते है। इसलिये कविकौशलकल्पित अतिशय कमनीय शब्द को ही काव्य मानने वाले या रचना मे वैचित्र्य का आधान करने वाले अर्थ को ही काव्य मानने वाले लोगो के मत का निरास हो जाता है। जैसे प्रतितिल मे तैल होता है, वैसे ही शब्द-अर्थ दोनो मे ही काव्यमर्मज्ञ को आह्लाद करने की शक्ति होती है। अर्थात् दोनो मे सम्भूत काव्यकारिता पायी जाती है। काव्य मे शब्द तथा अर्थ दोनो को वक्रत्व-विच्छित्ति से विभूषित होना चाहिए। रचना मे वस्तु मात्र का विन्यास तो हो किन्तु शब्द मे वाचकवक्रताविच्छित्ति का अभाव हो तो कुन्तक ऐसे शब्द को काव्य के लिए उपयोगी नही मानते। अतएव—'न शब्दस्यैव रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वम्, नाप्यर्थस्य।' इसलिये—'शब्दार्थौ द्वौ सम्मिलितौ काव्यम्।'

साहित्य :—शब्द और अर्थ काव्य हो सकते है। किन्तु हो सकता है कि, कही शब्द कुछ कम वैचित्र्यपूर्ण हो अर्थ अधिक या अर्थ मे अधिक सौन्दर्य हो शब्द मे कम। तो क्या ऐसे मे भी काव्यपद व्यवहृत हो सकता है? इसी के लिये तो कारिका मे शब्दार्थौ का सहितौ विशेषण दिया गया है। सहितौ का अर्थ है सहभाव, साहित्य-पूर्वक अवस्थित शब्दार्थ ही काव्य हो सकते है। शब्द और अर्थ का साहित्यविरह तो होता नही, क्योकि इनमे वाच्यवाचक सम्बन्ध होता ही है। फिर सहितौ की क्या आवश्यकता? वस्तुतः यथार्थ तो यही है, किन्तु साहित्य से यहाँ शब्दार्थ का विशिष्ट ही साहित्य अभीष्ट है। उस साहित्य का अर्थ है वक्रविच्छित्तिविशिष्ट गुण तथा अलङ्कार-विभूति का परस्पर स्पर्धित्व। एक-दूसरे से होड। परस्पर स्पर्धिता का अर्थ है शब्द का दूसरे शब्द से तथा अर्थ का अन्य अर्थ से। और ऐसा परस्पर स्पर्धित्व शब्दार्थ साहित्य ही काव्य मे अभिप्रेत है। कुन्तक ने वृत्तिभाग से शब्दार्थ साहित्य काव्य का सामान्य लक्षण प्रस्तुत करने के अनन्तर विशेष लक्षण देने का प्रयास भी किया है। उसी क्रम मे उन्होने साहित्य-कारिका-८-९ की व्याख्या प्रस्तुत की है। तदनुसार-यद्यपि वाचक को शब्द तथा वाच्य को अर्थ कहा जाता है, यह प्रसिद्ध है किन्तु काव्यमार्ग मे, अलौकिक कविकर्म मे इनका कोई अपूर्व ही तत्त्व है, परमार्थ है। सहस्रो शब्दों के रहते भी समुचित समस्त सामग्री समन्वित विवक्षित अर्थ का अभिधायक शब्द ही वास्तव में अपनी वाचकता की सिद्धि कर पाता है। कविगण जिस विशिष्ट अर्थ को प्रस्तुत करना चाहते है, उस विशेष के अभिधायक शब्द का ही चुनाव करते है। वस्तुतः कविविवक्षित विशेष अर्थ की अभिधान की क्षमता रखना ही वाचकता है। जिससे रचनाकाल में प्रतिभा मे किसी अपूर्व सौन्दर्य से समुल्लसित पदार्थ प्रस्तुत प्रकरण के उपयुक्त अकथनीय अपूर्व स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं। और इस प्रकार प्रस्तुत कर दिये जाते हैं

कि सहृदय मन चमत्कृत हो उठता है। इसी प्रकार काव्य मे वाच्य, द्योत्य या व्यंग्य सभी अर्थ, क्योकि कुन्तक द्योत्य, व्यग्य अर्थ को भी वाच्य ही मानते है, ऐसे होने चाहिए जो काव्यज्ञ को आनन्द प्रदान करने वाले अपने स्वभाव से मनोहारी हो। सहृदयहृदयाह्लादक अर्थ ही अर्थ है।

कुन्तक शब्दार्थ-साहित्य की मात्र इतनी ही व्याख्या से सन्तुष्ट नही है। पुनः १६वी कारिका से उन्होने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि शब्दार्थ सदैव सहित ही प्रतीति पथ मे आते है, यह निसर्गसिद्ध सिद्धान्त है। किन्तु काव्य मे वाच्य-वाचक के शाश्वत साहित्य का निबन्धन नही होता, अन्यथा बैलगाडी के हॉकने वाले गाड़ीवानो का उक्तियो को भी साहित्य कह देना पड़ेगा। यही नही व्याकरण, मीमासा, न्याय आदि शास्त्रो मे भी साहित्य पद प्रयुक्त होने लगेगा। बात तो यह है कि इस असीम काव्यमार्ग मे अब तक तो साहित्य शब्द का प्रयोग होता अवश्य रहा है किन्तु कवि-कर्मकौशल की चरम सीमा पर अध्यारूढ़ इस साहित्य का 'परमार्थ यही है' ऐसा कोई भी विद्वान् समझ नही सका। अतएव अब मै कुन्तक सरस्वती-हृदयारविन्द-मकरन्दबिन्दुसमूह से सुन्दर सत्कविवाणी मे वर्तमान आमोद से मनोहारी प्रकाशमान इस 'साहित्य' का सहृदय भ्रमरो को साक्षात्कार कराने जा रहा हूँ। शब्द और अर्थ दोनो की परस्पर स्पर्धारूप रमणीय, न किसी का उत्कर्ष न् निकर्षरूप अपूर्व ही साहित्य यहाँ विवक्षित है। और यह परस्परस्पर्धित्व साहित्य सहृदयहृदयाह्लादकारी सौन्दर्यश्लाघिता को समर्पित होता है। इसलिये—'एतयोः शब्दार्थयोः यथास्वं यस्या स्वसम्पत्सामग्रीसमुदायः सहृदय हृदयाह्लादकारी परस्परस्पर्धया परिस्फुरति सा काचिदेव वाक्यविन्याससम्वत् साहित्यव्यपदेशभाग् भवति।' और इन शब्दार्थों की स्थिति परस्पर दो मित्रो की है—

"समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव सङ्गतौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा॥"

कुन्तक के अनुसार काव्य की परिभाषा तब तक पूर्ण नही मानी जा सकती जब तक यह शब्दार्थ का साहित्य बन्ध-रचना मे अवस्थित न हो। अन्यथा एक पद मे भी काव्यत्व प्रसक्त हो जायगा। बन्ध का अर्थ है वाक्य-विन्यास, रचना और उस रचना मे लावण्य गुण अलङ्कार से सुशोभित सन्निवेश से विशिष्टतया अवस्थित किये गये ही शब्दार्थ-साहित्य को काव्य कहा जा सकता है। यह बन्ध या वाक्य-रचना भी ऐसी-वैसी नहीं होनी चाहिए। काव्यमर्मज्ञ को आनन्दित करने वाले बन्ध मे व्यवस्थित ही शब्दार्थ-साहित्य मे काव्यपद प्रसक्त हो सकता है। अन्य विशेषता बन्ध की है कि बन्ध को शास्त्रप्रसिद्ध शब्दार्थनिबन्धन से व्यतिरिक्त षट् प्रकार की वक्रता से विशिष्ट कविकर्म से श्लाघनीय होना चाहिए। इस प्रकार कुन्तक की काव्य-परिभाषा बनती है—'काव्य-मर्मज्ञ के हृदय को आह्लादित करने वाले शास्त्रातिरिक्त शब्दार्थनिबन्धन वक्रता-विशिष्ट कविकर्म से श्लाध्य वाक्य मे लावण्यादि गुणालङ्कारसुशोभित सन्निवेशपूर्वक अवस्थित परस्परस्पर्धितया सहभाव प्राप्त शब्द-अर्थ ही काव्य कहे जाते हैं।'

वक्रोक्ति का स्वरूप—काव्य-लक्षण मे कुन्तक ने शब्दार्थ-साहित्य को वाक्य मे व्यवस्थित होना चाहिए, यह बताकर दूसरी शर्त भी लगा दी कि वाक्य को वक्रकविव्यापार से श्लाघ्य होना चाहिए। वक्रता है क्या? की व्याख्या १० वी कारिका मे उन्होने प्रस्तुत की है। शब्द और अर्थ दोनो ही अलङ्कार्य हैं, किन्तु इनका अलङ्कार वक्रोक्ति ही है। वक्रोक्ति कहते है विदग्धभङ्गीभणिति को—

उभावेतावलङ्कार्यौं तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥१०॥

वक्रोक्ति की व्याख्या कुन्तक ने भिन्न-भिन्न स्थलो पर भिन्न-भिन्न पदो मे की है। कारिका मे कहा—(१) वैदग्ध्यभङ्गीभणिति ही वक्रोक्ति है। पुनः वृत्ति मे कहते है—(२) प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा ही वक्रोक्ति है। पुनः कारिकाश की व्याख्या मे कहते है—(३) वैदग्ध्य-विदग्धभाव यानी कविकर्मकौशल, उसकी भङ्गी माने विच्छित्ति, तत्पूर्वक भणिति कथन, विचित्र ही अभिधावक्रोक्ति कही जाती है। (४) अन्यत्र कहते है—शास्त्रादि से प्रसिद्ध शब्दार्थ-निबन्धन से व्यतिरिक्त षट् प्रकार वक्रताविशिष्ट कविव्यापार ही वक्रोक्ति है। (५) प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरेकी और (६) अतिक्रान्त प्रसिद्ध व्यवहारसरणि शब्द का भी वक्रता के लिए कुन्तक ने प्रयोग किया है। उन्हीं की शब्दावलियो मे—(१) शास्त्रादिप्रसिद्ध शब्दार्थोपनिबन्ध व्यतिरेकी, (२) प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरेकी, (३) अतिक्रान्त प्रसिद्ध व्यवहारसरणि, (४) वैदग्ध्यभङ्गी-भणिति, (५) प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा, (६) विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते। सभी का सार है—सामान्य कथन से विशिष्ट विचित्र ही अभिधा, वक्रोक्ति है। यह विचित्र अभिधा निष्पन्न होती है कविकर्म की निपुणता से और उस निपुणता से ही इसमे विच्छित्ति का आधान होता है। इसी को कुन्तक के दूसरे शब्दो मे पुनः कह सकते है—वक्रवैचित्र्यकथन। इसी वक्रता मे ध्वनिकार का समस्त ध्वनिप्रपञ्च तथा प्राचीनो का गुणालङ्कार समाहित है। यह विचित्र अभिधाद्योत्य व्यङ्ग्य सभी सौन्दर्य को अपने साम्राज्य मे समेट लेती है। इसीलिये तो इसका नाम है विचित्र अभिधा। बावजूद इसके कुन्तक की दृष्टि मे है यह अलङ्कार ही। शब्दार्थ है अलङ्कार्य। अलङ्कार्य को अलंकृत करने के लिए उससे व्यतिरिक्त किसी अन्य साधन को होना चाहिए। और वह अलङ्कार या साधन है वक्रोक्ति। किन्तु यह अलङ्कार कही से लाकर जोडा नही जाता प्रत्युत् वक्रत्ववैचित्र्य-पूर्वक इनका अभिधान ही अलङ्कार है। इसीलिये कुन्तक कहते हैं कि काव्य का अलङ्कार से योग नही होता जैसा कि लोक मे कटक केयूर आदि का देखा जाता है। बल्कि काव्य अलकृत होता ही है। कुन्तक के काव्यलक्षण और वक्रता को देखा गया। कुन्तक के काव्यलक्षण से मिलते-जुलते कुछ पाश्चात्य काव्यलक्षण देखे। कॉलरिज ने अभिव्यक्ति को प्रधान मानते हुए कहा है—'कविता उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम विधान है—'Poetry is the best words in the best order.'।

शैली ने कविता को महान् सत्य की अभिव्यक्ति बताया है। ज़े० डेनिस ने का मत है, 'करुण तथा असंख्य शब्दो के माध्यम प्रकृति का अनुकरण ही काव्य है।' ले० हण्ट लिखता है, 'सत्य, सौन्दर्य तथा शक्ति के तीव्र भाषा की अभिव्यक्ति ही कविता है।' हेजलिट ने 'कविता को कल्पना की भाषा कहा है।' इन कतिपय पाश्चात्यो की दृष्टि पर विचार किया जाय तो स्पष्टतः ये सभी अभिव्यक्तिवादी प्रतीत होते है। कुन्तक से इन विचारो का इतना ही साम्य हो सकता है कि कुन्तक भी अभिधावादी है। शब्दार्थ-साहित्य के विषय मे टी० एस० इलियट का यह कथन कुछ सीमा तक लागू हो सकता है—'The music of poetry is not something which exists apart from its meaning.'। अधिक समीप है ब्रैडले की यह उक्ति, 'In poetry the meaning and the sounds are one', किन्तु ब्रैडले यह भी कहता है कि सौन्दर्य पूर्णतया अर्थ मे ही निहित रहता है। इसके विपरीत सेण्टबरी का कथन है, 'शब्द का अपना ही सौन्दर्य है और यह अर्थ से बिलकुल स्वतन्त्र होता है'। इस प्रकार कुन्तक का सिद्धान्त पाश्चात्य समीक्षको के सिद्धान्त के काफी समीप है। श्री कृष्ण चैतन्य ने इस दिशा मे डी० थामस को कुन्तक के सर्वाधिक समीप माना है।

स्वभावोक्ति की अलंकारता का निराकरण :—शब्दार्थ-साहित्य की विवेचना मे क्रमिक विवेचन छूट गया और आगे की कारिकाओ के सार भी आ गये। पुनः प्रकृत क्रम पर आते है। भामह ने वक्रोक्ति को सर्वालङ्कार सामान्य माना था। दण्डी ने उसके मूल मे न केवल श्लेष को मानकर उसके सम्मान को धक्का ही दिया बल्कि स्वभावोक्ति, जिसे भामह स्वीकार करने को उद्यत नही दीखते, को उन्होंने वाङ्मय-विभाजन का एक आधार मानकर आद्यालङ्कृति का समर्थन भी दे दिया। कुन्तक को यह कैसे सह्य हो सकता है? स्वभावोक्ति बहुत ही रमणीय ही क्यों न हो किन्तु वह अलङ्कृति नही बन सकती। पदार्थ का स्वभाव ही तो वर्ण्य होता है। वह काव्यशरीरकल्प है। यदि वही अलकार हो जायगा तो अलंकार्य क्या शेष रहा? अतएव जो अलंकार मानते हैं वे है सुकुमार मन। भोले-भोले। विवेकपूर्वक विचार से डरने वाले। अभी इसके पूर्व तो आपने सालकार वाक्य को काव्य कहा था? तो वाक्य ही अलकार्य हुए, स्वभाव नही? वस्तुतः वह विवेचन तो विभाग के लिए, पृथक्करण के लिए था। स्वभाव से व्यतिरिक्त तो कुछ कहा ही नही जा सकता, क्योकि ऐसा होने पर वस्तु शशविषाण आदि के समान असत्कल्प हो जायगी। स्वभाव ही तो वस्तु का शरीर है, यदि वही अलंकार हो जायगा तो वह अलंकृत किसे करेगा। अपने को ही अलकृत करेगा? शरीर अपने ही शरीर पर नही आरूढ हो पाता। अतः स्वभावोक्ति अलंकार नही हो सकती और यदि स्वभावोक्ति को अलंकार मान ही लेंगे तो अन्य अलंकारो के विन्यास की स्थिति मे दो ही बाते हो सकेंगी। या तो उन दोनों का भेद एकदम स्पष्ट रहेगा या अस्पष्ट। स्पष्ट होने की दशा में परस्पर निरपेक्ष होने से काव्य मे सर्वत्र संसृष्टि अलकार का प्रश्न खडा हो जायगा और अस्पष्ट होने पर सङ्कर। फिर तो अन्य उपमादि अलंकारों को अवकाश ही न मिल

पायेगा। इस प्रकार उनका लक्षण करना भी व्यर्थ हो जायगा। यदि मान ले कि इन्ही संसृष्टि-सङ्कर दो अलंकारो से ही काम चल जायगा ? ता यह कथन ही व्यर्थ है। क्योकि अन्य अलंकार स्वतन्त्रतया सभी को मान्य होते हैं। विवेचित भी है। तथ्य तो यह है कि समस्त पदार्थजात का स्वभाव ही सहृदयाह्लादकारी होने से काव्यशरीर माना जाता है। वही वर्णनीय होता है। वही शोभातिशयकारी किसी अपूर्व अलंकार से सुशोभित किया जाता है। अतः स्वभावोक्ति अलकार नहीं हो सकती। यहाँ कुन्तक की इस मान्यता को स्वीकार करते हुए भी कुन्तक-विवेचित स्वभावोक्ति विषयक विवेचन को ध्यान मे रखे तो स्वभावोक्ति की अलकारता का यथार्थ स्पष्ट हो जायगा। इस प्रकार ११–१५ कारिकाओ में ग्रन्थकार ने स्वभावोक्ति की अलकारता का निराकरण किया है। १६-१७ कारिकाएँ 'साहित्य' से ही सम्बन्ध रखती है।

वक्रता के भेद:—१८ वी कारिका मे कुन्तक ने बताया है कि प्रसिद्ध प्रस्थान-व्यतिरेकी काव्यक्रियारूप कविकर्म निष्पन्न वक्रता के प्रधानत छ भेद ही होते है। उनके भी अनेक अवान्तर भेद हो सकते हैं। पुन. १९ वी कारिका मे उन्होने प्रथम तीन भेदो—(१) वर्ण-विन्यास-वक्रता, (२) पदपूर्वार्द्धवक्रता तथा (३) पदपरार्धवक्रता का उल्लेख किया है। २० वी कारिका मे उन्होने वक्रता के ४थे प्रकारवाक्य-वक्रता का निर्देश किया है जिसमे समग्र अलकारवर्ग समाहित हो जाते हैं। २१ वीं कारिका से (५) प्रकरण (६) तथा प्रबन्धवक्रता का उल्लेख कर बताया है कि प्रकरण तथा प्रबन्धवक्रता सहज तथा आहार्य से उपार्जित रमणीयता से मनोहारी होती है। प्रकरण तथा प्रबन्धगत वक्रता वस्तु से सम्बद्ध है, जिनका पर्यवसान 'रामादिवद्वर्तितव्यम् न रावणादिवत्' तथा विनय-व्यवहार आदि की शिक्षा मे होता है।

प्रथम उन्मेप मे कुन्तक ने इन वक्रताओ का संक्षेप मे दिग्दर्शन मात्र कराया है, विस्तारपूर्वक विवेचन द्वितीय उन्मेष मे है। वर्णविन्यासवक्रता के विपय मे कुन्तक का स्वयं कथन है—'एतदेव वर्णविन्यासवक्रत्व चिरन्तनेष्वनुप्रास इति प्रसिद्धम्।' पदपूर्वार्धवक्रता के विवेचन मे उन्होने सुबन्त, तिङन्तरूप पद के पूर्वार्द्ध प्रातिपदिक तथा धातु की वक्रता का विवेचन प्रस्तुत किया है। इसके अवान्तर भेदो मे रूढि-वक्रता, पर्यायवक्रता, उपचारवक्रता, विशेपणवक्रता, सन्वृतिवक्रता, वृत्तिवैचित्र्यवक्रता, लिङ्गवक्रता, क्रियावैचित्र्यवक्रता का प्रथम उन्मेष मे कतिपय अवान्तर वक्रतापुरस्सर विवेचन किया गया है। पदपरार्धवक्रता प्रत्ययाश्रित होती है। प्रत्यय भी सुप् तथा तिङ् से जुड़ते है। प्रथम उन्मेष मे इसके केवल तीन भेद—संख्या, कारक तथा पुरुषवैचित्र्यवक्रता का विवेचन है। कविप्रतिभा के आनन्त्य से अलंकारो का भी आनन्त्य सम्भव है। अतः वाक्यवक्रता मे समग्र उपमादि अलकारवर्ग समाहित हो जाते है। प्रकरण तथा प्रबन्धवक्रता का निर्देश पूर्व की पक्तियो मे किया जा चुका है।

बन्ध:—पहले काव्यलक्षण मे 'बन्ध' पद का प्रयोग आ चुका है। 'बन्ध' की व्याख्या कुन्तक ने २२ वी कारिका मे दी है। शब्द तथा अर्थ के लावण्य तथा

सौभाग्यगुण का परिपोषक, काव्यक्रियारूप वाक्य का विशिष्ट विन्यास ही बन्ध कहा जाता है। कह सकते है गुणालंकृत-वाक्यविन्यास ही बन्ध है।

तद्विदाह्लादकता :—काव्यलक्षण मे बन्ध के विशेषण के रूप मे 'तद्विदाह्लादकारिणि' पद का प्रयोग किया गया है। अतएव कुन्तक ने २३ वी कारिका मे इस पद की व्याख्या भी दे दी है। तदनुसार 'तद्विदाह्लादकारिता' का अर्थ है वाच्य, वाचक तथा वक्रोक्ति इन तीनो के स्वरूप से अतिरिक्त अर्थात् लोकोत्तर तथा सहृदय-हृदयसंवेद्य अनिर्वचनीय रञ्जकता से जायमान रमणीयता।

मार्ग :—कवियो के प्रसान के हेतु, काव्य क्रिया के कारण को मार्ग कहते है। ये मार्ग तीन ही होते है। न अधिक, न कम। और वे है—(१) सुकुमार, (२) विचित्र तथा (३) उभयात्मक मध्यम मार्ग। २४ वी कारिका मे मार्ग के त्रिधा विभाग को बताकर कुन्तक ने वामन-दण्डी आदि के रीतिविषयक विवेचनों की आलोचना भी की है। ध्यान देने की बात है कि सस्कृत काव्यशास्त्र मे रीति या मार्ग पर्याय शब्द है। वामन ने वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली तीन रीतियॉ मानी हैं। और इनके नामो के विषय मे उन्होने बताया है, तत्तद्‌देश मे प्रचलित होने के कारण उनकी ये समाख्यायें या नाम प्रचलित है। दण्डी ने वैदर्भी-गौडी दो ही रीतियो का उल्लेख किया है। कुन्तक दोनो ही मतो के विरोधी है। उनके अनुसार रीति या मार्गों को देश की सीमा मे आबद्ध नही किया जा सकता। काव्य का भेद कविस्वभावभेद पर अवलम्बित है। कविस्वभाव, प्रतिभा या शक्ति को देशविशेष की सीमा मे आबद्ध नही किया जा सकता। अतएव देशविशेष के आधार पर रीति-मार्ग का नामकरण ठीक नही। वामन वैदर्भी को समग्रगुणोपेता मानकर रीतियो की उत्तमाधममध्यम कल्पना भी करते हैं। कुन्तक यहॉ भी विरोधी है, क्योकि वैदर्भी-समान सौन्दर्य अन्य मे न मिलने से उन रीतियो का विवेचन भी व्यर्थ हो जायगा। इसी प्रकार केवल दो ही रीति मानने मे कठिनाई यह है कि, कविस्वभावभेद से तो रीति-मार्ग अनन्त हो सकते है, किन्तु अनन्त सख्या तो अपरिमित हो जायगी। अतः नियमन आवश्यक है। सहजशक्तिसमन्वित कवि उसी प्रकार के सुकुमार काव्य का निर्माण करने में समर्थ होता है। इससे व्यतिरिक्त रमणीयताविशिष्ट विचित्र मार्ग होता है। तत्पथप्रवृत्त कवि उसी मे रचना करता है। रमणीय इन दोनो की छायानुप्राणित रमणीयताविशिष्ट उभयात्मक मध्यम मार्ग होता है। इन तीनो मे ही तद्विदाह्लादकारिता देखी जाती है, अतः ये ही तीन मार्ग स्वीकार्य हैं। मार्ग के ही सन्दर्भ मे कुन्तक ने—**प्रतिभा**—का भी विवेचन किया है। कुन्तक ने स्पष्टतः यहॉ काव्यहेतु के रूप मे प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को प्रस्तुत किया है। परन्तु कुन्तक ने यहॉ एक नयी और मनोवैज्ञानिक बात यह कही है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास ये तीनो ही कविस्वभाव पर अवलम्बित है। कविस्वभाव के अनुसार ही प्रतिभा तथा शक्ति का आविर्भाव होता है। और तदनुसार ही कवि का काव्यकर्म बनता है। इसीलिये

सुकुमार मार्ग को वह प्रतिभा का साम्राज्य मानते हैं। किन्तु यह मार्ग प्रतिभा के परिपाक का फल है। प्रतिभा के प्रथम प्रकाश मे बनता है विचित्र मार्ग और आहार्य-व्युत्पत्ति-अभ्यास से निर्मित होता है उभयात्मक मध्यममार्गानुसारी काव्य। मार्गो का स्वरूप तथा उनके गुणो का विवेचन भी बड़ा ही मनोहारी है।

सुकुमार मार्ग :—कालिदास प्रभृति महाकवि इसी मार्ग से अपनी यात्रा किये हैं। पुष्पित वनमार्ग से जैसे भ्रमरपंक्ति आगे बढती है, वैसे ही इस मार्ग के कवि मे भ्रमर समान सारसग्रह का व्यसन पाया जाता है। इसमे जो कुछ भी अलङ्कारादि वैचित्र्य पाया जाता है वह सारा का सारा प्रतिभा-समुद्भूत होता है, महज होता है, आहार्य नही। रचना की सुकुमारता सहृदय-हृदय को अनुरञ्जित करने की रसनीयता मे सराबोर रहती है। दोषवर्जित, प्राक्तनाद्यन परिपाक से प्रौढ अनिर्वचनीय कविशक्तिरूप प्रतिभा से स्वय समुल्लसित तद्विदाह्लादकारी अम्लान नूतन शब्द तथा अर्थ से यह मार्ग मनोहारी हो जाता है। अलङ्कार अयत्नज, स्वल्प तथा मनोहारी होते है। पदार्थों के स्वभाव की ही यहॉ प्रधानता पायी जाती है, जिससे आहार्य या व्युत्पत्ति-जनित कौशल फीका पड़ जाता है। यहॉ रसादि के परमार्थ को जानने वाले सहृदय का मनःसवाद पाया जाता है। सहृदय-हृदय मन सवादकारी मनोहर वाक्यो का विन्यास ही इसका माहात्म्य है। कवि का वैदग्ध्य यहॉ इतना बढा-चढा हुआ होता है कि यह कह पाना कि इसकी यही सीमा है बडा कठिन हो जाता है। मन मे ही उसकी सर्वोत्कृष्टता स्फुरित होती है। यहॉ कवि का कौशल विधाता की सर्गरचना के रमणीय ललनालावण्यादि के समान अकथनीय, विवेचना से परे होता है। इस मार्ग का लक्षणोदाहरणपुरस्सर विवेचन ग्रन्थ मे ही द्रष्टव्य है। कारिका २५–२९ तक इसका व्याख्यान है। इस मार्ग के माधुर्य, प्रसाद, लावण्य तथा आभिजात्य चार गुणों का विवेचन कुन्तक ने ३०–३३ वी कारिका मे प्रस्तुत किया है।

विचित्र मार्ग :—तलवार की धार के समान यह मार्ग अति दुःसञ्चारयोग्य है। कुछ विदग्ध कवि ही इस मार्ग से जा सके है। प्रतिभा के प्रथम प्रभात का यह मार्ग है। यहाँ शब्द-अर्थ दोनों मे वक्रता प्रस्फुटित-सी प्रतीत होती जान पडती है। एक अलङ्कार के विनिवेश से सन्तोष न हो पाने के कारण इसमे कविगण उसके अलङ्करणरूप दूसरे अलङ्कार का निबन्धन कर देते है। मणियॉ अपनी प्रभा से युवती के शरीर को ढॅक देती है किन्तु सुन्दरी ललना के शरीर को अपनी जगमगाहट से ढॅक देने वाले ये अलङ्कार उसकी शोभा ही होते है। अलंकार ही बनते है। वैसे ही अलङ्कार यहॉ इतना उद्रिक्त रहता है कि अलङ्कार्य को अपनी शोभा के साम्राज्य से दीप्तिमय करके प्रकाशित करता है। पुरानो भी वस्तु यहॉ भणितिवैदग्ध्यवशात् लोकोत्तर उत्कृष्टता को पहुँचा दी जाती है। इस मार्ग का कवि अपनी प्रतिभा के प्रसाद से वस्तु के अन्यथा रूप को हृदयहारी दूसरे रूप मे रूपान्तरित कर प्रस्तुत करने मे सक्षम होता है। यहॉ विवक्षित अनाख्येय वस्तु की प्रतीयमानता निबन्धित की जाती है, जिसमे

वाच्य-वाचक शक्ति का अभाव रहता है। अर्थात् वाक्यवक्रता के प्रतीयमान व्यापार का साम्राज्य यहाँ देखा जाता है। अलौकिक सहृदय-हृदयहारी कमनीय वैचित्र्य से उपबृंहित पदार्थों का स्वभावानुरूप रसनिर्भर अभिप्राय इस मार्ग मे निबन्धित होता है। अनिर्वचनीय अभिधा लोकोत्तर अतिशयोक्ति से भ्राजमान अन्तरवक्रोक्ति का वैचित्र्य ही इस मार्ग मे प्राण का काम करता है। ३४–४३, दस कारिकाओ के लम्बे लक्षण मे निबद्ध कुन्तक का विचित्र मार्ग सस्कृत काव्यशास्त्र मे न केवल लक्षण प्रत्युत् लक्षणान्तर्गत सामग्री के आधार पर बेजोड है। इसके पूर्वोक्त चार गुणो का ४४–४८ कारिकाओ मे विवेचन किया गया है। मार्गानुसार गुणो के स्वरूप मे भी यहाँ यथेष्ट अन्तर देखने को मिलेगा।

मध्यम मार्ग :—यह मार्ग सुकुमार तथा विचित्र दोनों के व्यवसनी कविगणो का मनोहारी काव्यपथ है जिसमे पूर्वोक्त दोनो मार्गों की विभूतियाँ समान रूप मे, परस्परस्पर्धितया प्रतिष्ठित होती है। वैचित्र्य तथा सुकुमार दोनो की शोभा यहाँ मिली-जुली होती है। इस प्रकार इसमे सहज तथा आहार्य उभयशक्तिजन्य शोभा का विलास देखने को मिलता है। पूर्वोक्त चार माधुर्य आदि गुण भी इसमे मध्यमवृत्ति अर्थात् उभयमार्गानुसारी गुणो की उभयात्मक छाया का आश्रय लेकर रचना मे कोई अनिर्वचनीय ही कान्ति का आविक्य ले आते है। अग्राम्य भूषा की कल्पना मे प्रवीण नागर लोगों के समान कमनीय कथा के व्यसनी कुछ आरोचकी वृत्ति वाले लोग ही उभयच्छायाच्छुरित इस मध्यम मार्ग के प्रति अनुराग रखते है। इन तीनो मार्गों के अन्त मे कुन्तक ने मार्गत्रितयगामी कवियो का नामसकीर्तन भी किया है—

१. कालिदास, सर्वसेन आदि महाकवियो के काव्य सहज तथा सौकुमार्य मार्ग की सुषमा से सवलित है।

२. विचित्र मार्ग के सौन्दर्य बाण के हर्षचरित मे प्रचुर मात्रा मे देखे जा सकते है। इसी प्रकार भवभूति, राजशेखर के ग्रन्थो तथा तथा अन्य मुक्तको मे भी यह मार्ग देखा जा सकता है।

३. सुकुमार-विचित्र उभयच्छायासवलित मध्यमार्ग के उदाहरण मातृगुप्त, मायुराज, मञ्जीर प्रभृति कवियो की रचनाओ मे देखे जा सकते है।

औचित्य :—भरत मुनि से लेकर क्षेमेन्द्र और अनन्तर अद्यावधि काव्य मे औचित्य को प्रमुख स्थान दिया गया है। तीनो मार्गो के नियत गुणो का विवेचन तो मार्गों के लक्षण-परिसर मे ही कर दिया गया है। तीनों मार्गों के सामान्य गुण के रूप मे औचित्य को ही प्राण माना है। जिस अभिधानवैचित्र्य से पदार्थ का उत्सर्ष सुस्पष्टतया परिपुष्ट हो जाता है, उचित अभिधान प्राण वह औचित्य ही काव्य मे विच्छित्ति का, मार्गानुसारी शोभा का आधान करता है। और जहाँ प्रमता या वक्ता की अभिधेय वस्तु शोभातिशयशाली स्वभाव से आच्छादित हो उठता है, वह भी औचित्य है। ५३–५४ वी कारिकाओ से मार्गत्रितय के सामान्य गुण औचित्यरूप

प्रथम का विवेचन कर कुन्तक उनके दूसरे सामान्य गुण सौभाग्य की ५५–५७ कारिकाओ मे चर्चा करते है ।

सौभाग्य :—कवि की प्रतिभाशक्ति जिसके लिये बडी सावधानी से काव्य-क्रिया मे व्यापृत होता है, उस वस्तु के अर्थात् काव्य के गुण का नाम है सौभाग्य । यह सौभाग्य-गुण केवल प्रतिभासाध्य ही नही है बल्कि उसके लिये व्युत्पत्ति-अभ्यास भी आवश्यक है । प्रतिभा-व्युत्पत्ति-अभ्यास समग्र सामग्री से सपाद्य, द्रवित-हृदय काव्यमर्मज्ञो मे अलौकिक, लोकोत्तर आनन्द का सर्जक काव्य का एक अद्वितीय प्राण, सौभाग्यगुण कहा जाता है। अलङ्कारादि से भ्राजिष्णु ये दोनों—औचित्य तथा सौभाग्य-गुण सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम तीनो मार्गों मे होकर पद, वाक्य तथा प्रबन्धो मे व्यापक रूप से प्रतिष्ठित देखे जाते है ।

इस प्रकार वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवन मानने वाले कुन्तक ने प्रथम उन्मेष मे काव्य-प्रयोजन, काव्यहेतु प्रतिभा आदि, काव्यस्वरूप, शब्दार्थस्वरूप तथा साहित्य, वक्रोक्तिस्वरूप, वक्रताभेद, मार्गत्रितय, उनके विशेष तथा सामान्य गुणो का यथावसर सङ्कोच विस्तारपूर्वक विवेचन कर अन्तिम कारिका ५८ वी से उन्मेष की समाप्ति करते है । इन तीनो मार्गों मे तीनो मार्ग पर तो कोई ही कवि जा सके है । और जाने वालो ने अपूर्व प्रतिष्ठा भी पायी है । यह मार्ग सभी से सेवनीय नही है । अब आगे मैं कुन्तक द्वितीय उन्मेष मे मार्गत्रितयावलम्बी पदन्यास-परिपाटी का सौन्दर्य कहूँगा ।

द्वितीय उन्मेष : १. वर्णविन्यासवक्रता—द्वितीय उन्मेष मे कुन्तक ने वक्रता के षड् भेदो मे प्रथम तीन भेदो का सविस्तार विवेचन किया है । वर्णविन्यास-वक्रता से इस उन्मेष का प्रारम्भ होता है । पूरे उन्मेष मे कुल ३५ कारिकाएँ है । सामान्य प्रयोग की विधि से व्यतिरिक्त रमणीयतया वर्णो के विन्यास मे वर्णविन्यासवक्रता होती है । वर्ण शब्द व्यञ्जन का पर्याय है । वर्णवक्रता के अनेक भेदो का विवेचन ग्रन्थ मे उपलब्ध है । एक, दो अथवा बहुत से व्यञ्जनो की आवृत्ति मे विनिबद्ध यह वक्रता प्रथमतः त्रिधा होती है । और यह आवृत्ति भी कभी तो व्यवधानपूर्वक होती है, कभी अव्यवधान से । कभी नियत स्थान तथा कभी अनियत स्थानयुक्त होती है। व्यवधान या अव्यवधान निबन्धन मे स्वरो के अव्यवधान आदि की विवक्षा नही होती । प्रथम कारिकोक्त त्रिधा आवृत्ति को अन्य त्रिभेद से उन्होने बताते हुए कहा है कि प्रस्तुत औचित्य के शोभावर्धक कादि से मकारपर्यन्त स्पर्श अपने वर्गान्त स्पर्शों से सयुक्त होकर आवृत्त होते है या कही तकार लकार-नकार आदि द्विरुच्चरित होकर आवृत्त होते है और कही इनसे व्यतिरिक्त व्यञ्जन रेफादि से सयुक्त होकर ही आवृत्त होते है । तृतीय कारिका मे स्वरो के असादृश्य मे अव्यवधानावृत्ति से यमकाभास निर्देश किया गया है । पूर्वावृत्त वृत्तो के परित्यागपूर्वक नूतन वर्णो की आवृत्ति समन्वित इस वर्ण-वक्रता मे अतिशय आसक्ति ग्राह्य नही है । अयत्नज आवृत्ति ही मनोहारी होती है । इस वक्रता का मार्गो के प्रोक्त प्रसाद आदि गुणों के अनुसार अक्षरो की कान्तिमती

आवृत्ति ही सौन्दर्य है। उद्भट प्रभृति इसे ही उपनागरिका आदि वृत्ति वैचित्र्य कहते है। वर्णविन्यासवक्रता के अनियतस्थानशोभी इन आवृत्तियो मे आचार्यो की समस्त अनुप्रासच्छटा विराजमान है। वर्णविन्यासवक्रता का ही अन्य प्रकार है यमक। जिसमे समान वर्णो की आवृत्ति होती है। इसका अर्थ है एक, दो या अनेक समान श्रुतिवर्णो की व्यवधान या अव्यवधानपूर्वक आवृत्ति इसमे पायी जाती है। एकरूप वर्णो की आवृत्ति होने पर उनके अर्थ यहॉ भिन्न होते है। अकठोर शब्द विरचित इसमे प्रसादगुण तथा औचित्य का परिपालन आवश्यक है। नियत पदादि के आदि, मध्य, अन्त मे, जैसा कि अन्य आचार्य यमक भेद मानते है, इसकी आवृत्ति पायी जाती है। अनन्त भेद हो सकते है, किन्तु उनमे वैसा सौन्दर्य न होने के कारण कुन्तक ने उन सबका विस्तार नहीं किया है। इस प्रकार अनुप्रास-यमक-शब्दालङ्कारो को कुन्तक ने वर्णविन्यासवक्रता मे समाहित कर लिया है। इसका सविस्तार विवेचन १–७ कारिकाओ मे है।

(२) **पदपूर्वार्द्धवक्रता :—**८ वी से २५ वी कारिका तक कुन्तक ने इस वक्रता का उदाहरण—भेद-प्रदर्शन-पुरस्सर विवेचन किया है। यहॉ प्रथम उन्मेष की अपेक्षा पॉच भेद अधिक प्रदर्शित किये गये है। प्रथम उन्मेष से केवल छ भेद प्रदर्शित है, यहॉ ग्यारह—

(१) रूढिचित्र्यवक्रता, (२) पर्यायवक्रता, (३) उपचारवक्रता, (४) विशेषणवक्रता, (५) सवृतिवक्रता, (६) कृदादिवक्रता, (७) आगमवक्रता, (८) वृत्ति वक्रता, (९) भाव-वक्रता, (१०) लिङ्गवक्रता तथा (११) क्रियावैचित्र्यवक्रता।

१. **रूढिवक्रता :—**वर्ण्यमान पदार्थ के लोकोत्तर तिरस्कार के प्रतिपादनार्थ या उसके श्लाघ्य उत्कर्ष के प्रतिपादन की इच्छा से कविगण जहॉ वाच्य रूढि शब्द के द्वारा असंभवनीय अभिप्राय की प्रतीति कराते है या पदार्थ मे वर्तमान किसी धर्म की अद्भुत महिमा प्रतीति का अभिप्राय प्रस्तुत करते है, वहॉ रूढि-वैचित्र्य-वक्रता होती है। कारिका ८-९ मे यह विवेचन है। इसके उदाहरण मे कुन्तक ने ध्वनिकार के अर्थान्तरसक्रमित वाच्यध्वनि के उदाहरण 'ताला जाअन्ति गुणा' इत्यादि को प्रस्तुत कर ध्वनिकार मुखेनैव कहा है—'ध्वनिकारेणैव व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभावोऽत्र सुतरा समर्थित।' इस वक्रता के दो भेद किये जाते है—(क) जहॉ किसी के द्वारा स्वयं ही अपने मे उत्कर्ष या निकर्ष का आधान करने के लिए कवि के द्वारा रूढिवाच्य अर्थ का उपनिबन्धन किया जाता है या (ख) जहॉ उसका कोई अन्य प्रतिपादक वक्ता होता है। यहॉ भी कुन्तक ध्वनिकारप्रदर्शित उदाहरणो को ही प्रस्तुत करते है। इस वक्रता मे प्रतीयमान अर्थ का बाहुल्य होता है। अतएव अनेको भेद हो सकते है—'एषा च रूढिवैचित्र्यवक्रता प्रतीयमानधर्मबाहुल्याद् बहुप्रकारा भिद्यते।' स्पष्टतः इस वक्रता से लक्षणामूला ध्वनि को गतार्थ किया गया है।

२. **पर्यायवक्रता :—**पर्यायप्रधान शब्द को पर्याय कहते हैं। जहॉ किसी वस्तु के अनेक पर्याय होने पर भी कविगण अतिशय वैचित्र्य की सर्जना के लिए किसी

विशेष पर्याय का ही उपादान करते है, वहाॅ यह वक्रविच्छित्ति पायी जाती है। इसके कई अवान्तर प्रकार उन्होने दिखाये है—

(१) पर्यायवक्रता का प्रथम प्रकार वहाॅ होता है जहाॅ वाच्य का अत्यन्त समीपी, होने के कारण कोई पर्याय विवक्षित वस्तु का जैसा प्रतिपादन कर लेता है. वैसा कोई अन्य पर्याय नही कर पाता।

(२) जहाॅ कोई विशिष्ट पर्याय सहजसौकुमार्य सुभग भी पदार्थ का अतिशय पोषक होने से सहृदय-हृदयहारिता को प्राप्त होता है।

(३) जहाॅ कोई विशिष्ट पर्याय अपने ही या अपने विशेषणभूत अन्य पद के द्वारा श्लेषादि की रमणीय छाया के स्पर्श से अभिधेय वस्तु को विभूषित करने मे समर्थ होता है। यही वक्रता शब्दशक्तिमूलानुरणनव्यङ्ग्यध्वनि के पद या वाक्यध्वनि का विषय होती है।

(४) वर्ण्यमान वस्तु की प्रकारान्तर से उल्लासकतया अवस्थिति रहने पर भी जो पर्याय अपनी कान्ति से सहृदय-हृदयाहारी बन जाता है।

(५) जिस कथन मे वर्ण्यमान वस्तु के असभवनीय अर्थ की योग्यता के अभिप्राय को जो पर्याय उसी तरह बनाकर प्रस्तुत करता है।

(६) जहाॅ कोई विशिष्ट पर्याय रूपकादि अलङ्कारो से अन्य शोभा को धारण हृदयानुरञ्जन करता है या जो उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारो मे अन्य ही शोभा का आधान कर देता है। इस प्रकार तीन कारिकाओ (१०-१२) तथा विस्तृत वृत्ति के माध्यम कुन्तक ने सविस्तार पर्यायवक्रत्व का विवेचन किया है।

३. उपचारवक्रता:—(क) उपचार प्रधान होने से इसे उपचारवक्रता कहते है। पदार्थ के लोकोत्तर सौन्दर्य का प्रतिपादन करने के लिए जहाॅ अतिशय भिन्न स्वभाववाले भी पदार्थो के धर्म का स्वल्प मात्र भी साम्य के आधार पर दूसरे पदार्थों पर अरोपित कर दिया जाता है, वहाॅ इस वक्रता की सहृदयहृदयहारिता बन जाती है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत यद्यपि एक-दूसरे से काफी दूर रहते है। यह दूरी देश-काल की न होकर उनके मूल स्वभाव की होती है। मूल स्वभाव से तात्पर्य है अमूर्त की अपेक्षा पदार्थ मूर्त या घनत्व की अपेक्षा द्रवत्व, अचेतनत्व की अपेक्षा चेतनत्व का अभिधान। (ख) उपचारवक्रता का दूसरा रूप है वह, जिसमे उपचारसौन्दर्य के मूल मे अवस्थित हो जाने के कारण रूपक आदि अलङ्कार सरस उल्लेखवाले बन जाते है। यह दूसरी उपचारवक्रता रूपक आदि अलङ्कारो का प्राण है। १३-१४ कारिकाओ मे इस वक्रता के सौन्दर्य का विवेचन उपलब्ध है। यहाॅ गौणी वृत्ति तथा रूपक आदि अलङ्कारो का आधार पाया जाता है।

४. विशेषणवक्रता:—विशेषणो की महिमा से जहाॅ क्रिया अथवा कारक-रूप वस्तु की रमणीयता फूट पड़ती है। तात्पर्य, पदार्थो के स्वभाव की सुकुमारता की समुल्लासकता तथा अलङ्कारो की शोभातिशय का परिपोषकत्व ही इसका सौन्दर्य है।

५. संवृतिवक्रताः—जहाँ पदार्थों के अभिधायी किन्हीं सर्वनाम आदि शब्दों के द्वारा उनका गोपन कर दिया जाता है। यह गोपन किया जाता है वैचित्र्य के अभिधान की इच्छा से। यह सवृतिप्रधान वक्रता अनेक रूपो मे प्रयुक्त होती है—

(१) साक्षात् शब्दो से प्रतिपादनार्ह अत्यन्त सुन्दर वस्तु भी जहाँ किसी सामान्य तद्वाची सर्वनाम के द्वारा सवृत कर दी जाती है केवल इसलिये कि उस साक्षात् प्रतिपादक शब्द से अभिधान होने पर कही उसका उत्कर्ष सीमित न हो जाय।

(२) अपने स्वभाव के उत्कर्ष की चरम सीमा पर अधिरूढ सातिशय वस्तु को कथन से परे है यह सिद्ध करने के लिए कविगण सर्वनाम से आच्छादित कर अन्य वाक्य से उसे प्रस्तुत करते है।

(३) अतिशय सुकुमार वस्तु, कार्यातिशय के अभिधान के बिना भी संवृति-मात्र की रमणीयता से चरम सीमा तक पहुँचा दी जाती है।

(४) अनुभवगम्य भी वस्तु वाणी से कहने योग्य नही है यह सिद्ध करने के लिए भी संवृति का सहारा लिया जाता है।

(५) दूसरे के अनुभवयोग्य वस्तु की वक्ता के कथन का अविषय सिद्ध करने के लिए संवृति कर दी जाती है।

(६) स्वभाव या कवि की विवक्षा से किसी दोष से उपहत वस्तु महापातक के समान वर्णनयोग्य नहीं है ऐसा बताने के लिए सर्वनाम आदि से उसका सवरण कर दिया जाता है।

इस संवृतिवक्रता के मूल मे भी व्यञ्जना विद्यमान है।

६. वृत्तिवक्रताः—व्याकरणप्रसिद्ध, समास, सुब्धातु, तद्धित आदि वृत्तियो की अपने सजातीय वृत्ति की अपेक्षा जहाँ अधिक रमणीयता स्फुरित होती है, वहाँ यह वक्रता पायी जाती है।

७. भाववक्रताः—भाव का अर्थ है क्रिया। साध्यरूप मे प्रस्तुत करने से भाव के द्वारा जहाँ वस्तु का दुर्बलतया परिपोष होने के कारण, उसकी अवज्ञा कर सिद्धरूप मे प्रस्तुत कर प्रकृतार्थ का परिपोप किया जाता है, वहाँ इस वक्रता की विच्छित्ति पायी जाती है।

८. लिङ्गवक्रताः—जहाँ भिन्न-भिन्न लिङ्गो की अनिर्वचनीय शोभा समुदित होती है वहाँ लिङ्गवैचित्र्यवक्रता का सौन्दर्य पाया जाता है। यह शोभा त्रिधा उदित होती है—

(१) भिन्न-भिन्न लिङ्गों के समान अधिकरणवर्ती होने से।

(२) 'स्त्री नाम ही रमणीय है' इस सिद्धान्त के कारण कविगण शोभानिर्माणार्थ अन्य लिङ्ग सम्भव होने पर भी स्त्रीलिङ्ग का ही प्रयोग कर देते है।

(३) अन्य लिङ्गो के सम्भव होने पर भी विशिष्ट शोभाधानहेतु, अर्थ के औचित्यानुसार किसी विशेष लिङ्ग का ही प्रयोग कर दिया जाता है। २१-२३ कारिकाएँ

द्रष्टव्य हैं। अब तक पदपूर्वार्द्धवक्रता के जो विवेचन किये गये वे प्रातिपदिक आश्रित थे। अब आगे धातु पर आश्रित इसी वक्रता प्रकार के भेद का उल्लेख किया जायेगा।

९. **क्रियावैचित्र्य वक्रताः**—क्रियावक्रता का मूल है धातु का वैचित्र्य। इसीलिये इसे क्रियावैचित्र्य अभिधान दिया गया है। इसके पॉच प्रकार कुन्तक ने बताये है—

(१) क्रिया का कर्ता की अत्यन्त अन्तरङ्ग अर्थात् सामीप्यतया निबन्धन।

(२) ऐसी क्रिया का निबन्धन जिसके कर्ता की अन्य कर्ता की अपेक्षा अधिक विचित्रता हो।

(३) क्रिया के अपने विशेषण का विचित्र भाव।

(४) उपचार अर्थात् सादृश्य आदि सम्बन्ध के आधार पर अन्य धर्म के अध्यारोप से जायमान वक्रता।

(५) प्रस्तुत औचित्य के अनुसार अतिशय प्रतीति के लिए सर्वनाम आदि के माध्यम कर्म आदि का संवरण कर क्रिया का प्रकाशन किया जाता है।

१०. **कृदादिवक्रता :**—कृदादि प्रत्यय पद के बीच मे आकर किसी अपूर्व वक्रता की सृष्टि कर देते है। यद्यपि यह वक्रता तथा आगे कही जाने वाली आगम-वक्रता, जिसे कुन्तक ने १७–१८ कारिकाओ मे निबद्ध किया है, कुन्तक के ही अनुसार प्रत्ययवक्रता के विषय है, तथापि प्रातिपदिक का विषय बन जाने, पदमध्य आने से तथा आचार्य विश्वेश्वर द्वारा इन्हे भी पदपूर्वार्द्धवक्रता के अन्तर्गत गिनने के कारण मैंने भी इन्हे इसी वक्रता के अन्तर्गत विवेचित किया है।

११. **आगमवक्रता :**—मुम् आदि के आगमो के सौन्दर्य से रमणीय किसी अपूर्व वक्रता की सृष्टि होती है, जिससे रचना की शोभा मे वृद्धि आ जाती है।

३. **पदपरार्द्धवक्रता :**—पद-प्रातिपदिक या धातु के पर मे जुडने वाले प्रत्ययों से जायमान वैचित्र्य को यहॉ यह अभिधान दिया गया है। इसके मूलत छः भेदों का क्रमिक दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

(१) **कालवक्रता :**—वर्ण्यमान वस्तु के औचित्य के अतिशय अन्तरङ्ग होने के कारण लडादि वाच्य काल प्रत्यय जहॉ रमणीयता को प्राप्त होते हैं।

(२) **कारकवक्रता :**—अनिर्वचनीय भङ्गीभणिति की रमणीयता का परिपोष करने के लिए कारण आदि मुख्य कारको के गौण भाव का संविधान करते हुए जहॉ कारक सामान्य का मुख्य कारक की अपेक्षा मुख्य भाव निबन्धित किया जाता है, इस प्रकार कारकों के विपर्यास मे कवि इस वैचित्र्य का निर्माण करता है। द्रष्टव्य है कारिकाएँ २७–२८।

(३) **संख्यावक्रता :**—काव्य-सौन्दर्य की विवक्षा से विवश कविगण जहॉ संख्या का विपर्यास–एक या द्विवचन के प्रयोग मे अन्य वचनों का प्रयोग–कर देते हैं, वहॉ संख्यावक्रता मानी जाती है। वचन विपर्यय ही इसके सौन्दर्य का कारण है।

(४) **पुरुषवक्रता :**—शोभासृष्टि के लिए जहॉ उत्तम-मध्यम-प्रथम आदि पुरुषो के स्थान पर विपर्यासपूर्वक उनका प्रयोग किया जाता है, वहॉ इस वक्रता का समुदय होता है।

(५) **उपग्रहवक्रता :**—धातुओं के आधार पर निर्धारित उनके पद-परस्मै तथा आत्मनेपद मे से जहॉं किसी एक पद आत्मने या परस्मैपद का ही कविगण शोभार्थ विनिबन्धन करते है, वहॉं भी क्रियावैचित्र्यवक्रोक्ति होती है।

(६) **प्रत्ययवक्रता :**—तिङादि प्रत्ययो से विहित अन्य प्रत्यय जहॉं किसी अपूर्व शोभा की सृष्टि करता है, वहॉं प्रत्ययवक्रता होती है। इस प्रकार पदवक्रता के पूर्वार्द्ध-परार्द्ध भेद से कुन्तक ने अनेक भेद बताये है। इनमे प्राय· ध्वनिवादी के सभी पद द्योत्य व्यङ्ग्यताओ का विनिवेश हो गया है।

उपसर्ग-निपातवक्रता :—उपसर्ग तथा निपात भी पद कहे जाते है। अविकारी होने से इनमे पूर्वार्द्ध-परार्द्ध की सगति नही बनती। अतएव कुन्तक ने इन्हे ३३ वी कारिका से पृथक्तया विवेचित किया है। जहॉं उपसर्ग तथा निपात रसादि को द्योतित करते है। यह वक्रता वाक्य का एक मात्र जीवन है। उन्मेष की समाप्ति के पूर्व कुन्तक ने ३४ वी कारिका से बताया है कि पूर्वोक्त वक्रताएँ वाक्यों मे एक साथ निबद्धमान होने पर परस्पर की अनेक प्रकार की छटा को उत्पन्न करती है। इस प्रकार द्वितीय उन्मेष मे त्रिविध वक्रता की व्याख्या कर कुन्तक ने विदग्धो से तदनुसार ही काव्यरचना का अग्रह करते हुए उन्मेष की समाप्ति कर दी है। सक्षिप्ततया प्रथम दो उन्मेषो का सार प्रस्तुत किया गया। सोदाहरण विवेचन विस्तारभय से सभव न हो सका। ग्रन्थ के तृतीय उन्मेष मे वाक्यवक्रता का, जिसके अन्तर्गत समस्त अलकार-वर्ग समाहित हो जाता है, विवेचन किया गया है। किन्तु यह विवेचन खण्डित तथा अपूर्ण-सा है। किन्तु है व्यापक। विषयसामग्री भी इसकी विपुल होने के साथ नूतन और मौलिक चिन्तन समलकृत है, जिसपर बाद मे विचार किया जायगा। चतुर्थ उन्मेष मे प्रकरण तथा प्रबन्धवक्रता के अवान्तर भेदोपभेदो का विवेचन है। जिसमे वस्तु, उसके संविभाग, रस, नाटक, मुखसन्ध्यादि का वितृस्त किन्तु खण्डित विवेचन है। इस पूरे पर पुन लिखा जायेगा।

भूमिका को अनतिविस्तार देने के लिए ही वक्रोक्तिकार के मूलसिद्धान्तो मात्र का यहॉं दिग्दर्शन कराया गया है। कुन्तक के सिद्धान्त पर पृथक् ग्रन्थ लिखकर ही उनका उचित सम्मान तथा सिद्धान्तो की समुचित व्याख्या की जा सकती है। समय मिलने पर इस ओर प्रयास अपेक्षित है। वक्रोक्तिजीवित के पूर्व के सभी संस्करणो का सहारा लिया गया है, उनके संपादको के प्रति मै विनम्र आभार प्रकट करता हूँ। त्रुटियॉं जो ग्रन्थ या अनुवाद मे रह गयी है मेरी तथा प्रूफ न देख पाने के कारण प्रेस-गत ही है, उनसे पूर्व के आचार्यो का कोई सम्बन्ध नही है। विश्वविद्यालय प्रकाशन के व्यवस्थापक श्री पुरुषोत्तम दास मोदीजी को कोटिशः साधुवाद जिनके सतत प्रयासो से ग्रन्थ प्रकाश मे आया है। शुभम्भूयात् ॥

वसन्त पञ्चमी, १९७७ ई०

—दशरथ द्विवेदी

वक्रोक्तिजीवितम्

•

रचनाकार के नाम मे 'ल' वर्ण जुड गया और उसका नाम कुन्तलक लिखा जाने लगा। डॉ० दे की वक्रोक्तिजीवित की पुष्पिका मे कुन्तलक नाम के पाठान्तर का यही कारण हो सकता है।

रचना की उपलब्धि तथा प्रकाशन :—कुन्तक की एकमात्र उपलब्ध कृति है 'वक्रोक्तिजीवित'। ग्रन्थ जितना ही महत्त्वपूर्ण है, उसके पाण्डुलिपि की उपलब्धि तथा प्रकाशन की गाथा भी उतनी ही दिलचस्प। प्रकृत सस्करण के अतिरिक्त इस महनीय ग्रन्थ के चार संस्करण प्रकाश मे आ चुके है। किन्तु सभी संस्करणो का आधार है डॉ० दे की सम्पादित वक्रोक्तिजीवित ही। और इस लुप्तप्राय ग्रन्थ को प्रकाश मे ले आने का समस्त श्रेय है डॉ० सुशीलकुमार दे को। डॉ० दे ने अपने सस्करण की भूमिका मे इस ग्रन्थ के पाण्डुलिपि की प्राप्ति तथा सम्पादन का विवरण प्रस्तुत किया है। उन्ही के कथन को यहॉ हिन्दी मे प्रस्तुत किया जा रहा है। ग्रन्थ के प्रथम दो सस्करणो का प्रकाशन तो डॉ० दे ने ही किया है। प्रथम सस्करण का सम्पादन उन्होने प्रो० जैकोबी के सहयोग से किया था। सर्वप्रथम १९२० ई० मे मद्रास की हस्तलिखित ग्रन्थो की राजकीय पुस्तकालय की सूची मे इस ग्रन्थ का नाम प्रकाश मे आया। उस समय श्री दे साहब 'इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी' लन्दन मे कार्य कर रहे थे। लाइब्रेरी के अध्यक्ष डॉ० एफ्० डब्ल्यू० थामस ने श्री दे का ध्यान इस ग्रन्थ की ओर आकृष्ट किया। पाण्डुलिपि को इण्डिया ऑफिस के माध्यम से ऋण-रूप मे प्राप्त करने के लिए उन्होने आवेदन कर दिया, किन्तु मद्रास लाइब्रेरी का वैसा नियम न होने के कारण उन्हे पाण्डुलिपि प्राप्त न हो सकी। डॉ० थामस के महत्त्वपूर्ण प्रयासो से मद्रास लाइब्रेरी के अध्यक्ष ने १९२० मे पाण्डुलिपि की एक प्रमाणित प्रतिलिपि डॉ० दे को लन्दन प्रेषित कर दी। पाण्डुलिपि एकदम अशुद्ध थी, प्रत्येक पंक्ति अशतः गायब थी। कुछ समय के लिए उन्होने इस कार्य को स्थगित कर दिया। यह जानकर कि डॉ० दे के पास इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की प्रति उपलब्ध है। प्रो० जैकोबी ने श्री दे महोदय को बॉन (जर्मनी) निमन्त्रित किया। वहॉ जाकर श्री दे महोदय ने प्रो० जैकोबी के साथ इसका अध्ययन किया। प्रो० साहब के एतद्विषयक अत्यन्त अनुराग से समुत्साहित श्री दे महोदय अपूर्ण भी सामग्री के सम्पादन की तैयारी मे लग गये और वह प्रथम दो उन्मेषो की शुद्ध तथा पठनीय मूलप्रति तैयार करने मे सफल हो गये। और जब ये दोनो विद्वान् तृतीय तथा चतुर्थ पर पहुँचे, तो इन लोगो ने पाण्डुलिपि की प्रति को अत्यन्त अशुद्ध पाया। अन्ततः एकदम निराश होकर इन लोगो ने कार्य को त्याग ही दिया।

भारत लौटने पर १९२२ मे श्री दे महोदय ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के माध्यम से पुन मूलप्रति को प्राप्त करने का प्रयास किया, पर इस प्रक्रिया मे भी सफलता की आशा उन्हे कम ही लग रही थी और स्वयं की उनकी स्थिति ऐसी नही थी कि मद्रास जाकर पाण्डुलिपि का निरीक्षण कर सकते। कलकत्ता विश्वविद्यालय

के तत्कालीन कुलपति सर आशुतोष मुखर्जी से श्री दे महोदय ने अपनी कठिनाई बताई। श्री मुखर्जी साहब ने बड़ी कृपापूर्वक महामहोपाध्याय प० अनन्तकृष्ण शास्त्री को अपने हाथ से एक नवीन प्रति तैयार करने के लिए नियुक्त कर दिया। मद्रास लाइब्रेरी के पं० रामकृष्ण कवि की सहायता से व्युत्पन्न पण्डित अनन्तकृष्ण द्वारा तैयार की गयी प्रति से दे महोदय को पहले तैयार की गयी प्रथम दो उन्मेषो की बहुत सारी अशुद्धियो को ही ठीक करने का मौका नही मिला प्रत्युत् प्रथम प्रति मे विलुप्त पॉच पृष्ठो को भी जोडने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। इस प्रकार इन दो प्रतिलिपियों के आधार पर १९२३ मे प्रथम दो उन्मेषो का महनीय प्रकाशन हो गया। श्री दे महोदय का यह पहला प्रकाशन था।

श्री कृष्ण कवि ने अपने मद्रास लाइब्रेरी की प्रति के सम्बन्ध मे श्री दे साहब को २५ फरवरी १९२५ को एक पत्र लिखा। मूल का हिन्दी अनुवाद है—'लन्दन मे आपको जो प्रति भेजो गयी थी, वह हमारे पुस्तकालय की मूलप्रति की सत्य प्रतिलिपि थी और जिससे लाइब्रेरी की प्रतिलिपि तैयार की गयी थी वह उस प्रथम मूलप्रति की भी प्रतिलिपि थी। मै समझता हूँ जितनी भी प्रतियॉ इस मूलप्रति से तैयार की जायेंगी सभी मे वे अशुद्धियॉ रहेगी ही। इस विषय मे मै यह भी कहना चाहता हूँ कि, पाण्डुलिपि के प्रतिभू इस ग्रन्थ का अपना सस्करण पॉच उन्मेषो मे छाप रहे है। (जैसलमेर के) इन अध्यापक महोदय ने ग्रन्थ को अनेक वार अपने शिष्यों को पढ़ाया है। उस समय पाण्डुलिपि अपनी शुद्धावस्था मे थी। पूरे ग्रन्थ को वह अपनी स्मरणशक्ति से पुनः यथाक्रम प्रस्तुत करने मे समर्थ है। उनका सस्करण बहुत शीघ्र प्रकाश मे आ जायगा, किन्तु यह समाचार किसी दूसरे संस्करण के महत्त्व को कम नही करता।' श्री कृष्ण कवि ने यह भी लिखा था कि मद्रास की उक्त पाण्डुलिपि जैसलमेर के एक अध्यापक महोदय की प्रति से तैयार की गयी थी। वह अध्यापक महोदय वही थे जिनका संकेत इस ऊपर के पत्र मे आया है। किन्तु उन अध्यापक महोदय का संस्करण अभी तक तो प्रकाश मे नही आ सका है। ओरियण्टल कान्फ्रेस का तीसरा अधिवेशन १९२४ मे मद्रास मे हुआ था। श्री दे महोदय को वहॉ एक सप्ताह से ऊपर रहने का अवसर मिल गया। उन्होंने पुस्तकालय की उस प्रति का निरीक्षण किया, जिससे उनकी प्रतिलिपि तैयार की गयी थी। पं० रामकृष्ण वहॉ नही थे। किन्तु लाइब्रेरी के पण्डितो ने उनके पत्रविषयक सूचना की पुष्टि की और उन्होंने बताया कि मूलप्रति मालावार के तटवर्ती किसी स्थान से प्राप्त की गयी थी। मद्रास की प्रति ने पं० रामकृष्ण के कथित प्रति पर कोई नया प्रकाश नही डाला। दुर्भाग्यवश यह पाण्डुलिपि भी अधूरी थी। चौथा उन्मेष इसमे कटा हुआ था। तीसरे मे भी काफी स्थान रिक्त थे, टूटे-फूटे थे। निश्चयतः नही जाना जा सका कि वास्तव मे ग्रन्थ मे कितने उन्मेष रहे। पण्डित रामकृष्ण के कथनानुसार पाँच उन्मेष होने चाहिए थे। किन्तु ग्रन्थ के प्रतिपाद्य से प्रतीत होता है कि वक्रता के अन्तिम भेद—प्रबन्धवक्रता—के विवेचन

के अनन्तर ग्रन्थ की परिसमाप्ति हो जानी चाहिए। चतुर्थ उन्मेष मे वक्रता के इस भेद का अधूरा रूप मिल पाता है। आशा नही की जा सकती कि उसकी पूर्ति के लिए लेखक ने पृथक् से एक पॉचवॉ उन्मेष ही लिख डाला होगा। दूसरी कोई सामग्री भी वर्ण्य नही रह जाती जिसके लिए अतिरिक्त उन्मेष की आवश्यकता पड़ती। अतएव ग्रन्थ चार उन्मेषो मे ही रहा होगा।

इसी बीच १९२३ मे जैन भण्डार जैसलमेर की पाण्डुलिपियो की सूची मे श्री सी० डी० दलाल द्वारा प्रकाशित (गायकवाड़ सीरीज न० २१, पृ० ६२-६३) ग्रन्थ की एक दूसरी पाण्डुलिपि का पता चला। श्री दे की ओर से ढाका विश्वविद्यालय के अधिकारियों द्वारा पाण्डुलिपि को उधार प्राप्त करने के सभी प्रयास विफल हो गये। जैन भण्डार पाण्डुलिपि को उधार देने मे बड़ा कठोर था। जैसलमेर दरबार तथा जैन भण्डार दोनो से किया गया प्रयास व्यर्थ हो गया। पश्चिमी राजपूताना के राज्यो के रेजीडेण्ट की बड़ी कृपा से, उनके प्रभाव से १९२६ मे ढाका विश्वविद्यालय के लिए एक प्रमाणित प्रतिलिपि प्राप्त हो पायी। इस नवीन तथा शुद्ध पाण्डुलिपि की खोज ने प्रथम दो तथा तृतीय उन्मेष के कुछ अंश को अधिक सन्तोषजनक रीति से सम्पादित करना सम्भव कर दिया।

दुर्भाग्यवश यह पाण्डुलिपि भी अधूरी सिद्ध हुई। इसमे प्रथम दो तथा तृतीय उन्मेष का करीब एकतिहाई भाग ही उपलब्ध था। इसलिये इसके दूसरे १९२८ के संस्करण मे उतना ही भाग शुद्ध रूप से प्रकाशित किया जा सका जितना दोनो पाण्डु-लिपियो मे उपलब्ध था। भ्रष्ट तथा टूटे-फूटे तृतीय और चतुर्थ उन्मेष के अवशिष्ट भाग को दे महोदय ने मद्रास की भ्रष्ट पाण्डुलिपि के सहारे जहॉ तक सम्भव हो सका है, वृत्ति तथा कारिका को अपनी बुद्धि के अनुसार जोड़-जाड़कर द्वितीय संस्करण में परिशिष्ट के रूप मे जोड़ देने का स्तुत्य प्रयास किया है। इसी के १९६१ के तृतीय संस्करण मे उन्होंने कुछ मामूली से सुधार और उपयोगार्ह सामग्री का योग कर दिया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ को जिस भी स्थिति में हो, प्रकाश मे ले आने के लिए समग्र संस्कृत-जगत् डॉ० दे का सदा-सदा के लिए कृतज्ञ है। क्योंकि ये तीनों संस्करण दे साहब के है, अतः इन तीनो को ही मैने एक संस्करण की संज्ञा दी है।

डॉ० दे के संस्करण के अनन्तर आचार्य विश्वेश्वर की व्याख्यानुवाद समेत डॉ० नगेन्द्र की भारी भूमिका समन्वित इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का दूसरा संस्करण १९५५ मे हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली की ओर से आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली—६ से प्रकाशित हुआ है। इस संस्करण मे आचार्य विश्वेश्वर ने न केवल सर्वप्रथम इसे हिन्दी अनुवाद से मण्डित किया प्रत्युत् अपनी विवेकाश्रित पद्धति से तृतीय-चतुर्थ उन्मेष को जोड़ने का प्रयास भी किया है। डॉ० नगेन्द्र की भूमिका पश्चिमी आलोक में वक्रोक्ति को देखने का अच्छा माध्यम है। इसका तीसरा संस्करण श्री राधेश्याम मिश्र की 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या समेत चौखम्बा

संस्कृत सीरीज, वाराणसी से १९६७ मे प्रकाशित हुआ है। इस सस्करण मे एक लघु किन्तु उचित हिन्दी भूमिका भी है। मिश्रजी ने आचार्य विश्वेश्वर की कतिपय भूलो की ओर भी दृष्टिपात किया है। कुन्तक की इस अमरकृति का चौथा सस्करण डॉ० के० कृष्णमूर्ति द्वारा प्रकाश मे लाया जा रहा है। 'अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन' के २८ वे अधिवेशन धारवाड के १०-१२ नवम्बर १९७६ के त्रिदिवसीय सम्मेलन मे भाग लेने का अवसर मिला। वहाँ डॉ० कृष्णमूर्ति के सम्पादन की जानकारी हुई। ग्रन्थ कर्नाटक विश्वविद्यालय धारवाड के प्रकाशन-विभाग से प्रकाशित हो चुका था। केवल बाइडिङ्ग शेष था। इस ग्रन्थ के तृतीय-चतुर्थ उन्मेषो मे डॉ० साहब के सस्करण का उपयोग किया जायेगा। इस प्रकार वक्रोक्तिजीवित के अब तक कुल चार सस्करण प्रकाश मे आ चुके है। यह पाँचवाँ सस्करण विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी के अनुग्रह से विद्वानो के हाथो मे है।

कुन्तक का समय :—(१) मार्गो के विवेचन मे कुन्तक ने सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम तीन मार्गो के उदाहणो को कालिदास, सर्वसेन, बाण, भवभूति, राजशेखर, मातृगुप्त, मायुराज, मञ्जीर आदि महाकवियो की रचनाओ से देखने का निर्देश किया है—

'मातृगुप्तमायुराजमञ्जीरप्रभृतीना सौकुमार्यवैचित्र्यसवलितपरिस्पन्दस्यन्दीनि काव्यानि सम्भवन्ति। तत्र मध्यममार्गसवलित स्वरूपं विचारणीयम्। एवं सहज-सौकुमार्यसुभगानि कालिदाससर्वसेनादीना काव्यानि दृश्यन्ते। तत्र सुकुमारमार्गस्वरूप चर्चनीयम्। तथैव च विचित्रवक्रत्वविजृम्भित हर्षचरिते प्राचुर्येण भट्टबाणस्य विभाव्यते, भवभूतिराजशेखरविरचितेषु बन्धसौन्दर्यसुभगेषु मुक्तकेषु परिदृश्यते।' व० जी०, कारिका ५२ की वृत्ति के अन्त मे। स्पष्ट है कि कुन्तक इन कवियो के परवर्ती है। इनमें कुन्तक के सबसे अधिक समीप राजशेखर आते है। राजशेखर का समय नवी शती का अन्तिम भाग तथा दशम शतक का प्रारम्भ माना जाता है। डॉ० दे प्रभृति विद्वानों ने यही सिद्ध किया है। अतः कुन्तक को कम से कम दशम शतक के मध्य अवस्थित माना जा सकता है। उपर्युक्त कवियो की रचनाओ से कुन्तक ने अनेक उद्धरण तो प्रस्तुत ही किये हैं, साथ ही उनके द्वारा उल्लिखित रचनाओ तथा रचनाकारो मे उद्भट, कालिदास, किरातार्जुनीय, कुमासम्भव, कृत्यारावण, छलितराम, तापसवत्सराज, दण्डी, ध्वनिकार, नागानन्द, पाण्डवाभ्युदय, पुष्पदूषितक, प्रतिमानिरुद्ध, बाल रामायण, भट्टबाण, भरत, भवभूति, भामह, मञ्जीर, महाभारत, मातृगुप्त, मायापुष्पक, मालतीमाधव, मुद्राराक्षस, मेघदूत, रघुवश, राजशेखर, रामचरित, रामानन्द, रामाभ्युदय, रामायण, रुद्रट, विक्रमोर्वशीयम्, वीरचरित, वेणीसहार, शाकुन्तल, शिशुपालवध, सर्वसेन, सेतुप्रबन्ध (नाटक), हयग्रीवध, हर्षचरित, उत्तररामचरित तथा उदात्तराघव आदि का नाम पाया जाता है।[1]

१. द्र०, काणे, स० का० इ० (हिन्दी स०) पृ०, २९३-४।

ध्यान देने योग्य है कि इसमे रामचरित का भी उल्लेख है। यह रामचरित अभिनन्द की अमरकृति है। डॉ० रामजीत मिश्र ने अपने शोध-प्रबन्ध मे अभिनन्द तथा राजशेखर को परस्पर मित्र मानकर उनका समय वही स्वीकार किया है जो ऊपर की पंक्तियो मे लिखा जा चुका है।[1] अतएव कुन्तक के समय की पूर्वसीमा राजशेखर से पूर्व नही रखी जा सकती। विस्तृत जानकारी के लिए डॉ० दे तथा श्री राधेश्याम मिश्र जी की भूमिका देखी जा सकती है। (२) कुन्तक ने ध्वनिकार आनन्दवर्धन का नाम उल्लेख न करते हुए भी ध्वनिकार के मत की अनेकत्र अवतारणा की है। आनन्दवर्धन की कारिका तथा रचना को भी उद्धृत किया है।[2] राजशेखर ने आनन्द-वर्द्धन का 'प्रतिभाव्युत्पत्त्योः प्रतिभाश्रेयसीत्यानन्दः' कहते हुए उल्लेख किया है, पर आश्चर्य कि है कुन्तक ने उनका उल्लेख नाम्ना नही किया। आनन्द के प्रति कुन्तक का गौरवभाव ही इसमे कारण हो सकता है। यही कारण है ध्वनि का वक्रोक्ति मे अन्तर्भाव करने पर भी कुन्तक ने उसका खण्डन करने का कही प्रयास नही किया है। ध्वनि, ध्वनिकार तथा उनकी युक्तियों का उल्लेख करने के कारण कुन्तक आनन्दवर्द्धन तथा राजशेखर से परवर्ती हैं तो दूसरी ओर उनके मत की चर्चा करने वाले आलङ्कारिको मे सर्वप्रथम महिमभट्ट को उदाहृत किया जा सकता है। परवर्ती महिमभट्ट, रुय्यक, जयरथ प्रभृति के द्वारा कुन्तक के मतो की पर्याप्त चर्चा की गयी है। किन्तु नाम तथा सिद्धान्त दोनो का उल्लेखकर सर्वप्रथम कुन्तक के विचारो का खण्डन करने वाले आचार्य महिमभट्ट ही है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, महिम ने अपने 'व्यक्तिविवेक' के २।२९ के अन्तर्गत—

'काव्यकञ्चनकशाश्ममानिना कुन्तकेन निजकाव्यलक्ष्मणि।
यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता श्लोक एष स निदर्शितो मया॥'

कहकर कुन्तक का नामोल्लेख करते हुए उनके मत को दूषित सिद्ध किया है। व्यक्तिविवेक पृ० १४२ (चौ० सस्करण) नाम न लेकर भी कुन्तक के मत का उन्होने पुन खण्डन किया है। महिमभट्ट को ११ वी शती के अन्त मे निर्धारित किया जाता है।[3] अतः कुन्तक को उनसे पूर्ववर्ती होना चाहिए। (३) महिमभट्ट ने लोचनकार अभिनवगुप्त के भी कतिपय अशो को शब्दशः लेकर उसका खण्डन किया है।[4] किन्तु लोचनकार ने कुन्तक का उल्लेख स्पष्ट शब्दो मे नही किया है। तथापि लिङ्गवक्रता विवेचन के कतिपय अंशों का लोचन के 'तटी तारं ताम्यति' इत्यत्र तट-शब्दस्य पुंस्त्वनपुंसकत्वे अनादृत्य स्त्रीत्वमेवाश्रितं सहृदयै—स्त्रीति नामापि मधुरम्,

१ द्रष्टव्य डॉ० रामजीत मिश्र, 'अभिनन्दकृत रामचरित का आलोचनात्मक अध्ययन, शोधप्रबन्ध, गो० वि० वि० १९६८, पृ० १९–२०।

२. आनन्दवर्द्धन के 'तदा जायन्ते गुणा'' इत्यादि 'विषमबाणलीला' के श्लोक तथा 'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे' ध्व० २।५ की कारिका को कुन्तकने व० जी० मे उद्धृत किया है।

३. द्र०, भूमिका, डॅा० दे०, पृ० १४ तथा श्री काणे, स० का० इ०, पृ० २९४, मिश्र, पृ० १०।

४. द्रष्टव्य, लोचन तथा व्यक्तिविवेक।

इतिकृत्वा' इत्यादि विवेचन पर तथा नाम, आख्यात, उपसर्ग आदि के विवेचन मे अभिनव-भारती के, 'विभक्तयः सुप्तिङन्तवचनानि तैः कारकशक्तयो लिङाद्युपग्रहाश्चोपलक्ष्यन्ते' यथा 'पाण्डिम्नि भग्नं वपुः' इत्यादि कथनो पर अन्त मे 'अन्यैरपि सुबादिवक्रता' उक्ति पर स्पष्टतः कुन्तक का प्रभाव मानकर कतिपय विद्वान् कुन्तक को अभिनव से भी पूर्व स्वीकार करते हैं।[१] वस्तुत इस पक्ष के तर्को मे यथेष्ट दम है। और जयरथ की यह उक्ति 'वक्रोक्तिजीवितहृदयदर्पणकारावपि ध्वनिकारानन्तरभाविनौ' कुन्तक को 'हृदयदर्पणकार' भट्टनायक का पूर्ववर्ती, या नही तो कम से कम समकालीन सिद्ध करने मे समर्थ तो है ही। अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के सिद्धान्त का खण्डन किया ही है। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय आदि ने अभिनवगुप्त को दशम शती के उत्तरार्द्ध मे रखने का प्रयास किया है।[२] इस प्रकार कुन्तक को राजशेखर तथा अभिनवगुप्त के बीच दशम शतक मे रखा जा सकता है।[३]

वक्रोक्ति, ग्रन्थ का प्रतिपाद्य :—भामह से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक वक्रोक्ति का स्थान संस्कृत काव्यशास्त्र मे अक्षुण्ण रहा है। और आज भी उस पर निरन्तर तर्क-वितर्क चलते ही है, चल रहे हैं। वक्रोक्ति की ऐतिहासिकता के लिए हम सर्वप्रथम महाकवि बाणभट्ट को ले सकते है। उन्होने वक्रोक्ति को काव्य के व्यापक तत्त्व के रूप मे प्रस्तुत किया है। कादम्बरी मे स्थल पर वक्रोक्ति निपुण शब्द का प्रयोग किया है। प्रसङ्गानुसार वहाँ वक्रोक्ति का भङ्गीविच्छित्ति अर्थ ही लेना उपयुक्त होगा। कविराज ने सुबन्धु, बाण तथा अपने को वक्रोक्ति मार्ग का आचार्य बताया है—

सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा॥ (राघवपाण्डवीय, १-४१)

काव्याचार्यों में सर्वप्रथम भामह ने ही वक्रोक्ति का विवेचन किया है। उन्होंने वक्रोक्ति को वाणी का उत्तम भूषण माना है।[४] उनका अभिप्राय है कि वक्र शब्द तथा अर्थ के अभिधान मे ही अलङ्कार की अलङ्कारता सिद्ध होती है। वक्रोक्ति का ही दूसरा पर्याय उन्होने अतिशयोक्ति को माना है। लोकातिक्रान्त, अलौकिक कवि-

---

१. डॉ० लाहिरी, डॉ० मुकर्जी, डॉ० दे, श्री मिश्र तथा डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी ने अपनी-अपनी कृतियो मे अभिनव को कुन्तक का समकालीन या परवर्ती सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसके विपरीत डॉ० शकरन् तथा डॉ० राघवन् यह स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं कि अभिनव पर कुन्तक का प्रभाव है। द्रष्टव्य, डॉ० दे की भूमिका, डॉ० मिश्र की भूमिका, पृ० ११–१४ तथा वहीं उद्धृत पाद-टिप्पणियो तथा काणे और दे हिस्ट्री तथा डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी का महिमभट्ट, पृ० ३५–६।

२. द्रष्टव्य, डॉ० के० सी० पाण्डेय, अभिनवगुप्त, स्वय अभिनव के कथन, भूमिका मिश्र की, पृ० १४ तथा दे एव काणे का इतिहास ग्रन्थ।

३. डॉ० दे की भूमिका, काणे का स० का० इ० तथा मिश्र और आचार्य विश्वेश्वर की भूमिका, चतुर्वेदीजी का महिमभट्ट द्रष्टव्य।

४. वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः। काव्यालङ्कार १.२६–३१॥

वाक् ही अतिशयोक्ति है। लोकोत्तरता का अर्थ यहाँ पण्डितराज जगन्नाथ के शब्दो मे लोकातिक्रान्त आह्लादरूप रमणीयता होता है—

'रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता' ॥ र० गं०, पृ०४ ॥

यह अतिशयोक्ति ही भामह की दृष्टि में वक्रोक्ति है। यही समग्र अलङ्कार वर्ग का प्राण है। सभी अलङ्कारो मे प्राणतया अवस्थित है। इसी से अर्थ का विभावन होता है। अतएव कवि को इसी की सिद्धि का प्रयास करना चाहिए। इसके अभाव मे कोई अलङ्कार-अलङ्कार हो ही नही सकता—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नाऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्काकरोऽनया विना। काव्या०, २।८५।

भामह का समर्थन करते हुए आनन्दवर्द्धन ने भी कहा है कि विषयौचित्यपूर्वक की गयी काव्य की अतिशययोगिता उत्कर्ष ले आती है—'कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती नोत्कर्ष मावहेत्' (ध्व०, पृ० ४९८,९९) और आगे इतना कहने के बाद ध्वनिकार ने भामह की उक्त कारिका को आचार्य का नामोल्लेखपूर्वक प्रस्तुत किया है। ध्वनिकार की उक्त पक्ति पर लोचनकार अभिनवगुप्त के भी विचार वही है— 'अतिशयोगिता कथ नोत्कर्षमावहेत्।—काव्ये लोकोत्तरे शोभोल्लसति।...भामहोऽतिशयोक्ति सर्वालङ्कारसामान्यरूपमवादीत्।... शब्दस्य च वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्।' (वही लोचन)। इस प्रकार लोचनकार की दृष्टि से भी काव्य मे अतिशययोग ही उत्कर्ष ले आता है। अतिशययोग से काव्य मे अलौकिक शोभा जुड जाती है। भामह ने अतिशयोक्ति को सर्वालङ्कार सामान्य तत्त्व कहा है। शब्द तथा अर्थ की वक्रता उनका लोकोत्तर रूप से काव्य मे विन्यास ही है। वस्तुत लोचनकार की 'विभाव्यते' की व्याख्या से तो यह भी अर्थ निकलता है कि वक्रोक्ति-अतिशयोक्ति मे ही, अलङ्कार-वस्तु-रस तीनो समाहित है। लोचन मे व्याख्या है—'अर्थः···विचित्रतया भाव्यते। तथा प्रमदोद्यानादिः विभावता नीयते। विशेषेण च भाव्यते रसमयी क्रियते, इति।' (लो०, पृ० ५००)। अर्थ विचित्रतया प्रतीत होता है, प्रमदा-उद्यान आदि विभावना को प्राप्त कराये जाते है, विशेष रूप से अर्थ भावित होता है, रसमय किया जाता है। यहाँ 'वैचित्र्य' पद अलङ्कार का, विभाव पद वस्तु का, रसमय तो रस का स्पष्ट बोधक है ही। कह सकते है भामह की वक्रोक्ति मे सम्पूर्ण ध्वनिवर्ग समाहित है। भले ही भामह ने इसे ध्वनिकार की शैली मे प्रस्तुत नही किया हो। और इसी आधार पर आचार्य कुन्तक द्वारा खडा किया वक्रोक्तिसिद्धान्त का भव्य प्रासाद अभिनव समर्थित है, यह भी माना जा सकता है। भामह ने वक्रोक्ति की महत्ता काव्यालङ्कार १।३०, ३६ तथा ५।६६ मे भी प्रतिपादित की है। वक्रता के अभाव मे उन्होने हेतु, सूक्ष्म तथा लेश जैसे अलङ्कारो को अमान्य सिद्ध कर दिया। वक्रोक्ति-विहीन काव्य उनकी दृष्टि मे वार्ता मात्र ही होता है। 'सूर्य अस्त हो रहा है', 'चन्द्र उदित हो रहा है', 'पक्षिगण नीड की ओर जा रहे है' इत्यादि स्वभाव

'उक्तियो मे कोई वैचित्र्य नही' वक्रोक्ति नही है, अलङ्कारता इनमे नही आ सकती। ये कथन मात्र है, वार्ता मात्र है। अतएव वक्रता के अभाव मे स्वभवोक्ति अलङ्कार नही हो सकता। इस प्रकार भामह की वक्रोक्ति जो अतिशयोक्ति अलङ्कार भी है, न केवल वह अलङ्कार है, प्रत्युत् अलङ्कार का सामान्य जीवातु विच्छित्ति का अपर पर्याय है। और क्योकि भामह की दृष्टि मे रस-वस्तु आदि सभी अलङ्कार है, अतः यह अतिशयोक्ति रस-वस्तु-अलङ्कार तीनो को समाहित करती है।

आगे चलकर दण्डी ने वक्रोक्ति की सीमा को कुछ सीमित-सा कर दिया। भामहनिषिद्ध स्वभावोक्ति को दण्डी ने न केवल अलङ्कार की मान्यता प्रदान की प्रत्युत् उसे प्रधान अलङ्कार 'आद्यालंकृति' मान लिया। क्योकि वह जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया-रूप नाना पदार्थो के रूपो को साक्षात् प्रकट करती है—

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च वक्रोक्तिश्चाद्यालंकृतिर्यथा॥ (काव्यादर्श, २।८)

यही नही उनके अनुसार शास्त्रो मे इसी का साम्राज्य है, और काव्यो मे भी इसी की योजना अपेक्षित है—'शास्त्रे स्वस्यैव साम्राज्यं काव्ये स्वप्येतदीप्सितम्।' इस प्रकार स्वभाव या जाति कथन से भिन्न इतर अलङ्कारो को दण्डी ने वक्रोक्ति के अन्तर्गत रखा है। उन्होने समस्त वाङ्मय को ही स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति दो भागो मे बॉट दिया है—

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिः वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥ (काव्यादर्श, २।२६२)

किन्तु श्लेष प्रायः सभी अलङ्कारो मे शोभा की सम्पुष्टि करता है। इस प्रकार दण्डी की दृष्टि मे वक्रोक्तिमूलक अलङ्कारों में श्लेष की प्रधानता रहती है। 'हृदयंगमा' टीका के अनुसार दण्डी के वक्रोक्ति से श्लेषसकीर्ण उपमादि अलङ्कारों का बोध होता है—'वक्रोक्तिशब्देन उपमादयः सकीर्णपर्यन्ता अलङ्कारा उच्यन्ते।' और अतिशयोक्ति के विवेचन मे उन्होने अतिशयोक्ति को ही अन्य अलङ्कारो का मूल भी स्वीकार किया है—'अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहु परायणम्' (वही २।२२०)। 'विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी' (वही २।२१४) अतिशयोक्ति के इस लक्षण को स्वीकार कर दण्डी ने लगभग अतिशयोक्ति का वही स्वरूप स्वीकार किया है जो भामह को अभिमत था। अतएव कहना पड़ेगा कि दण्डी वक्रोक्ति का स्वरूप, जो भामह सम्मत था, मानते तो है पर उसके मूल मे श्लेष को पोषक तत्त्व भी स्वीकार करते हैं और दूसरी ओर भामह अनभीप्सित स्वभाव कथन को वह काव्य मे उत्तम स्थान भी देते है। ध्यान देंने योग्य है कि श्लेष की अलङ्कारान्तर पोषकता के विषय मे उद्भट, इन्दुराज, मम्मट, रुय्यक आदि ने काफी विस्तार से विचार किया है। अत. प्राचीनो की दृष्टि मे श्लेष की व्यापकता को काफी महत्त्व मिला है।

वामन ने 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' कहकर अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति मे वक्रोक्ति को एक अर्थालङ्कार-विशेष का स्थान प्रदान कर दिया। आपातत तो स्पष्ट

ही है कि यहाँ वक्रोक्ति का वह अर्थ नही है जो मम्मट-दण्डी का अभीष्ट है। किन्तु सादृश्यात्मकलक्षणा वक्रोक्ति लक्षणामूल गूढ व्यग्य प्रधान ध्वनि का मूल अवश्य है। और विवेचन किया जाय तो सादृश्य और लक्षणा तथा वक्रोक्ति शब्दो की व्याख्या के आधार भामह-दण्डी की मान्यता को यहाँ भी खींच-तानकर रखा जा सकता है।

वामन के बाद रुद्रट ने अपने 'काव्यालङ्कार' मे वक्रोक्ति को एक शब्दालङ्कार के रूप मे प्रतिष्ठित किया। निश्चय ही रुद्रट की वक्रोक्ति मे भामह-दण्डी की वक्रोक्ति का सामान्य धर्म विच्छित्ति तो है किन्तु वह एक अलङ्कार विशेष है जबकि भामह की वक्रोक्ति अलङ्कार ही नहीं, अलङ्कार वस्तु-रस सामान्य तत्त्व है। ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने जैसा कि पहले भी कहा गया है, वक्रोक्ति को सर्वालङ्कार सामान्य माना है—'अतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया।'[1] कहकर उन्होने भामह का समर्थन किया है। भामह के प्रसङ्ग मे लोचनकार का मत दिया जा चुका है। पुनश्च अभिनवगुप्त ने तो वक्रोक्ति को काव्य का जीवन भी स्वीकार किया है। उन्ही के शब्दो मे—

'यातिशयोक्तिर्लक्षिता सैव सर्वा वक्रोक्तिरलङ्कारः।......अथ सा जीवितत्त्वेनेत्थं विवक्षिता।' (लोचन, पृ० ४९९–५०१)।

अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति है। वह काव्य का जीवन है। यही नही, अभिनव ने तो दण्डी के समान समस्त वाङ्मय को दो भेदो मे विभाजित कर दिया है—

'काव्येऽपि च लोकनाट्यधर्मिस्थानीयेन स्वभावोक्तिवक्रोक्तिप्रकारद्वयेनालौकिकप्रसन्नमधुरौजस्विशब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगादियमेव रसवार्ता।' (लो०पृ० १९७)। अर्थात् काव्य मे भी स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति के माध्यम से ही रसनीयता का सञ्चार होता है।

अग्नि-पुराण मे 'वाकोवाक्य' नाम का एक अलङ्कार है, जिसके दो भेद है—ऋजु तथा वक्रोक्ति। यह वक्रोक्ति भी श्लेष तथा काकु से पैदा होती है। इस प्रकार इसके दो भेद है।[2] स्पष्टतः यह वक्रोक्ति रुद्रट-मम्मट के समान है। भोजराज ने वक्रोक्ति, रसोक्ति तथा स्वभावोक्ति भेद से वाङ्मय को तीन प्रकारो मे विभक्त किया है। और इनमे रसोक्ति ही प्रधान है।[3] इस प्रकार वाङ्मय को विभक्त करने की दण्डी की पद्धति को उन्होने और आगे बढाने का प्रयास किया और रसादि को भी विभाजन

---

१. ध्व० पृ० ४०८–९९। ध्वनिकार ने भामह की उक्त कारिका के प्रसङ्ग मे स्पष्ट किया है कि अतिशय योग से काव्य मे शोभातिशय आ जाता है, क्योकि वही अलकार सामान्य तत्त्व है। ध्वनिखण्डन मनोरथ नामक कवि के श्लोक मे, 'यस्मिन्नस्ति न वस्तु वक्रोक्तिशून्य च यत्' इत्यादि ध्वन्यालोकस्थ श्लोक के 'वक्रोक्तिशून्यम्' की व्याख्या मे लोचनकार का कथन है, 'वक्रोक्तिशून्येन शब्देन सर्वालङ्काराभावश्च उक्तः।' कुन्तक की सुप्तिङादिवक्रता का भेद तो ध्वनिभेद पर ही आश्रित है।

२. द्र०, अग्निपुराण।

३. वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।
सर्वासु ग्राहिणी तासु रसोक्ति प्रतिजानते॥ स० कण्ठाभरण, ५।८

का एक आधार मान लिया। 'शृङ्गार-प्रकाश' मे 'सर्वालङ्कारजातयो वक्रोक्त्यभिधान-वाच्या भवन्ति–' समग्र अलङ्कारजाति वक्रोक्ति शब्दवाच्य होती है, कहकर उन्होने आगे कहा—'वक्रत्वमेव काव्याना पराभूपेति भामहः।' इससे स्पष्ट है कि भोजराज भी वक्रोक्ति के विषय मे भामह की मान्यता का स्वीकार करते है, किन्तु आगे वही वह यह भी कहते है—'त्रिविधः खलु अलङ्कारवर्ग वक्रोक्तिः, स्वभावोक्ति , रसोक्तिरिति। तत्रोपमाद्यलङ्कारप्राधान्ये वक्रोक्तिः, सोऽपि गुणप्राधान्ये स्वभावोक्तिः, विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगात्तु रसनिष्पत्तौ रसोक्तिरिति।' स्पष्ट है कि भोजराज का यह काव्य-विभाग, अलङ्कार, गुण तथा रस के आधार पर है। अतः उनकी दृष्टि मे भी भामह-दण्डी सम्मत वक्रोक्ति का स्थान अक्षुण्ण बना रहा। इसके बावजूद उन्होने 'वाकोवाक्य' नामक एक शब्दालङ्कार भी माना है। जिसके छः भेदो मे वक्रोक्ति-स्वभावोक्ति अलङ्कारो को अन्तर्भूत किया जा सकता है। किन्तु यहाँ इन्हे अलङ्कार विशेष मात्र ही कहा जा सकता है, काव्य-विभाजन का आधार नही। वाकोवाक्य के छः भेद क्रमशः—ऋजूक्ति, वैयात्योक्ति, गूढोक्ति, प्रश्नोक्ति तथा चित्रोक्ति है। इनमे ऋजूक्ति तथा वक्रोक्ति है स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति अलङ्कार है[१]।

वक्रोक्ति की इतिहास-परम्परा मे वक्रोक्तिकार कुन्तक को अभी छोडा जा रहा है। उनके सिद्धान्त का प्रतिपादन आगे होगा। परवर्ती काव्याचार्यो पर एक सक्षिप्त दृष्टि डाल देनी चाहिए। आचार्य मम्मट ने भी 'सैपा सर्वैव वक्रोक्तिः' इत्यादि भामह के कथन का सम्यक् आदर किया है तथा रुद्रट के समान उन्होने भी वक्रोक्ति को एक शब्दालङ्कार मात्र माना है। परवर्ती विश्वनाथ, जयदेव प्रभृति अलङ्कार के आचार्य प्रायः मम्मट की रीति पर ही चलते हैं।[२] रुय्यक, अमृतानन्द योगी तथा शोभाकर आदि इसे अर्थालङ्कार मानते हैं।[३] रुय्यक ने 'अपने 'अलङ्कारसर्वस्व' की भूमिका मे कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त का सम्यक् प्रतिपादन किया है। पहले भी कहा जा चुका है कि महिमभट्ट तथा दर्पणकार ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानने के सिद्धान्त का खण्डन किया है। इस प्रकार भामह-दण्डी द्वारा प्रतिपादित वक्रोक्ति के स्वरूप पर विचार करे तो साफ है कि संस्कृत अलङ्कारशास्त्र मे 'सैपा सर्वैव वक्रोक्तिः' के अमर घोष का किसी ने प्रतिवाद नही किया। यह अवश्य कहा कि उसे शलङ्कार कहना, जैसा कि भामह आदि प्राचीन अलङ्कारशास्त्री कहते थे, किसी को मान्य न हुआ। वह वक्रोक्ति काव्य के सामान्य शोभाधायक तत्त्व के रूप मे प्रतिष्ठित हो गयी न कि मात्र

१. द्र०, सरस्वतीकण्ठाभरण, २।१३–३२।

२. रुद्रट के वक्रोक्तिलक्षण, काव्यालङ्कार–२।१४ तथा २।१६ के श्लेष–काकुवक्रोक्ति के आधार पर मम्मट ने अपना लक्षण किया—'यदुक्तमन्यथा वाक्य मन्यथान्येन योज्यते। श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा'॥ काव्यप्रकाश, ९।७७। तु०, काव्यानुशासन ५।८, अलङ्कार-महोदधि २।९३; चन्द्रालोक, ५।१६२; साहित्यदर्पण १०।११, अलङ्कारशेखर, पृ० २९; साहित्य-सार ८२-८८; प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ० ४७; काव्यानु०, पृ० ४९, वाग्भटालङ्कार ४।१४;

३. अल० स०, सूत्र ७७, तथा शोभाकर आदि के विवेचन।

सर्वालङ्कार सामान्य । यहाँ कुछ विद्वान् आपत्ति कर सकते है कि सर्वालङ्कार सामान्य को यहाँ काव्य का सामान्य धर्म कैसे कहा जा रहा है ? वस्तुतः भामह का अभिमत, ध्वनिकार, लोचनकार तथा कुन्तक का समर्थन–विवेचन इसी की पुष्टि करता है । और अलङ्कार के रूप मे वक्रोक्ति का वही स्वरूप जो भामह को अभीष्ट था, बाद मे सुरक्षित न रह सका । अलङ्कार के रूप मे वह शब्द या अर्थ का कालान्तर मे अलङ्कार मात्र बनकर रह गयी ।

वक्रोक्ति जीवित के प्रथम उन्मेष का प्रतिपाद्य :—वक्रोक्तिजीवित कारिका तथा वृत्ति मे लिखा गया है । दोनो का लेखक एक ही व्यक्ति है; वह है आचार्य कुन्तक । कारिका तथा वृत्ति को अलग-अलग अभिधान देने का कोई औचित्य दृष्टिगत नही होता । अतः विद्वानो के इस विवाद को विना स्पर्श किये ही यह कहना अधिक संगत होगा कि, कारिका तथा वृत्ति पूरे को मिलाकर कुन्तक के ग्रन्थ का नाम है वक्रोक्तिजीवित । पूर्व की पक्तियो मे ग्रन्थ के पॉच उन्मेष मे होने की भी चर्चा हुई है । किन्तु उपलब्ध ग्रन्थ, टूटी-फूटी जिस भी अवस्था मे है, चार उन्मेषो मे विभक्त किया गया है । प्रथम उन्मेष के प्रारम्भ मे कुन्तक ने कारिकाभाग के मङ्गल श्लोक से वाग्देवता की वन्दना की है । विवेच्य विषय है, काव्यालङ्कार अतएव तत्प्रतिपादक ग्रन्थ के प्रारम्भ मे उसके अधिदेवता की स्तुति उचित ही है । वृत्तिभाग के मङ्गल मे कुन्तक ने शक्तिपरिस्पन्द मात्र उपकरण शिव की वन्दना की है । कश्मीरी होने के कारण कुन्तक पर भी प्रत्यभिज्ञादर्शन का प्रभाव स्वाभाविक था । अतः परमशिव की वन्दना करते हुए कुन्तक ने काव्य तथा काव्यशास्त्र मे प्रचलित स्वभाव कथन तथा प्रौढ़, या वक्रवर्णन की आलोचना करते हुए तथा स्वतन्त्र ध्वनिसिद्धान्त का अनादर किये बिना काव्यार्थ के तत्त्वभूत वक्रोक्ति के उन्मीलन-प्रयास प्रारम्भ किया है ।

(1) **ग्रन्थ का नाम तथा प्रयोजन :—**ग्रन्थ के प्रथम उन्मेष मे कुल ५८ कारिकाएँ है । द्वितीय कारिका तथा वृत्तिभाग से ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ के नाम, अभिधेय तथा प्रयोजन को बताया है । तदनुसार इस ग्रन्थ के पूर्व भी अनेक काव्य के अलङ्कार ग्रन्थ लिखे जा चुके है, किन्तु इस प्रकार के वैचित्र्य सम्पादन का प्रयास कहीं और नही किया गया है । अतएव यह रचना सोद्देश्य तथा सार्थक भी है । रही ग्रन्थ के नाम की बात । प्राचीन काव्यशास्त्री अलङ्कार को प्रधान मानते रहे है । उनके ग्रन्थो के नाम भी अलङ्कारपरक ही है । वस्तुतथ्य तो यह है कि अलङ्कार शब्द का लोक मे शरीर-शोभातिशयकारी होने के कारण प्रधानतया कटक-केयूर आदि मे ही प्रयोग ठीक है । काव्य मे भी उपमा आदि अलङ्कार काव्यशरीर की शोभा के हेतु होते हैं, अतः उपचारतः उपमा-रूपक आदि अलङ्कारो मे भी अलङ्कार पद का प्रयोग होता है । गुणादि भी अलङ्कार समान ही हैं काव्यशोभाधायक । अतएव तत्सदृश होने के कारण गुण भी अलङ्कार कहे जाते है । और गुण-अलङ्कार आदि के विवेचक ग्रन्थो मे भी उसी प्रकार अलङ्कार पद का व्यवहार किया जाता है । अतः प्राचीनों की दृष्टि को

ध्यान मे रखकर की गयी पूर्व विवेचना के आधार पर मेरे इस ग्रन्थ का नाम है, काव्यालङ्कार भले ही वक्रोक्ति की काव्यप्राणता होने के कारण ग्रन्थ को वक्रोक्तिजीवित कहा गया हो। अलङ्कार शब्द से बोध्य इस ग्रन्थ का अभिधेय है उपमादि अलङ्कार। वक्रता अलङ्काररूप ही है। अतएव सामान्यतया ग्रन्थ का प्रतिपाद्य उपमादि को मानने मे कोई कठिनाई नही है।

१. इस वक्रोक्तिजीवित ग्रन्थ के निर्माण का प्रयोजन लोकोत्तर चमत्कारकारी वैचित्र्य की सिद्धि करना है। ग्रन्थ के कारिका तथा वृत्तिभाग के भिन्न-भिन्न नामो की विशद चर्चा तथा समाधान, श्री काणे तथा अन्य टीकाकारो के ग्रन्थो मे द्रष्टव्य है।

२. वक्रोक्तिजीवित नामक ग्रन्थ के निर्माण का लोकोत्तर-चमत्कारकारी वैचित्र्यसम्पादनरूप प्रयोजन बताने के अतिरिक्त कुन्तक ने काव्य के अन्य प्रयोजनों का भी निर्देश किया है। ग्रन्थ के अनुसार धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप पुरुपार्थचतुष्टय का उपदेश ही सर्गबन्ध निर्मित काव्य का प्रयोजन है। यद्यपि पुरुपार्थचतुष्टय का उपदेश शास्त्रो से भी सम्भव है किन्तु शास्त्र दुरवगाह तथा कठोर रीति से नियमो का सम्पादन करते है। अत क्लेशभीरु, कोमलमति, राजकुमार आदि अभिजात वर्गो को शास्त्रो की अपेक्षा ऐसे साधनो की आवश्यकता होती है, जिससे वे अनायास तथा सुखपूर्वक कोमलरीति से धर्मादि की शिक्षा प्राप्त कर सके। काव्य स्वभावतः सरस तथा सद्योग्राह्य होता है। सुकुमार परम्परा से अभिहित काव्य सुकुमार पद्धति से धर्मादि का उपदेश देता है। जिससे कोमलमति भी लोग सुखपूर्वक उपदेश ग्रहण मे सक्षम हो जाते है। शास्त्र से पलायमान राजपुत्रादि उचित उपदेश के अभाव मे समस्त जगती के नियामक होने पर भी समस्त समुचित व्यवहार का उच्छेद कर सकते है। अतएव ऐसे लोगो को समुचित मर्यादा-पालन आदि के उपदेश के लिए कविगण काव्यो मे व्यतीत सच्चरित्रो का निबन्धन करते है। अतएव शास्त्र की अपेक्षा काव्य की उत्कृष्टता तो है ही—'तदेव शास्त्रातिरिक्त प्रगुणमस्त्येव प्रयोजन काव्यबन्धस्य।' कहा भी है—

धर्मादि साधनोपायः सुकुमार क्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥ ३ ॥

३. काव्य के तृतीय प्रयोजन मे कुन्तक ने व्यवहार-ज्ञान को प्रस्तुत किया है। सत्काव्य के द्वारा सामाजिक को सम्राट् आदि के सच्चरित्रो के माध्यम से अलौकिक औचित्यानुसारि लोकव्यवहार के क्रियाकलापो का अधिगम कराया जाता है। अन्य-शास्त्रो की अपेक्षा लोकव्यवहारादि का ज्ञान यहाँ आसान तरीके से निष्पन्न हो जाता है। अतएव काव्य उपयोगी होता है।

४. काव्य का अन्तिम प्रयोजन है सहृदय-हृदय मे रसानन्द की सृष्टि द्वारा चमत्कार का आधान करना। काव्यामृत का यह आनन्द चतुर्वर्गफल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कृति का विस्तार करता है। शास्त्रोपदिष्ट चतुर्वर्गफलास्वाद काव्यामृत

ॐ

श्रीमद्राजानककुन्तकविरचितं

वक्रोक्तिजीवितम्

प्रथमोन्मेषः

जगत्त्रितयवैचित्र्यचित्रकर्मविधायिनम् ।
शिवं शक्तिपरिस्पन्दमात्रोपकरणं नुमः ॥ १ ॥

प्रकृत ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवितम्' आचार्य कुन्तक की अमर कृति है। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धन आदि की भाँति आचार्य कुन्तक ने भी इसे कारिका और वृत्तिरूप मे लिखा है। ग्रन्थ की निर्विघ्नतया समाप्ति के लिए सस्कृत के ग्रन्थकारो मे मङ्गलाचरण करने की परम्परा है। इस आचार का परिपालन करते हुए ग्रन्थकार आचार्य कुन्तक रचना के वृत्तिभाग का मङ्गलाचरण करते हुए अपने अभिमत देव महाशिव की वन्दना करते है—

शक्ति के परिस्पन्द मात्र उपकरण (उपादान कारण) वाले, तीनो लोको के वैचित्र्यरूप चित्रकर्म के निर्माता शिव को हम नमस्कार करते है।

आचार्य कुन्तक कश्मीरी एव आचार्य अभिनवगुप्त के समसामयिक थे। उस समय कश्मीर मे शैवागम का पूरा जोर था। अभिनवगुप्त की भाँति कुन्तक भी परमशैव प्रतीत होते है। अतः उनके द्वारा शिव की वन्दना उचित ही है। उस शिव की वन्दना जो शैवागम मे नित्य, कूटस्थ एवं सच्चिदानन्द स्वरूप माना गया है। यह परिदृश्यमान सम्पूर्ण जगत् जिसकी इच्छाशक्ति का परिस्पन्द मात्र है। यद्यपि उसकी अनेक शक्तियो का उल्लेख हैं किन्तु प्रधान शक्तियाँ पाँच ही है—चिति, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया। शिव और शक्ति मे अभेद सम्बन्ध है। शक्ति उस परमशिव का उपादान कारण है जिससे वह इस जगत्-चित्र का निर्माण करता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने भी 'ध्वन्यालोक' के तृतीय उद्योत की टीका 'लोचन' के प्रारम्भ मे स्पष्टरूप से कहा है कि उस महाशिव को शक्ति के अतिरिक्त किसी और उपकरण की अपेक्षा नही होती—

कृत्यपञ्चकनिर्वाहयोगेऽपि परमेश्वरः ।
नान्योपकरणापेक्षो यया ता नौमि शाङ्करीम् ॥

यही शाङ्करी शिवा 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' मे चितिरूपा भगवान् की पराशक्ति और उससे अभिन्न बतायी गयी है जो तत्तत्स्वरूपो मे जगत् रूप मे परिस्फुरित होती है। अन्यत्र भी इसका समर्थन किया गया है कि उस परमशिव को शक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी उपादान की अपेक्षा नही रहती—

निरुपादानसभारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥

तथापि वह जगच्चित्र का निर्माता है। इस विषय मे यह भी ध्यान देने योग्य है कि अर्थ को ही भगवान् शिव एव वाक् को ही देवी शक्ति कहा गया है—'रुद्रोऽर्थोऽक्षरस्सोमा।' और फिर—अर्थः शम्भुः शिवा वाणी—के साथ महाकवि कालिदास का—वागर्थाविव पार्वती परमेश्वरौ—कथन शिवशक्ति की अभिन्नता के साथ-साथ इसकी पुष्टि करता है कि जगत्-(लोक-काव्य) चित्र के निर्माण मे दोनो ही सपृक्त है। काव्य-जगत् के निर्माण मे भी वाक्-शक्ति का ही परिस्पन्द पाया जाता है। वाक् के चार स्वरूप है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। शिव की चिद्रूपा परावाक् स्वय स्फुरित होती है। अन्य तीन इसी के स्पन्दमात्र है। आचार्य अभिनव ने परावाक् को शिव की प्रतिभा बताया है जिसकी उन्मीलन शक्ति से ही क्षणमात्र मे विश्व का उन्मीलन (निर्माण) हो जाता है—

यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात् ।
स्वात्मायतनविश्रान्ता ता वन्दे प्रतिभा शिवाम् ॥ (लोचन)

और वह शिवस्वरूप आत्मायतन मे विश्राम करनेवाली है। अन्य तीनो शक्तियाँ उसी का स्पन्दमात्र है। उसी का त्रिविध विग्रह है। रुय्यक भी कहते है—'नमस्कृत्य परा वाचं देवी त्रिविधविग्रहाम्।' और यही महाशिवा जगच्चित्र निर्माता महाशिव का उपादान कारण है। हमारे प्रयोग मे उसका अन्तिम रूप ही सहायक होता है। वही स्फुटीकृत अर्थवैचित्र्य को बाहर प्रसार प्रदान करती है। उसी से अर्थ का प्रत्यक्ष बोध होता है। वही निर्बाहक शक्ति है—

स्फुटीकृतार्थवैचित्र्यबहिःप्रसरदायिनीम् ।
तुर्या शक्तिमह वन्दे प्रत्यक्षार्थनिदर्शिनीम् ॥ (लोचन)

उसी का हम उपयोग करते है। कवि का काव्य भी तद्रूप ही होता है। इस प्रकार आचार्य कुन्तक यहाँ महाशिव को नमन करते हुए उसकी चिद्रूपा शक्ति एव उसके परिस्पन्द के साथ-साथ काव्योपयोगी शिवशक्ति परिस्पन्द परावाक् वैखरी को प्रकारान्तर से प्रख्यापित करते है।

जाति या स्वभाव-वर्णन को लेकर संस्कृत काव्यशास्त्र मे प्रचुर मतभेद पाये जाते हैं। भामह अतिशयोक्ति (वक्रोक्ति) के समर्थक है और वह सर्वत्र वक्रोक्ति की सत्ता चाहते है। 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः' के साथ वह यह मानकर चलते है कि वक्र अर्थ की शब्दोक्ति वाणी की भूषा है—वाचा वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते।' किन्तु

यथातत्त्वं विवेच्यन्ते भावास्त्रैलोक्यवर्तिनः ।
यदि तन्नाद्‌भुतं नाम दैवरक्ता हि किंशुकाः ॥ २ ॥
स्वमनीषिकयैवाथ तत्त्वं तेषां यथारुचि ।
स्थाप्यते प्रौढिमात्रं तत्परमार्थो न तादृशः ॥ ३ ॥

इसके विपरीत स्वभाव-वर्णन—सूर्य अस्त हो गया, चन्द्रमा सुशोभित हो रहा है, पक्षिगण निवास स्थान को जा रहे है आदि कथन कोई काव्य है, ऐसा वह नही मानते—

'गतोऽस्तमर्कः भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्येवमादि किं काव्य वार्तामेना प्रचक्षते ॥'

किन्तु दण्डी ऐसे काव्य को साधु ही नही मानते प्रत्युत् वे स्वभावोक्ति को तो वाङ्मय का एक भेद भी मानते हैं—

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।
भिन्न द्विधा स्वभावोक्तिः वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥ (काव्यादर्श)

काव्य-रचना के क्षेत्र मे महाकवि बाण ने जातिवादी कवियो को निरर्थक जीवन बताया है—

सन्ति श्वान इवामख्या जातिभाजो गृहे-गृहे ।
उत्पादका न बहवः कवयः शरभा इव ॥ (हर्षचरित)

और स्वय वक्रोक्तिकार कुन्तक स्वभाव को काव्य मे अलङ्कार्य मानते है। इसीलिए वह आगे की कारिका मे स्वभावोक्ति का सीधे खण्डन तो नही करते जैसा कि कतिपय व्याख्याकार मानते है किन्तु यदि वह वस्तु का यथावत् ही वर्णन हो तो उसका वह प्रकारान्तर से समर्थन करते हुए कहते है—यथा तत्त्वमित्यादि ।

'त्रैलोक्य मे वर्तमान पदार्थो का उनके स्वरूप का विना परित्याग किये यथार्थ वर्णन किया जाता है और यदि वह अद्‌भुत नही होता तो कोई बात नही क्योकि वह तो स्वभावतः सुन्दर होता ही है। दैवरक्त किंशुक को किसी अन्य वर्ण की क्या आवश्यकता? जो स्वय रक्त है, सुन्दर है उसे बाह्य उपादान की कोई आवश्यकता नही होती। अतः वस्तु का स्वभाव-वर्णन भी ग्राह्य है, उपादेय है। स्वभाव स्वय ही अलङ्कार्य होता है। उसमे चमत्कृति या वैचित्र्य आवश्यक नही' ॥२॥ और आगे के श्लोक से वह कहते है—

'कि यदि अपनी रुचि के अनुसार स्वतन्त्र रूप से उन पदार्थो के स्वरूप को (कविगण) अपनी बुद्धि-विलास मात्र से प्रस्तुत करते है, प्रतिभामण्डित करते है, अतिशयोक्तिमय ढग से प्रस्तुत करते है, तो वह वर्णन प्रौढ़िमात्र होगा क्योकि वस्तुत. वह वस्तु उस प्रकार की नही होती। वस्तु मे कविकल्पना का प्राचुर्य उसकी यथार्थता को समाप्त कर देता है। अतः रचना का स्वाच्छन्द्य भी बहुत ग्राह्य नही होता' ॥३॥

इत्यसत्तर्कसन्दर्भे स्वतन्त्रेऽप्यकृतादरः ।
साहित्यार्थसुधासिन्धोः सारमुन्मीलयाम्यहम् ॥ ४ ॥
येन द्वितयमप्येतत्तत्त्वनिर्मितिलक्षणम् ।
तद्विदामद्भुतामोदचमत्कारं विधास्यति ॥ ५ ॥

ग्रन्थारम्भेऽभिमतदेवतानमस्कारकरणं समाचारः । तस्मात्तदेव तावदुपक्रमते—

वन्दे कवीन्द्रवक्त्रेन्दुलास्यमन्दिरनर्तकीम् ।
देवीं सूक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम् ॥ १ ॥

देवीं वन्दे, देवतां स्तौमि । कामित्याह—कवीन्द्रवक्त्रेन्दुलास्यमन्दिरनर्तकीम् । कवीन्द्राः कविप्रवरास्तेषां वक्त्रेन्दुर्मुखचन्द्रः स एव लास्यमन्दिरं नाट्यवेश्म, तत्र नर्तकीं लासिकाम् । किंविशिष्टम्—सूक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम् । सूक्तिपरिस्पन्दाः सुभाषितविलसितानि तान्येव सुन्दरा अभिनयाः सुकुमाराः सात्त्विकादयस्तैरुज्ज्वलाम् भ्राजमानाम् । या किल

'इस प्रकार स्वतन्त्र भी अयथार्थ तर्क सन्दर्भ (वस्तु) रचना के प्रति भी आदर न रखते हुए मै (आचार्य कुन्तक) साहित्यतत्त्व रूप अमृत-सिन्धु के सार (यथार्थ रूप) का उन्मीलन कर रहा हूँ, निर्माण कर रहा हूँ' ॥४॥

'जिससे (काव्य) तत्त्व और (काव्य) निर्मिति ये दोनो ही काव्यविदो के अद्भुत आनन्द एव चमत्कार का निर्माण करेगे ॥५॥ अर्थात् मेरी इस कृति से काव्य तत्त्वो का यथारूप तो प्रस्तुत होगा ही, काव्य का ठीक-ठीक निर्माण करने मे भी सहायता उपलब्ध हो सकेगी ।'

इस प्रकार आचार्य कुन्तक ने अपने वृत्तिभाग का मङ्गलाचरण प्रस्तुत किया । अब आगे कारिका भाग के मङ्गल की अवतारणा करते हुए कहते हैं—ग्रन्थारम्भ इत्यादि ।

'ग्रन्थ के प्रारम्भ मे अपने अभिमत देवता को नमस्कार करना (विद्वानो मे) सम्यक् आचार है । इसलिए प्रथम उसी को प्रस्तुत करते है—

'महाकवियों के मुखचन्द्रस्वरूप लास्यभवन में नर्तन करनेवाली, सुभाषित विलासरूप सुन्दर अभिनय से प्रकाशमान वाग्देवता को मैं (आचार्य कुन्तक) प्रणाम करता हूँ' ॥ १ ॥

उक्त मङ्गलाचरण का वृत्तिभाग स्वय लिखते हुए कुन्तक कहते हैं—देवीम् आदि । देवी की वन्दना, देवता की स्तुति करता हूँ । किस देवता की ? उत्तर देते हैं । श्रेष्ठ कवियो की मुखचन्द्ररूप नृत्यभवन की नर्तकी । कवीन्द्र, प्रमुख कविवर्ग, उनके वक्त्रेन्दु मुखचन्द्र वे ही लास्यमन्दिर, नृत्यभवन है, वहाँ नर्तन करनेवाली । वह किस विशेषण से युक्त है ? सूक्तिपरिस्पन्द से सुन्दर अभिनय से उज्ज्वल । सूक्तिपरिस्पन्द, जो सुभाषित विलास हैं, वे ही सुन्दर अभिनय हैं—सुकुमार सात्विक आदि भाव हैं,

सत्कवि वक्त्रे लास्यवेश्मनीव नर्तकी सविलासाभिनयविशिष्टा नृत्यन्ती विराजते, तां वन्दे नौमिति वाक्यार्थः। तदिदमत्र तात्पर्यम्। यत्किल प्रस्तुतं वस्तु किमपि काव्यालंकारकरणं तदधिदैवतभूतामेवंविधरामणीयकहृदयहारिणीं वाग्रूपां सरस्वतीं स्तौमीति।

एवं नमस्कृत्येदानीं वक्तव्य वस्तु विषयभूतान्यभिधानाभिधेयप्रयोजनान्यासूत्रयति।

वाचो विषय नैयत्यमुत्पादयितुमुच्यते।
आदिवाक्येऽभिधानादि निर्मितेर्मानसूत्रवत्॥ ६॥

इत्यन्तरश्लोकः।

लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये।
काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते॥ २॥

उनसे उज्ज्वल अर्थात् शोभायमान दीप्यमान (देवता की वन्दना करता हूँ) जो (वाग्देवता) नृत्यशाला मे हाव-भावादि विलास सहित अभिनय-विशिष्ट नृत्य करती हुई नर्तकी के समान सत्कवियो के मुख मे (सत्कवि कर्म आदि-विशिष्ट अभिनय से स्फुरित होती हुई) विशेष रूप से शोभायमान होती है, उस (वाग्देवी) को नमस्कार करता हूँ। यह इसका वाक्यार्थ है। यहाँ यह तात्पर्य है कि, जो यह लोकोत्तर काव्यालङ्कारकरण रूप प्रस्तुत वस्तु है, उसकी अधिष्ठात्री देवी इस प्रकार की रमणीयता से हृदय को हरण करनेवाली वाग्रूप सरस्वती देवी की स्तुति करता हूँ।'

जबतक प्रतिपाद्य विषय के नाम-प्रयोजन आदि का विवेचन न कर दिया जाय उसमे किसी की प्रवृत्ति सहज नही हो पाती। अतएव प्रारम्भ मे वाग्देवता की स्तुति कर अनुबन्धचतुष्टय के प्रयोजन की आवश्यकता बताते हुए आगे की दूसरी कारिका मे अनुबन्धचतुष्टय का विवेचन किया गया है। उसी का उपक्रम किया जा रहा है।

एवमिति। 'इस प्रकार (वाग्देवता को) नमस्कार कर इस समय आगे कहे जानेवाले वस्तु के विषयभूत नाम, विषय और प्रयोजन आदि को निबन्धित करते है।

'भवन आदि निर्माण के प्रारम्भ मे विषय (लम्बाई, चौडाई आदि) की नियतता निर्धारण करने के लिए मानक सूत्र की भाति (किसी भी) रचना के वाणी के विषय की नियतता को पैदा करने के लिए रचना के प्रारम्भिक वाक्य मे ही अभिधानादि (अनुबन्धचतुष्टय) कह दिये जाते हैं।

यह अन्तरश्लोक है।'

कुन्तक ने कारिका के अतिरिक्त अपने वृत्तिभाग मे बीच-बीच मे स्वरचित श्लोको का उपनिबन्धन किया है। जिन्हे उन्होने अन्तरश्लोक का नाम दिया है।

'लोकोत्तर चमत्कार को पैदा करनेवाले वैचित्र्य की सिद्धि के लिए यह कोई अपूर्व ही काव्य का अलङ्कार (ग्रन्थ) किया जा रहा है॥ २॥

अलङ्कारो विधीयते अलङ्करणं क्रियते। कस्य, काव्यस्य। कवेः कर्म काव्यम्, तस्य। ननु च सन्ति चिरन्तनास्तदलङ्कारास्तत्किमर्थमित्याह—अपूर्वः, तद्व्यतिरिक्तार्थाभिधायी। तदपूर्वत्वं तदुत्कृष्टस्य निकृष्टस्य च द्वयोरपि संभवतीत्याह—कोऽपि, अलौकिकः सातिशयः। सोऽपि किमर्थमित्याह—लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये असामान्याह्लादविधायिविचित्रभाव-सम्पत्तये। यद्यपि सन्ति शतशः काव्यालंकारास्तथापि न कुतश्चिदप्येवंविध-वैचित्र्यसिद्धिः।

अलङ्कारशब्दः शरीरस्य शोभातिशयकारित्वान्मुख्यतया कटकादिषु वर्तते, तत्कारित्वसामान्यादुपचारादुपमादिषु, तद्वदेव च तत्सदृशेषु गुणादिषु,

---

'अलङ्कार का विधान किया जा रहा है अर्थात् अलङ्करण किया जा रहा है। किसका (अलङ्करण)? काव्य का। कवि का कर्म ही काव्य है, उसका (अलङ्करण किया जा रहा है)। (प्रश्न हो सकता है कि), जब प्राचीन अलङ्कार (ग्रन्थ) है ही तो किसलिए (इस नये ग्रन्थ की रचना की जा रही है)? उत्तर है—अपूर्व, उन (प्राचीन ग्रन्थो) से व्यतिरिक्त अर्थ का विवेचन करनेवाले (ग्रन्थ की रचना की जा रही है)। (कहा जा सकता है कि), उन (प्राचीन ग्रन्थो से) अपूर्वता तो उनसे उत्कृष्ट एवं उनसे निकृष्ट दोनो ही प्रकार की रचनाओ मे हो सकती है? इस पर कहते है—कोई ही, अलौकिक, अतिशय युक्त (ग्रन्थ)। वह (अपूर्व अलङ्कार ग्रन्थ) भी किसलिए (लिखा जा रहा है)? उत्तर है—लोकोत्तर चमत्कार-कारी वैचित्र्य की सिद्धि के लिए, असामान्य (विशेष प्रकार के) आह्लाद के विधायक विचित्रभाव की निष्पत्ति के लिए (अपूर्व अलङ्कार कृति लिखी जा रही है)। (तात्पर्य यह है कि), यद्यपि सैकडो काव्यालङ्कार ग्रन्थ है किन्तु फिर भी कही भी इस प्रकार के वैचित्र्य की सिद्धि नही पायी जाती।

शरीर की शोभा मे आधिक्य पैदा करने के कारण अलङ्कार शब्द प्रधानतया वलय आदि (लौकिक) आभूषणो मे प्रयुक्त होता है। (और काव्य-शरीर की शोभा मे अतिशयत्व व्यापादन रूप समानता के कारण (अलङ्कार शब्द) गौणरूप से उपमा आदि अलङ्कारो मे भी प्रयुक्त होता है। और उसी प्रकार तत्समान (काव्य शोभाकरान् धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते—आदि दण्डी प्रभृति प्राचीन आलङ्कारिको की दृष्टि से सभी काव्यशोभाकर धर्म अलङ्कार कहे जाते है, चाहे वे गुण हो, रीति हो या अलङ्कार आदि) (अलङ्कार के समान शोभाधायक तत्त्व होने के कारण) गुण आदि (रीति आदि) मे भी अलङ्कार शब्द का प्रयोग होता है। योगक्षेम समान होने के कारण शब्द और अर्थ दोनों का (किसी भी वस्तु मे) ऐक्य रूप से (अभेद सम्बन्ध से) व्यवहार होता है। जैसे—गौः यह शब्द है और उसका अर्थ गौः यह भी है। अर्थात् दोनो के लिए गो शब्द का प्रयोग होता है। (ग्रन्थकार का यहाँ तात्पर्य है कि जिस वस्तु के लिए शब्द का व्यवहार होता है उसी शब्द का व्यवहार उसके अर्थ एवं

तथैव च तदभिधायिनि ग्रन्थे। शब्दार्थयोरेकयोगक्षेमत्वादैक्येन व्यवहारः। यथा गौरिति शब्दः गौरित्यर्थ इति।

तदयमर्थः। ग्रन्थस्यास्य अलङ्कार इत्यभिधानम्, उपमादि प्रमेय जातमभिधेयम्, उक्तरूप वैचित्र्यसिद्धिः प्रयोजनमिति ॥ २ ॥

एवमालङ्कारस्य प्रयोजनमस्तीति स्थापितेऽपि तदलङ्कार्यस्य काव्यस्य प्रयोजनं विना सदपितदपार्थकमित्याह—

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ॥ ३ ॥

हृदयाह्लादकारकश्चित्तानन्दजनकः काव्यबन्धः, सर्गबन्धादिर्भवतीति सम्बन्धः। कस्येत्याकाङ्क्षायामाह—अभिजातानाम्। अभिजाताः खलु राजपुत्रादयो धर्माद्युपेयार्थिनो विजिगीषवः क्लेशभीरवश्च, सुकुमाराशयत्वा-

---

तत्प्रतिपादक रचना आदि मे भी होता है। जैसे अलङ्कार शब्द प्रधानतः कटकादि मे व्यवहृत होता है, तत्कारित्व सामान्य से गौणतया उपमादि अलङ्कार एव तत्समान गुणो मे भी व्यवहार होता है और अन्ततः उनके प्रतिपादक ग्रन्थो को भी अलङ्कार ही कहते है।)

'इस प्रकार पूरे का आशय यह है कि इस ग्रन्थ का अलङ्कार यह नाम है, उपमा आदि साध्य विषय इसके प्रतिपाद्य है और पूर्व प्रकार से कही गयी वैचित्र्य-सिद्धि ही इसका प्रयोजन है' ॥ २ ॥

'इस प्रकार अलङ्कार का (लोकोत्तर चमत्कारकारी वैचित्र्य की सिद्धि) प्रयोजन है, यह स्थापित हो जाने पर भी, उसके अलङ्कार्य काव्य के प्रयोजन बिना रहने पर भी वह (अलङ्कार) व्यर्थ है। इसलिए (काव्य प्रयोजन ही) कहते है—

'सुकुमार परम्परा से कहा गया काव्यबन्ध धर्म आदि (अर्थ, काम एवं मोक्ष) की सिद्धि का साधन, तथा अभिजात लोगों के हृदयो में आनन्द की सृष्टि करता है' ॥ ३ ॥

कारिका की व्याख्या करते हैं—हृदयादि से। हृदयाह्लादकारक, तात्पर्य, चित्त मे आनन्द पैदा करनेवाला, काव्यबन्ध अर्थात् सर्गबन्ध आदि रूपो मे निबद्ध महाकाव्य होता है। काव्यबन्ध का यहाँ भवति क्रिया से सम्बन्ध है। (ध्यान देने की बात है कि महाकाव्य का लक्षण न करते हुए भी कुन्तक ने यहाँ महाकाव्य के लक्षण की ओर सकेत कर दिया है।) किसका (हृदयाह्लादकारक होता है)? इस आकाक्षा मे कहते हैं—अभिजातों का। अभिजात राजपुत्र आदि लोग होते हैं जो धर्म आदि (अर्थ, काम, मोक्ष) प्राप्त करने के योग्य, विजिगीषु एवं कष्ट से डरनेवाले होते हैं क्योंकि उनका स्वभाव सुकुमार होता है। ठीक है उस प्रकार से काव्य

त्तेषाम्। तथा सत्यपि तदाह्लादकत्वे काव्यबन्धस्य क्रीडनकादिप्रख्यता प्राप्नोतीत्याह--धर्मादि साधनोपायः। धर्मादेरुपेयभूतस्य चतुर्वर्गस्य साधने संपादने तदुपदेशरूपत्वादुपायस्तत्प्राप्तिनिमित्तम्।

तथापि तथाविधपुरुषार्थोपदेशपरैरपरैरपिशास्त्रैः किमपराद्धमित्यभिधीयते-सुकुमारक्रमोदितः। सुकुमारः सुन्दरः सहृदयहृदयहारी क्रमः परिपाटीविन्यासस्तेनोदितः कथितः सन्। अभिजातानामाह्लादकत्वे सति प्रवर्तकत्वात्काव्यबन्धो धर्मादिप्राप्त्युपायतां प्रतिपद्यते। शास्त्रेषु पुनः कठोरक्रमाभिहितत्वात् धर्माद्युपदेशो दुरवगाहः। तथाविधे विषये विद्यमानोऽप्यकिञ्चित्कर एव।

मे तदाह्लादकत्व (अभिजातो का चित्तानन्द जनकत्व) होने पर भी (यदि उसका और कोई प्रयोजन नही है तो जैसे खिलौने आदि भी आनन्दजनक होते है वैसे ही) काव्यबन्ध की क्रीडनक (खिलौने) आदि से समानता ही सिद्ध होती है। उसका प्रतिवाद करते है—(काव्यबन्ध) धर्म आदि साधन का उपाय है। अर्थात् प्राप्त करने योग्य वस्तु धर्म आदि चतुर्वर्ग की सिद्धि मे, सपादन मे, धर्मादि का उपदेश-स्वरूप होने के कारण (काव्यबन्ध) उपाय है, उसकी (धर्मादि की) प्राप्ति का कारण है।

'(काव्यबन्ध धर्मादि साधनोपाय होता है) तो भी उस प्रकार के पुरुपार्थ (चतुष्टय रूप) उपदेशपरक अन्य (श्रुति, स्मृति आदि) शास्त्रों से क्या अपराध हो गया है (कि उनके रहते भी पुरुपार्थ का उपदेश देने के लिए काव्यबन्ध को ही साधन बताया जा रहा है), इस पर कहते है—(क्योकि) सुकुमार परम्परा से कहा गया (काव्यबन्ध धर्म आदि साधनो का उपाय होता है)। सुकुमार-सुन्दर—सहृदय के हृदय का हरण करनेवाला, क्रम—परिपाटीविन्यास, रचना, उससे कहा गया (प्रतिपादित) ही (काव्यबन्ध धर्मादि का साधक होता है)। अभिजातो का आह्लादक होने के कारण (धर्मादि साधनो के प्रति) उनका (अभिजातो का) प्रवर्तक होने से काव्यबन्ध धर्मादि की प्राप्ति की उपायता (साधनता) को प्राप्त हो जाता है। किन्तु शास्त्रो मे (धर्मादि-प्राप्ति के उपाय) कठिन परम्परा से कहे गये, होते है, अतएव उनसे (सुकुमार मति अभिजात को) धर्म आदि का उपदेश कठिनता से बोधगम्य हो पाता है। इसलिए उस प्रकार के विषय मे (कठोर परम्परा से प्रतिपादित शास्त्र आदि मे) (धर्मादि साधन का उपदेश) विद्यमान रहने पर भी (सुकुमारमति अभिजातो के लिए तो वह, कुछ भी न करनेवाला (व्यर्थ) ही होता है।'

प्रश्न हो सकता है कि धर्मादि का उपदेश केवल अभिजात्त राजकुमारो के लिए ही क्यो हो? सामान्य जन उसके भागी क्यो नही हो सकते? इसका उत्तर आगे देते है—राजपुत्राः आदि से।

राजपुत्राः खलु समासादितविभवाः समस्तजगतीव्यवस्थाकारितां प्रतिपद्यमानाः श्लाघ्योपायोपदेशशून्यतया स्वतन्त्राः सन्तः समुचितसकलव्यवहारोच्छेदं प्रवर्तयितुं प्रभवन्तीत्येतदर्थमेतद्व्युत्पत्तये व्यतीतसच्चरितराजचरितं तन्निदर्शनाय निबध्नन्ति कवयः। तदेवं शास्त्रातिरिक्तं प्रगुणमस्त्येव प्रयोजनं काव्यबन्धस्य ॥ ३ ॥

मुख्यं पुरुषार्थसिद्धिलक्षणं प्रयोजनमास्तां तावत्, अन्यदपि लोकयात्राप्रवर्तननिमित्तं भृत्यसुहृत्स्वाम्यादिसमावर्जनमनेन विना सम्यङ् न संभवतीत्याह—

व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः ।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ॥ ४ ॥

'राजपुत्रों को यथासमय विभव आदि की उपलब्धि हो जाती है। ऐश्वर्य-प्राप्त वे लोग (शासक होने के कारण) समग्र पृथ्वी की व्यवस्था करनेवाले नियमादि के व्यवस्थापक होते है और यदि वे प्रशस्य उपायों द्वारा दिये गये (धर्मादि के उपदेश से शून्य) हो तो स्वच्छन्द होकर सभी उपयुक्त आचारों का विनाश प्रारम्भ कराने में समर्थ होते है, इसलिए इस प्रयोजन के लिए (कि वे स्वच्छन्द होकर समस्त उचित आचारो के उन्मूलन मे प्रवर्तित न हो), इस प्रकार की व्युत्पत्ति के लिए, उन (राजपुत्रों) को दृष्टान्त प्रस्तुत करने के लिए कविगण बीते हुए सदाचारयुक्त (रामचन्द्र आदि) राजाओं के चरित्र को (काव्य मे) निबन्धित करते है। (इस प्रकार जहाँ शास्त्र रुक्ष भाषा मे धर्मादि की व्युत्पत्ति कराते हैं, वही काव्य राजचरित आदि के माध्यम से सुकुमार शैली से धर्मादि की व्युत्पत्ति कराते है)। इस प्रकार काव्य-रचना का प्रयोजन शास्त्र की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट गुणवान् होता ही है ॥ ३ ॥

(पुरुषार्थ की सिद्धि तो काव्य का प्रमुख प्रयोजन है किन्तु जबतक लोक-व्यवहार आदि का विधिवत् परिज्ञान न हो पुरुषार्थ-सिद्धि असभव ही है। अतः प्रधान प्रयोजन का निरूपण कर ग्रन्थकार अग्रिम कारिका मे गौण प्रयोजन का निरूपण करेंगे। तदर्थ उसकी अवतरणिका करते है—मुख्यमादि से।)

पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) प्राप्तिरूप प्रधान प्रयोजन तो है ही, वह रहे किन्तु अन्य भी प्रयोजन, लोक-व्यवहार की प्रवृत्ति के कारणस्वरूप, सेवक, मित्र, स्वामी आदि की परस्पर प्रीति आदि भी काव्य के विना ठीक-ठीक नहीं हो पाते। अतः कहते हैं—

'व्यवहार करने में प्रवृत्त लोग सत्काव्य के अधिगम (अवबोध) से नूतन औचित्य समन्वित (लोकादि) व्यवहार प्रयोग सौन्दर्य की प्राप्ति करते हैं ॥ ४ ॥

व्यवहारो लोकवृत्तं, तस्य परिस्पन्दो व्यापारः क्रियाक्रमलक्षणः तस्य सौन्दर्यं रामणीयकं तद्, व्यवहारिभिः—व्यवहर्तृभिः, सत्काव्याधिगमादेव कमनीयकाव्यपरिज्ञानादेव नान्यस्माद्, आप्यते लभ्यते, इत्यर्थः। कीदृशं तत्सौन्दर्यम्—नूतनौचित्यम् नूतनमभिनवमलौकिकमौचित्यमुचितभावो यस्य। तदिदमुक्तं भवति—महतां हि राजादीनां व्यवहारे वर्ण्यमाने तदङ्गभूताः सर्वे मुख्यामात्यप्रभृतयः समुचितप्रातिस्विककर्तव्यव्यवहारनिपुणतया निबध्यमानाः सकलव्यवहारिवृत्तोपदेशतामापद्यन्ते। ततः सर्वः क्वचित्कमनीयकाव्ये कृतश्रमः समासादितव्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यातिशयः श्लाघनीयफलभाग् भवतीति।

योऽसौ चतुर्वर्गलक्षणः पुरुषार्थस्तदुपार्जनविषयव्युत्पत्तिकारणतया काव्यस्य पारंपर्येण प्रयोजनमित्याम्नातः, सोऽपि समयान्तरभावितया तदुपभोगस्य

व्यवहार (कहते है) लोकाचार को, उसका परिस्पन्द तात्पर्य क्रियाक्रमरूप व्यापार, उसका सौन्दर्य—रमणीयता। वह उसके व्यवहारी-व्यवहार (प्रयोग) करनेवाले लोगो से, सत्काव्य के अधिगम से ही—कमनीय काव्य के परिज्ञान से ही, न कि किसी अन्य (शास्त्रादि) से, आप्त होता है—प्राप्त होता है। यह अर्थ हुआ। वह (व्यवहार परिस्पन्द का) सौन्दर्य किस प्रकार का है ? उत्तर है—नवीन औचित्य समन्विता नूतन-अभिनव अर्थात् अलौकिक लोकोत्तर, औचित्य–जिसका उचित भाव है (वह सौन्दर्य)। तो यह इस प्रकार कहा गया समझना चाहिए—उत्तम प्रकृति राजा आदि (ऋषि-मुनिगण) के व्यवहार के वर्णन किये जाने पर, उसके सहायभूत सभी प्रधान अमात्य आदि सभी अपने-अपने समुचित कर्तव्य और व्यवहार के प्रति निपुण रूप मे निबन्धित किये जाते है। (सदाचार निबन्धितये राजामात्यादि) ससार के सभी लोकाचार-परायणो के लिए आचार के उपदेश भाव को प्राप्त हो जाते है। (उनके आचारो से लोग सदाचार की शिक्षा लेते हैं।) इस प्रकार समस्त सामान्य जन कहीं भी कमनीय काव्य मे परिश्रम कर व्यवहार परिस्पन्द के अतिशय सौन्दर्य को प्राप्त कर लेता है। और इस प्रकार से वह भी महत्त्वपूर्ण काव्यफल का भागी हो जाता है। (किन्तु शास्त्रादि के माध्यम सभी श्लाघनीय फल के भागी नही बन पाते अतः काव्य प्रयोजन शास्त्र की अपेक्षा अधिक महनीय है।)' ॥ ४ ॥

पुरुषार्थ-प्राप्ति-विषयक व्युत्पत्ति का कारण होने से काव्य का जो यह चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) रूप परम्परा-प्राप्त प्रयोजन पहले कहा गया है, वह प्रयोजन भी काव्य का उपभोग (अध्ययन) करने के समय के बाद ही (न कि सद्यः) प्राप्त होता है। (इसलिए उससे सद्यः कोई आनन्द तो मिलता नही और यदि कोई कहे कि धर्मादि की प्राप्ति ही आनन्द है तो वस्तुतथ्य तो यह है कि पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति तो साक्षात् होती नही प्रत्युत् वह पारम्परिक होती है, अतः सद्यः सुख तो उससे मिलता नही, यही बात आगे की पंक्ति से कहते हैं पुरुषार्थ चतुष्टय की

तत्फलभूताह्लादकारित्वेन तत्कालमेव पर्यवस्यति। अतस्तदतिरिक्तं किमपि सहृदयहृदयसंवादसुभगं तदात्वरमणीयं प्रयोजनान्तरमभिधातुमाह—

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ।। ५ ।।

चमत्कारो वितन्यते चमत्कृतिर्विस्तार्यतेह्लादः पुनः पुनः क्रियत इत्यर्थः। केन—काव्यामृतरसेन। काव्यमेवामृतं तस्य रसस्तदास्वादस्तदनुभवेन। क्वेत्यभिदधाति—अन्तश्चेतसि। कस्य—तद्विदाम्। तं विदन्ति जानन्तीति तद्विदस्तज्ज्ञास्तेषाम्। कथम्—चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य। चतुर्वर्गस्य धर्मादेः फलं तदुपभोगस्तस्यास्वादस्तदनुभवस्तमपि प्रसिद्धातिशयमतिक्रम्य विजित्य पस्पशप्रायं संपाद्य।

आह्लादकारिता उसकी फलभूत होने के कारण फलप्राप्ति के समय (कालान्तर) मे ही प्राप्त हो पाती है। (तात्पर्य यह कि काव्य का उपभोग होने के अनन्तर ही पुरुपार्थ चतुष्टय का लाभ हो पाता है और तज्जन्य आनन्द चूँकि उसका फल है इसलिए वह आनन्द तभी मिलता है जब पुरुपार्थ की प्राप्ति होती है। पुरुपार्थजन्य आनन्द मे समय का व्यवधान है काव्योपभोग–पुरुपार्थ–प्राप्ति–और तज्जन्य आनन्द। किन्तु काव्य तो ऐसा हो जो पठनकाल मे ही आनन्द पैदा करे। अतः कहते है)। इसलिए उस (चतुर्वर्ग) से भिन्न, सहृदयहृदयसवाद से सुन्दर तत्काल (अध्ययन समकाल मे ही) ही मनोहारी अनिर्वचनीय दूसरे प्रयोजन को कहने के लिए कहते है—

'काव्यविदों के चित्त में काव्यरूपी अमृत-रस के द्वारा, चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) से जायमान आनन्द को भी अतिक्रान्त कर (उससे भी अधिक) चमत्कार फैलाया जाता है' ॥ ५ ॥

'चमत्कार का वितन्वन किया जाता है—चमत्कृति फैलायी जाती है, अर्थात् बार-बार आनन्द पैदा किया जाता है, यह अर्थ हुआ। किसके द्वारा (ह्लाद किया जाता है)?—काव्यामृत रस से। काव्य ही अमृत है, उसका रस–उसका आस्वाद–उसका अनुभव, उसके द्वारा (ह्लाद किया जाता है)। (वह चमत्कृति) कहाँ (पैदा की जाती है)? इस पर कहते है—अन्तर-चित्त मे। किसके (चित्त मे)?—तद्विदो के। उस (काव्य) का विन्दन करते है—जानते है वे तद्विद–काव्यज्ञ कहे जाते हैं, उनके (चित्त मे चमत्कृति पैदा की जाती है)। किस प्रकार से (पैदा की जाती है)?—चतुर्वर्ग के फलास्वाद को भी अतिक्रान्त कर। चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म आदि (अर्थ, काम, मोक्ष) के, फल–उसका उपभोग, उसका आस्वाद–उस (चतुर्वर्ग फल) का अनुभव, प्रसिद्ध प्रकर्ष उस अनुभव को भी अतिक्रान्त कर–जीतकर, पस्पशप्राय (प्रारम्भिक उपलब्धिमात्र) बनाकर (अन्तश्चमत्कार पैदा करता है)।

तदयमभिप्रायः—योऽसौ चतुर्वर्गफलास्वादः प्रकृष्टपुरुषार्थतया सर्वशास्त्रप्रयोजनत्वेन प्रसिद्धः सोऽप्यस्य काव्यामृतचर्वण चमत्कारकलामात्रस्य न कामपि साम्यकलनां कर्तुमर्हतीति। दुःश्रवदुर्भणदुरधिगमत्वादिदोषदुष्टोऽध्ययनावसर एव दुःसहदुःखदायी शास्त्रसन्दर्भस्तत्कालकल्पितकमनीयचमत्कृतेः काव्यस्य न कथंचिदपि स्पर्धामधिरोहतीत्येतदप्यर्थतोऽभिहितं भवति।

कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्।
आह्लाद्यमृतवत्काव्यमविवेकगदापहम् ॥ ७ ॥
आयात्यां च तदात्वे च रसनिस्यन्दसुन्दरम्।
येन संपद्यते काव्यं तदिदानीं विचार्यते ॥ ८ ॥

इस पूरे का यह अर्थ हुआ कि जो यह, प्रकृष्ट पुरुषार्थ के रूप मे सभी शास्त्रों के प्रयोजन के रूप मे प्रसिद्ध चतुर्वर्ग फल का आस्वाद है वह भी इस काव्यरूपी अमृत के आस्वाद से उत्पन्न चमत्कार के अशमात्र की भी किसी भी प्रकार की समता करने मे समर्थ नही है। अर्थ से यह भी अभिहित होता है कि, दुःश्रव (श्रुतिकटु), दुर्भण—कहने मे कठिन, और दुरधिगमत्व—कठिनता से बोधगम्य—आदि दोषो से दूषित, और अध्ययन के समय ही असहनोय दुःख प्रदान करनेवाला शास्त्रीय ग्रन्थ, अध्ययन के समय ही रमणीय लोकोत्तर चमत्कार पैदा करनेवाले काव्य की किसी भी तरह से स्पर्धा को प्राप्त नही होता (उसकी समानता नही कर सकता)।

(शास्त्र एवं काव्य के आस्वाद की तुलना कटुकौषध एवं अमृत से की जाती है। इसी तथ्य को आगे के प्रथम अन्तरश्लोक से व्यक्त करते है।)

'कड़वी दवा के समान शास्त्र अविद्या (अज्ञान) रूप व्याधि का नाश करता है जबकि काव्य आनन्दप्रद अमृत की भाँति अज्ञान रोग का विनाशक होता है। (अज्ञान-विनाश मे दोनो ही समर्थ है किन्तु जैसे औषधि रोग का नाश तो करती है किन्तु कडवी होती है, कठिनाई से गले उतरती है, शास्त्र भी कठोर होने से कठिनाई से गले उतरता है किन्तु सुकुमार काव्य सरस होने से आसानी से ग्राह्य होता है और सरलतापूर्वक अज्ञान का विनाश करने मे सक्षम होता है। अतः शास्त्रापेक्षया काव्य अधिक महनीय है।) यह श्लोक वामन के 'काव्यालकार सूत्रवृत्ति' की सूत्र १।१।१ की टीका मे गोपेन्द्रभूपाल ने भी उदाहृत किया है)' ॥ ७ ॥

'एव गुण-विशिष्ट वह काव्य जिस तत्त्व से अध्ययनकाल एवं तदनन्तर आगामी समय मे भी रस-प्रवाह से सुन्दर सम्पन्न होता है अब इसके बाद उसका विचार किया जाता है' ॥ ८ ॥

(ध्यान देने योग्य है कि आचार्य कुन्तक ने अबतक काव्य के प्रधानतः ३ प्रयोजनो का विवेचन किया—(१) चतुर्वर्ग की प्राप्ति, (२) व्यवहार-ज्ञान एव (३) लोकोत्तर चमत्कार। इनमे कोई भी प्रयोजन नया अथवा कुन्तक प्रवर्तित नही है। प्रायः सभी का विवेचन पूर्ववर्ती काव्याचार्यो ने कर दिया था।

इत्यन्तरश्लोकौ ।

अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते ।
तदुपायतया तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता ।।६।।

अलंकृतिरलङ्करणम्, अलंक्रियते ययेति विगृह्य । साविवेच्यते विचार्यते । यच्चालङ्कार्यमलङ्करणीयं वाचकरूपं वाच्यवाच्यरूपं च तदपि विवेच्यते ।

भामह ने चतुर्वर्ग-प्राप्ति, कलाओ मे दक्षता एव कीर्ति और प्रीति को साधुकाव्य का प्रयोजन माना था—

धर्मार्थकाममोक्षेपु वैचक्षण्य कलासु च ।
करोति कीर्ति प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ।।
काव्यालङ्कार १।२

वामन ने भी प्रीति कीर्ति को ही प्रधान कहा था—

काव्य सद् दृष्टादृष्टार्थ प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् । का० सू० वृ० १।१।५

और आचार्य रुद्रट कवि एव अन्य की कीर्ति, धर्म, मोक्ष, अर्थ-प्राप्ति, अनर्थोपशम एव कवि के लिए वाक्सस्कार को काव्य प्रयोजन माना है (काव्यालकार १।४–१२) । आचार्य मम्मट ने इन सबका सकलन किया और कहा—

काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।। का० प्र० १।२

काव्य से (१) यशः प्राप्ति, (२) अर्थ-लाभ, (३) व्यवहार ज्ञान, (४) अमङ्गल-निवारण, (५) काव्य-पठन श्रवणानन्तर ही रसास्वाद एव (६) कान्तासम्मितोपदेश । इनमे छहो मे यशःप्राप्ति, अर्थलाभ एवं अमङ्गल-निवारणरूप प्रयोजनो को लोग कवि से और इतर तीन का सम्बन्ध काव्य के पाठक से जोडते है । इस दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्टतः कुन्तक के प्रयोजनों मे प्रायः सभी पाठक की दृष्टि से लिखे गये प्रतीत होते है । वस्तुतः काव्य कवि के लिए, कम सहृदय पाठक के लिए अधिक होता है । इसलिए उसका प्रयोजन भी पाठक को ही दृष्टि मे रखकर होना चाहिए । इस दृष्टि से कुन्तक का काव्यप्रयोजन अधिक मनोवैज्ञानिक एवं आधुनिक विचारों के समीप है । परवर्ती काव्य-शास्त्र मे प्रायः मम्मट सम्मित काव्य प्रयोजनो को ही अधिक समादृत किया गया है क्योकि वह कवि-पाठक दोनो को लेकर चलता है ।)

'उस (काव्य) का उपाय (साधन) होने के कारण पृथक्-पृथक कर अलंकार और अलंकार्य का विवेचन किया जाता है । वस्तुतः अलंकार से युक्त (अलङ्कार्य शब्द-अर्थ) की ही काव्यता होती है' ॥ ६ ॥

अलंकृति-अलंकरण को कहते है । जिससे अलंकृत किया जाता है इस प्रकार से विग्रह कर (अलकृति—अलकार शब्द निष्पन्न होता है) । उसका विवेचन-विचार किया जाता है । और जो अलङ्कार्य (अलङ्कृत करने योग्य) अलङ्करणीय, वाचक-रूप और वाच्यरूप (शब्द-अर्थ रूप) है, उसका भी विवेचन किया जाता है ।

तयोः सामान्यविशेषलक्षणद्वारेण स्वरूपनिरूपणं क्रियते। कथम्—अपोद्धृत्य। निष्कृष्य, पृथक् पृथगवस्थाप्य, यत्र समुदायरूपे तयोरन्तर्भावस्तस्माद्विभज्य। केन हेतुना—तदुपायतया। तदिति काव्यं परामृश्यते। तस्योपायस्तदुपायस्तस्य भावस्तदुपायता तया हेतुभूतया। तस्मादेवंविधो विवेकः काव्यव्युत्पत्त्युपायतां प्रतिपद्यते। दृश्यते च समुदायान्तःपातिनामसत्यभूतानामपि व्युत्पत्तिनिमित्तमपोद्धृत्य विवेचनम्। यथा पदान्तर्भूतयोः प्रकृतिप्रत्यययोर्वाक्यान्तर्भूतानां पदानां चेति। यद्येवमसत्यभूतोऽप्यपोद्धारस्तदुपायतया क्रियते तत् किं पुनः सत्यमित्याह—तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता। अयमत्र परमार्थः—सालंकारस्यालङ्करणसहितस्य सकलस्य निरस्तावयवस्य सतः काव्यता

उन दोनो (अलङ्कार्य एव अलकार) का सामान्य और विशेष लक्षणो के माध्यम स्वरूप निर्धारण किया जा रहा है। कैसे (स्वरूप निरूपण किया जा रहा है) ?—अपोद्धृत्य—अलगकर। निकालकर, पृथक्-पृथक् रूप मे अवस्थापित कर (स्वरूप निरूपण किया जा रहा है), जहाँ समुदायरूप (काव्य) मे उन दोनो का अन्तर्भाव हो जाता है, उससे विभक्त कर (उनका विवेचन किया जाता है) (अर्थात् अलङ्कार और अलङ्कार्य दोनो ही शब्दार्थ स्वरूप काव्य मे अन्तर्भूत है। शब्दार्थ साहित्य ही काव्य है और अलङ्कार भी शब्द और अर्थ के होते है। अतः दोनो का पृथक्करण आवश्यक है, अन्यथा दोनो मे भ्रान्ति संभव है।) किस कारण से (पृथक् कर विवेचन किया जाता) ? उत्तर है—उस (काव्य) का उपाय होने के कारण। यहाँ तत् शब्द से काव्य का परामर्श होता है। उस (काव्य) का उपाय ही तदुपाय कहा जाता है। उसका भाव हुआ तदुपायता हेतुभूत उस (उपाय) के द्वारा (पृथक् कर अलकार-अलकार्य का विवेचन किया जाता है)। इसलिए इस प्रकार का विवेक काव्य की व्युत्पत्ति की उपायता को प्राप्त होता है। (अर्थात् जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। अलकार और अलकार्य का पृथक् विवेचन आवश्यक है क्योकि इससे काव्य की व्युत्पत्ति हो जाती है। अन्यथा शब्दार्थ रूप काव्य एव उसके ही शब्द-अर्थ के अलंकार मे कोई भेद नहीं हो पायेगा।) क्योकि, देखा जाता है कि व्युत्पत्ति के लिए समुदाय के अन्तर्गत आनेवाले असत्यभूत (पदार्थो) का भी पृथक् कर विवेचन किया जाता है। जैसे व्याकरण शास्त्र मे पद के ही अन्तर्गत आनेवाले (असत्यभूत) प्रकृति और प्रत्यय का और वाक्य के अन्तर्गत आनेवाले (असत्यभूत) पदो का (पृथक् कर विवेचन किया जाता है)। (पद से प्रकृति-प्रत्यय का बोध होता है। वाक्य से पद-समूह का बोध होता है। इस प्रकार पद-वाक्य के अन्तर्गत प्रकृति-प्रत्यय एवं पदो का कोई अस्तित्व नही, महत्त्व नहीं, तथापि उनका अलग-अलग विवेचन किया जाता है। उसी प्रकार यद्यपि काव्य चूँकि शब्दार्थ रूप होता है अतः उसी के अन्तर्गत अलंकार-अलकार्य दोनों आते हैं। काव्य की दृष्टि से वे दोनो ही असत्यभूत है। तथापि व्युत्पत्ति के लिए उनका पृथक् विवेचन आवश्यक होता है, किया जाता

कविकर्मत्वम्। तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः, न पुनः काव्यस्यालङ्कारयोग इति॥ ६॥

है। यहाँ पर कुन्तक ने व्याकरण प्रक्रिया का सहारा लिया है। व्याकरण सिद्धान्त मे प्रक्रिया दशा मे भले ही प्रकृति-प्रत्यय, वर्ण, पद, वाक्य, की अवस्थिति स्वीकार की जाती है किन्तु परमार्थतया वहाँ पदस्फोट अथवा वाक्यस्फोट का ही प्राधान्य होता है। इस प्रकार वहाँ पद-वाक्य की दृष्टि मे प्रकृति-प्रत्यय एवं पद क्रमशः असत्यभूत ही होते है। इस बात को भर्तृहरि के वाक्यपदीय मे इस प्रकार कहा गया है—

पदेन वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामानन्त्यं प्रविवेको न कश्चन॥
स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः।
ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेद प्रचक्षते॥ वाक्यपदीय, १·७३,७५

(आगे सन्देह कर वृत्तिकार उत्तर देते है)—यदि इस प्रकार से असत्यभूत भी (अलकार-अलंकार्य का) पृथक् कर, काव्य-व्युत्पत्ति का उपाय होने के कारण विवेचन किया जाता है? तो फिर सत्य क्या है? उत्तर देते है—तत्त्व तो सालङ्कार (शब्दार्थ) की काव्यता है।

यहाँ यह भाव है। सालङ्कार का—अलङ्करण सहित सपूर्ण की—अवयव रहित समग्र काव्य-समुदाय की ही काव्यता अर्थात् कविकर्मत्व होता है। इसलिए अलकृत (शब्दार्थ) की ही काव्यता होती है, यह स्थिति है। न कि काव्य का अलङ्कार के साथ योग होता है। (ध्यान देने की बात है कि सस्कृत काव्यशास्त्र मे अलङ्कार स्वरूप के विषय मे प्रधानतया दो धारणाएँ है। प्रथम तो यह कि अलङ्कार काव्य के स्वरूपाधायक धर्म है और द्वितीय यह कि अलङ्कार काव्य के शोभाधायक धर्म है। प्रायः प्राचीन काव्याचार्य प्रथम मत को मानते है ध्वनिवादी द्वितीय मत को। ध्वनिवादी की दृष्टि मे आत्मा-रस ही अलकरणीय होता है। अलकार अङ्ग द्वारा उसमे शोभा की सृष्टि करते है किन्तु ऐसा नही होता कि वे काव्य के नियत धर्म है। क्योकि निरलंकार शब्दार्थ की भी काव्यता पायी जाती है। मम्मट का काव्य लक्षण—तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि—इस तथ्य को व्यक्त करता है। किन्तु 'सौन्दर्यमलङ्कार, काव्यं ग्राह्यमलंकारात्', इत्यादि वामन की उक्तियाँ कुन्तक के अधिक समीप हैं। जो यह मानते है कि काव्य अलंकृत होता ही है। अर्थात् सालङ्कार शब्दार्थ को ही काव्य कहा जा सकता है। अलङ्कार उसके नित्यधर्म हैं, अनित्य नही। वे लोक की भाँति कहीं से ले आकर काव्य मे जोड़े नही जाते प्रत्युत् काव्य अलंकृत होता ही है। अन्यथा सामान्य उक्ति और काव्य की वर्णना मे भेद क्या रह जायेगा। इसलिए 'सालंकारस्य काव्यता' का तात्पर्य है कि अलकार काव्य के नियतधर्म है, आहार्य नही। वे शोभाधायक धर्म नहीं है प्रत्युत् काव्य के स्वरूपाधायक हैं।)॥ ६॥

सालङ्कारस्य काव्यतेति सम्मुग्धतया किञ्चित्काव्यस्वरूपमासूत्रितम्, निपुणं पुनर्न निश्चितम्। किं लक्षणं वस्तु काव्यव्यपदेशभाग् भवतीत्याह—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥ ७ ॥

शब्दार्थौ काव्यं वाचको वाच्यश्चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम्। द्वावेकमिति विचित्रैवोक्तिः। तेन यत्केषांचिन्मतं कविकौशलकल्पितकमनीयतातिशयः शब्द एव केवलं काव्यमिति, केषाञ्चिद् वाच्यमेव रचनावैचित्र्यचमत्कारकारि काव्यमिति, पक्षद्वयमपि निरस्तं भवति। तस्माद्द्वयोरपिप्रतितिलमिव तैलं तद्विदाह्लादकारित्वं वर्तते, न पुनरेकस्मिन्। यथा—

भण तरुणि रमणमन्दिरमानन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि ।
यदि सलीलोल्लापिनि गच्छसि तत्किंत्वदीयमे ॥ ९ ॥
अनणुरणन्मणिमेखलमविरतशिञ्जानमञ्जुमञ्जीरम् ।
परिसरणमरुणचरणे रणरणकमकारणं कुरुते ॥ १० ॥

काव्य-स्वरूप—की भूमिका प्रस्तुत करते हुए कहते है—सालङ्कारस्येति ।

'सालङ्कार की काव्यता होती है इस प्रकार सम्मोहित-सा होते हुए (अस्पष्टतया) कुछ काव्य का स्वरूप निबन्धित किया (अवश्य) किन्तु सही ढंग से उसका स्वरूप-निर्धारण नहीं किया। अतः किस रूप की वस्तु काव्य नाम को प्राप्त होती है ? इस पर कहते है—

'काव्यविद् में आह्लाद पैदा करनेवाले, तथा वक्रकविव्यापार से सुशोभित रचना में व्यवस्थित सहित (सम्मिलित) शब्दार्थ काव्य (कहे जाते हैं)' ॥ ७ ॥

'शब्द और अर्थ काव्य हैं। वाचक (शब्द) और वाच्य (अर्थ) दोनों भली-भाँति मिलकर ही काव्य कहे जाते है। दो (शब्द-अर्थ मिलकर) एक है, यह तो विचित्र ही कथन है। इसलिए जो कतिपय लोगों का यह मत है कि कवि की कुशलता से कल्पित अतिशय कमनीय केवल शब्द ही काव्य है, और जो किन्हीं और का मत कि, रचना की विचित्रता से चमत्कार पैदा करनेवाला अर्थ ही काव्य है। ये दोनों ही पक्ष (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्) से निरस्त हो जाते है। इसलिए दोनों में ही प्रत्येक तिल में तैल की भाँति काव्यविद् को आह्लाद पैदा करने की सामर्थ्य (काव्यता) होती है, न कि किसी एक (पृथक्-पृथक् शब्द या अर्थ) में। उदाहरणार्थ—

प्रियतम के पास जाती हुई रमणी के प्रति किसी तरुण की उक्ति है—अरी, आनन्द प्रवाहित करनेवाले चन्द्र सरीखे मुखवाली, सविलास संभाषण करनेवाली, लाल पैरोंवाली नवयौवने, यदि तुम अपने रति प्रेमी प्रिय के पास जाती हो तो तुम्हीं बताओ क्योंकर तुम्हारा, अतिशय बजती मेखला (रणरणाती हुई करधन) एवं निरन्तर बजते मधुर पायलिया से युक्त मधुर मन्द गमन मुझमें अकारण उत्कण्ठा (काम-अभिलाषा) पैदा करता है।'

प्रतिभादारिद्र्यदैन्यादतिस्वल्पसुभाषितेन कविना वर्ण्यसावर्ण्यरम्यतामात्रमत्रोदितम्। न पुनर्वाच्यवैचित्र्यकणिका काचिदस्तीति।

यत्किल नूतनतारुण्यतरङ्गित लावणलटभकान्तेः कान्तायाः कामयमानेन केनचिदेतदुच्यते। यदि त्वं तरुणि रमणमन्दिरं व्रजसि तत्किं त्वदीयं रणरणकमकारणं मम करोतीत्यतिग्राम्येयमुक्तिः। किञ्च, न अकारणम्। यतस्तस्यास्तदनादरेण गमनेन तदनुरक्तान्तःकरणस्य विरहविधुरिताशङ्काकातरता कारणं रणरणकस्य। यदि वा परिसरगस्य मया किमपराद्धमित्यकारणतासमर्पकम्, एतदप्यतिग्राम्यतरम्। सम्बोधनानि च बहूनि मुनिप्रणीतस्तोत्रामन्त्रणकल्पानि न काञ्चिदपि तद्विदाह्लादकारितां पुष्णन्तीति यत्किञ्चिदेतत्।

यहाँ उक्त वर्णन मे प्रतिभा के दारिद्र्य के कारण दीनतावश (जैसे और कोई चारा ही न हो) अत्यन्त स्वल्प सुभाषित से कवि ने वर्णो की सावर्ण्यता मात्र की रमणीयता का वर्णन किया है (अनुप्रास मात्र का सहारा लिया है क्योकि — वर्णसाम्यमनुप्रासः) । किन्तु यहाँ अर्थ-वैचित्र्य (सौन्दर्य) का कोई लेशमात्र भी नही है। (वस्तुतः वक्ता—बोद्धा के ऊपर ही अर्थ-सौन्दर्य निर्धारित है। उक्त रचना मे जहाँ वर्णसाम्य ध्वनि सङ्गीत है वही उसके एक-एक पदो में अर्थ-सौन्दर्य भी है।)

उक्त वर्णन मे कोई वक्रता नहीं है इसी को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं—यदिति। 'जो अभिनव तरुणाई से तरलित मनोहरता—अङ्गो की मुग्धिमा (लावण्य सस्थान मुग्धिमा—लोचन) एव कमनीय आभावाली रमणी को चाहनेवाले किसी (नायकेतर व्यक्ति) द्वारा यह कहा जा रहा है—हे रमणि, यदि तुम अपने रमण के घर जा रही हो तो क्यो तुम्हारा मन्दगमन अकारण ही मुझ मे (तवाभिलाष विषयक) उत्कण्ठा पैदा कर रहा है—इस प्रकार का यह कथन अत्यन्त ग्राम्य है। और तो और यह रणरणक अकारण भी तो नही है। क्योकि वह रमणी उस मनचले युवक का अनादर कर गमन करती है। जिससे उस युवती मे अनुरक्तहृदय उस युवक की (नायिका की अप्राप्तिजन्य) विरह-विधुरता की आशङ्काजनित कातरता ही रणरणक का कारण है। (तात्पर्य यह कि उत्कण्ठा का कारण तो रमणी द्वारा युवक का तिरस्कार करके जाना और उस युवक की अप्राप्तिजन्य वियोगकातरता ही है)। अथवा (तुम्हारे) परिसरण का मैने क्या अपराध किया है, यह कथन भी अकारणता का समर्थक (समर्पक है) और यदि है तो यह तो और भी अधिक ग्राम्य उक्ति है। कोई कह सकता है कि नायिका के लिए 'आनन्दस्यन्दी' त्यादि सम्बोधनो मे तो सौन्दर्य है? इसी का प्रतिवाद करते है—मुनियों से प्रणीत स्तोत्रो मे प्रयुक्त सम्बाधन सरीखे अनेक सम्बोधन तो किसी भी प्रकार की तद्विदो (काव्यज्ञो) की आह्लादकारिता की पुष्टि नही करते। इसलिए यह वर्णन तो जो भी है तुच्छमात्र है। (वर्ण-साम्यता मे काव्यत्व नही हो सकता का प्रतिपादन किया)। अब आगे कहते हैं।

वस्तुमात्रं च शोभातिशयशून्यं न काव्यव्यपदेशमर्हति यथा—

प्रकाशस्वाभाव्यं विदधति न भावास्तमसियत्
तथा नैते ते स्युर्यदि किल तथा तत्र न कथम् ।
गुणाध्यासाभ्यासव्यसनदृढदीक्षागुरुगुणो
रविव्यापारोऽयं किमथ सदृशं तस्य महसः ॥११॥

अत्र हि शुष्क तर्कवाक्यवासनाधिवासित चेतसा प्रतिभाप्रतिभातमात्रमेव वस्तु व्यसनितयाकविना केवलमुपनिबद्धम् । न पुनर्वाचकवक्रता विच्छित्तिलवोऽपि लक्ष्यते । यस्मात्तर्कवाक्यशैय्यैव शरीरमस्य श्लोकस्य । तथा च तमोव्यतिरिक्ताः पदार्था धर्मिणः प्रकाशस्वभावा न भवन्ति, इति साध्यम् । तमस्य तथाभूतत्वादिति हेतुः ।

दृष्टान्तस्तर्हि कथं न दर्शितः ? तर्कन्यायस्यैव चेतसिप्रतिभासमानत्वात् । तथोच्यते ।

और अतिशय शोभा विरहित वस्तुमात्र वर्णन भी काव्य नाम का भागी नहीं होता । जैसे—

'सासारिक भाव (घट, पटादि पदार्थ) स्वयं प्रकाश स्वरूप को नही प्रात होते, क्योकि ये वे पदार्थ अन्धकार मे उस प्रकार नहीं होते (जैसे प्रकाश मे प्रकाशमान होते है), यदि वे प्रकाश-स्वभाव होते तो फिर उस अन्धकार मे क्यो नही वैसे प्रकाश-स्वभाव होते है । वस्तुतः (प्रकाशादि) गुणो के अध्यास (मिथ्या प्रतीति) की पुनः पुनः आवृत्ति रूप व्यसन की दृढ़ दीक्षा का महान गुणयुक्त सूर्य का ही यह सब व्यापार है, अथवा उस (रवि-व्यापार) के प्रकाश के समान दूसरा और कौन है ! ११ ॥ (अर्थात् सूर्यप्रकाश ही सबको प्रकाशित करता है अन्य भावों मे स्वयं प्रकाश की सामर्थ्य नही है ।)

इस वर्णन मे नीरस तर्कवाक्य (अनुमान) की वासना (सस्कार) से वासित चित्तवाले कवि से वस्तुव्यसनिता के कारण प्रतिभा से प्रतीतमात्र केवल वस्तु का ही निबन्धन किया गया है । किन्तु शब्दवक्रता की विच्छित्ति का अशमात्र भी इसमें परिलक्षित नही होता । क्योकि तर्कवाक्य की शैय्या मात्र ही इस श्लोक का शरीर है—स्वरूप है । तो जैसे कि, अन्धकार से व्यतिरिक्त अन्यधर्मी पदार्थ (क्योंकि अन्धकार तो स्वयं भी प्रकाशस्वाभाव्य नही है) प्रकाशस्वभाव नही होते, यह (उस तर्क-वाक्य का) साध्य है और 'क्योकि वे अन्धकार मे उस प्रकार के (प्रकाश-स्वभाव) नही होते यह (उस अनुमान-वाक्य मे) हेतु है ।

प्रश्न—यदि उक्त श्लोक मे तर्क-वाक्य है और उक्त प्रकार से साध्य-हेतु दोनो है तो 'क्यो नही दृष्टान्त इसमे दिखाया गया ?' (क्योकि बिना दृष्टान्त के अनुमान दूषित होगा) । उत्तर देते हैं कि, 'कवि के चित्त मे तर्क न्याय का ही प्रतिभास हो रहा था (इसलिए उसने दृष्टान्त नही दिया) ।'

तद्भावौ हेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिन ।
स्थाप्येते, विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः ॥१२॥ इति ।

विदधतीति-वि पूर्वो दधातिः करोत्यर्थे वर्तते । स च करोत्यर्थोऽत्र न सुस्पष्टसमन्वयः । प्रकाशस्वाभाव्यं न कुर्वन्तीति । प्रकाशस्वाभाव्य शब्दोऽपि चिन्त्य एव । प्रकाशः स्वभावो यस्यासौ प्रकाशस्वभावः । तस्य भाव इति

और कहा भी गया है—

'दृष्टान्त मे तद्भाव (साध्य) और तद्धेतु (साध्य का साधक लिङ्ग) भाव उसके (साध्य-साधन भावरूप अनुमान के) अजानकार के लिए ही स्थापित किये जाते है । विद्वानो के लिए तो केवल हेतु को ही कहना चाहिए (अन्य साध्य-साधन आदि तो वे जानते ही है) ॥१२॥ (वस्तुतः अनुमान, न्यायदर्शन के अनुसार— प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन —पञ्चावयवों द्वारा किया जाता है । उक्त तर्क-वाक्य मे साध्य-साधन भाव तो है किन्तु दृष्टान्त नही । कुन्तक ने कहा है कि दृष्टान्त आदि का प्रयोग तो अनुमान-प्रक्रिया से अनभिज्ञ के लिए होता है । अतः चूँकि कवि को इस प्रकिया का ज्ञान था इसलिए उसने दृष्टान्त आदि का सहारा नही लिया । किन्तु ध्यान देने की बात तो यह है कि दृष्टान्त देने पर भी यहाँ पञ्चावयव की बात सिद्ध नही होती । बौद्ध एवं जैन-सिद्धान्तो मे कतिपय विद्वान् अनुमान के लिए हेतु एवं दृष्टान्त मात्र का प्रयोग करते है । अतः बहुत सभव है कि इस कथन मे यहाँ कुन्तक उन्ही से प्रभाविन हो । इस पर विस्तृत विवेचन पं० विश्वेश्वर की टीका मे द्रष्टव्य है । पुनः स्मर्तव्य है कि, इस कारिका को महिमभट्ट ने भी अपने व्यक्ति विवेक मे प्रस्तुत किया है । ध्वनि का अनुमान मे अन्तर्भाव करने के लिए उन्होने त्रिरूप लिङ्गाख्यानरूप परार्थानुमान का सहारा लिया है । कोई कहे कि दृष्टान्त आदि काव्यो मे तो मिलते नही, फिर कैसे अनुमान सिद्ध होगा ? इसी के उत्तर मे उन्होने उक्त कारिका उद्धृत की है, जिसका सही अर्थ टीका मे राजानक रुय्यक ने प्रस्तुत किया है । उन्होने कहा है कि काव्य-शास्त्र मे भेद है । इसलिए दोनो के अनुमान मे भी भेद पाया जाता है । काव्य मे चमत्कार पाया जाता है, शास्त्र मे नही । अतः काव्यानुमान तर्कानुमान से विलक्षण ही होता है । इसलिए यह आवश्यक नही कि, काव्यानुमान मे भी तर्कानुमान की भाँति व्याप्ति आदि का सहारा लिया जाय—

'नन्वत्र विद्वदविद्भेदेन व्याप्तिसाधनप्रमाणविपयस्य दृष्टान्तस्याप्रयोगः प्रयोगश्चोक्तः । न काव्ये कदाचिद् दृष्टान्तस्य प्रयोगो दृश्यते । तत्कथमत्रानुमानसमर्थनम् । उच्यते । काव्यानुमानं तर्कानुमानविलक्षणं काव्यस्य चमत्कारसारत्वात् । ···'काव्ये न व्याप्त्यादिमुखेनानुमानप्रदर्शनसमर्थनमिति । रुय्यककृत क० वि० व्याख्या पृ० ६९ ।

'और यहाँ 'विदधति' में वि उपसर्गपूर्वक 'धा' धातु (करणार्थक) 'कृ' के अर्थ मे प्रयुक्त है । और वह 'कृ' अर्थ भी यहाँ (प्रकाशस्वाभाव्यम् आदि मे) सुस्पष्ट-

भावप्रत्यये विहिते पूर्वपदस्य वृद्धि प्राप्नोति। अथ स्वभावस्य भावः स्वाभाव्यमित्यत्रापि भावप्रत्ययान्ताद्भावप्रत्ययो न प्रचुर प्रयोगार्हः। तथा प्रकाशश्चासौ स्वाभाव्यञ्चेति विशेषणसमासोऽपि न समीचीनः।

तृतीये च पादेऽत्यन्तासमर्पकसमासभूयस्त्ववैशसं न तद्विदाह्लादकारितामावहति। 'रविव्यापार' इति रविशब्दस्य प्राधान्येनाभिमतस्य समासे गुणीभावो न विकल्पितः। पाठान्तरस्य 'रवेः' इति सम्भवात्।

तया समन्वित नही होता कि अर्थ हो 'प्रकाशस्वाभाव्य को नही करते।' (इस प्रकार उक्त मे 'धा' धातु का प्रयोग भी सही ढंग से नही किया गया)। 'प्रकाश स्वाभाव्य' शब्द भी यहाँ चिन्तनीय ही है। प्रकाश जिसका स्वभाव है वह प्रकाशस्वभाव हुआ। उसका भाव हुआ प्रकाशस्वाभाव्य। इस प्रकार प्रकाशस्वभाव शब्द से भाव प्रत्यय (ष्यञ्) करने पर नियमतः (ञित् होने के कारण) पूर्वपद को भी वृद्धि प्राप्त होती है (और इस प्रकार 'प्रकाशस्वाभाव्यम्' न होकर शब्दस्वरूप 'प्राकाशस्वाभाव्यम्' होना चाहिए था, अतः भावप्रत्यय करने पर वह शब्द ही अशुद्ध है)। और यदि स्वभाव का भाव स्वाभाव्य होता है, इस प्रकार से भावप्रत्ययान्त शब्द स्वभाव (स्वभाव मे दो पद है स्व-भाव। भू धातु से भाव अर्थ मे घञ् प्रत्यय करके भाव शब्द बनता है। पुनः उसका स्व के साथ समास होने पर स्वभाव शब्द बना। इस प्रकार स्वभाव शब्द स्वय मे भाव प्रत्ययान्त है) से पुनः भाव प्रत्यय (ष्यञ्) का करना प्रयोग के बहुत अधिक उपयुक्त नही है। और यदि भावप्रत्ययान्त से भावप्रत्यय करके स्वाभाव्य बना भी ले तो, 'प्रकाशश्चासौ स्वाभाव्यम्' ऐसा विशेषण समास करके भी (प्रकाशस्वाभाव्यम् शब्द बनाना) उपयुक्त नही है।

और श्लोक के तृतीय पाद (गुणाध्यासाभ्यासव्यसनदृढदीक्षागुरु गुणः) मे (अर्थ के) अतिशय असमर्पक (सहजभाव से बोध न कराने वाले) समासबाहुल्य की कष्टता तद्विदों (काव्यमर्मज्ञों) की आह्लादकारिता को नही पैदा करती।

और चतुर्थ पाद मे आये 'रविव्यापारः' शब्द मे यद्यपि रवि शब्द की प्रधानता अभीष्ट है किन्तु समास मे ('रवेः व्यापारः रविव्यापारः' इस प्रकार के समास मे रविशब्द गौण हो जाता है; क्योकि नियम है कि समास मे पूर्वपद गौण होता है) उस (रवि) शब्द के गौणभाव को विकल्पित नही किया जा सका (अर्थात् और किसी प्रकार से उसका गौणभाव दूर नही किया जा सका)। यद्यपि 'रवेः व्यापारः' ऐसा प्रयोग रूपपाठान्तर करके इस दोष से बचना सभव था (क्योकि 'रवेः व्यापारोऽयम्' प्रयोग करने पर छन्दोभङ्ग नही होता)। किन्तु कवि इस दोष से भी नही बच सका। अतः उक्त रचना अनेक दोषदुष्ट होने के कारण काव्यपदव्यपदेश्य नही हो सकती।

ननु वस्तुमात्रस्याप्यलंकारशून्यतया कथं तद्विदाह्लादकारित्वमिति चेत् तन्न, यस्मादलङ्कारेणाप्रस्तुतप्रशंसालक्षणेनान्यापदेशतया स्फुरितमेव कविचेतसि। प्रथमं च प्रतिभाप्रतिभासमानमघटितपाषाणशकलकल्पमणिप्रख्यमेव वस्तु विदग्धकविविरचितवक्रवाक्योपारूढं शाणोल्लीढमणिमनोहरतया तद्विदाह्लादकारिकाव्यत्वमधिरोहति। तथा चैकस्मिन्नेव वस्तुन्यवहितानवहितकविद्वितयविरचितं वाक्यद्वयमिदं महदन्तरमावेदयति—

मानिनीजनविलोचनपातानुष्णबाष्पकलुषानभिगृह्णन्।
मन्दमन्दमुदितः प्रययौ खं भीत भीत इव शीतमयूखः ॥१३॥

क्रमादेकद्वित्रिप्रभृतिपरिपाटीः प्रकटयन्।
कलाः स्वैरं स्वैरं नवकमलकन्दाङ्कुररुचः।
पुरन्ध्रीणां प्रेयोविरहदहनोद्दीपितदृशां
कटाक्षेभ्यो बिभ्यन्निभृत इव चन्द्रोऽभ्युदयते ॥१४॥

प्रश्न उठता है कि, यदि वस्तुमात्र मे आप आह्लादकारिता नहीं मानते तो अलंकारशून्य वस्तुमात्र की तद्विद आह्लादकारिता कैसे हो सकती है ? उत्तर है कि यदि कोइ ऐसा प्रश्न करे तो वह ठीक नही, क्योकि इस प्रकार की रचना मे कवि के चित्त मे पहले से ही किसी अन्य को व्यपदेश कर अप्रस्तुत प्रशंसा स्वरूप (कोई न कोई, अलङ्कार तो स्फुरित हुआ ही रहता है) और वस्तु जब प्रथमतः कवि की प्रतिभा मे प्रतिभासित होती है उस समय तो उसका स्वरूप बिना तराशे हुए अतएव पत्थर के टुकड़े सरीखे मणि के समान ही होता है। और तदनन्तर विदग्ध कवि से निबन्धित वक्र वाक्य मे समारूढ़ होकर वही वस्तु शान से तराशे मणि के समान मनोहारी हो जाती है और इस प्रकार वह काव्यमर्मज्ञ सहृदय को आह्लाद प्रदान करने वाले काव्य पदवी को प्राप्त हो जाती है। दूसरी बात तो यह है कि एक ही विषयवस्तु मे सावधान और असावधान दो भिन्न कवियो से विरचित ये (नीचे दिये जाने वाले श्लोकद्वयरूप) दो वाक्य महान् अन्तर को सूचित करते है—

प्रकृत श्लोक भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' के नवे सर्ग का २६वॉ श्लोक है। विषय चन्द्रोदय का है—

'उदित हुआ चन्द्रमा गरम-गरम ऑसुओ से धूमिल कोपवती नायिकाओं के दृष्टि प्रहारों को स्वीकार करता हुआ डरा-डरा सा धीरे-धीरे आकाश मे ऊपर चढ़ा' ॥१३॥

चन्द्रोदय का ही एक दूसरा भी वर्णन है—कमल की कन्दली के अभिनव अङ्कुर के समान कान्तिवाली कलाओं को क्रमशः एक-दो-तीन की परम्परा से प्रकट करता हुआ, प्रियतम की विरहज्वाला से जलती ऑखोवाली रमणियों (उत्तम महिलाओ) के कटाक्षों से डरता अतएव चुपचाप-सा चन्द्रमा उदित हो रहा है ॥१४॥

एतयोरन्तरं सहृदयहृदयसंवेद्यमिति तैरेव विचारणीयम् । तस्मात् स्थित-मेतत्—न शब्दस्यैव रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वम् , नाप्यर्थस्येति । तदिदमुक्तम्—

रूपकादिरलंकारस्तथान्यैर्बहुधोदितः ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ॥१५॥
रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे ।
सुपांतिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् ॥१६॥
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।
शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयन्तु न ॥१७॥

इन उपर्युक्त दोनो (अवहित कवि भारवि एवं अनवहित किसी और कवि की) रचनाओं का अन्तर (स्वय) सहृदयहृदयसवेद्य है । अतः उन्ही से विचारणीय है (कि दोनो मे अन्तर है या नही) । वस्तुतः दोनो ही रचनाओं मे छन्द एव वर्णन शैली के कारण रमणीयता मे काफी अन्तर आ गया है । छन्द की मनोहरता, कोमल वर्णो की विन्यासवक्रता एवं सद्योग्राहिता तथा अर्थगाम्भीर्य होने से प्रथम रचना अधिक हृदयहारिणी हो गयी है, जबकि द्वितीय मे एक तो छन्द ही विषयानुरूप नही है, श्रुतिकटु शब्दो का विन्यास तथा अर्थ की अरमणीयता पाठक को रुचिकर (नही लगती ।) इसलिए (उक्त उदाहरणो से सिद्ध होने के कारण) यह बात स्थित रही कि न केवल रमणीयता विशिष्ट शब्द की ही काव्यता होती है और न अर्थ की ही । इसीलिए आचार्य भामह ने अपने काव्यालङ्कार (१।१५–१७) मे यह तथ्य कहा है—

'अन्य अनेक (मेरे पूर्ववर्ती) आचार्यो ने अनेक प्रकार से रूपक आदि अर्थालङ्कारों का विवेचन किया है । सुन्दर भी युवती-मुख बिना गहनो के सुशोभित नहीं होता (तद्वत् सुन्दर भी काव्यवस्तु अलङ्कारों के बिना सुशोभित नही होती) ॥१५॥

किन्तु कुछ और आचार्यगण रूपक आदि अर्थालङ्कारो को (काव्य की) बाह्य भूषा बताते हैं और सुबन्त एव तिङन्त पदो की व्युत्पत्ति को ही वाणी का अलङ्कार कहना चाहते है ॥१६॥

तो यह (सुबन्त एवं तिङन्त पदो का सन्निवेश मात्र) तो सौशब्द्य (शब्द सौन्दर्य) हुआ; क्योकि अर्थ की व्युत्पत्ति इस प्रकार की (चमत्कारजनक) नहीं होती । इसलिए शब्दालङ्कार एवं अर्थालंकार भेद से दोनो ही मुझे (भामह को) अभीष्ट (मान्य) हैं ॥१७॥

(ऊपर की भामह की उक्तियों से लगता है कि उनके पूर्व अलङ्कारशास्त्र में दो कवि वर्ग थे । एक तो शब्दालङ्कारपरक दूसरे अर्थालङ्कारपरक । परन्तु भामह को

तेन शब्दार्थौ द्वौ सम्मिलितौ काव्यमिति स्थितम्। एवमवस्थापिते द्वयोः काव्यत्वे काचिदेकस्य मनाङ्मात्रन्यूनतायां सत्यां काव्यव्यवहारः प्रवर्तेतेत्याह—सहिताविति। सहितौ सहितभावेन साहित्येनावस्थितौ। ननु च वाच्यवाचकसम्बन्धस्य विद्यमानत्वादेतयोर्न कथंचिदपि साहित्यविरहः। सत्यमेतत्, किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्। कीदृशम्? वक्रताविचित्रगुणालङ्कारसम्पदां परस्परस्पर्धाधिरोहः। तेन—

किसी एक की वात नही सुहाई और उन्होने दोनों ही भेदो को स्वीकार किया। कारिका मे सुप् और तिङ् पद क्रमशः संज्ञा एवं क्रियापदों के लिए प्रयुक्त है। किन्तु इनके अभिधान का तात्पर्य मात्र सज्ञा एव क्रियापदो से न होकर शब्दमात्र से हैं। शब्दालंकारसमर्थक लोगो का कथन है कि काव्य मे प्रथमतः शब्द ही पाठक के समक्ष आते हैं, हृदय पर पहला प्रभाव उन्ही का पड़ता है। अतः हृदय को आवर्जित करने के कारण वे ही है। स्वभावतः शब्दालकार ही काव्य मे प्रधान हैं। अर्थ की प्रतीति बाद मे होती है। अतः उसके अलंकार गौण एवं बाह्य है। किन्तु भामह इन दोनो मतो को लेकर चलते है। और बाद के आचार्यो ने भी प्रायः यही बात मानी। मम्मट ने तो काव्य-प्रकाश मे समर्थन के लिए भामह की इन कारिकाओं को उद्धृत भी किया है।)

इसलिए (क्योंकि प्राचीन आचार्य भी शब्द-अर्थ दोनो का सौन्दर्य स्वीकार करते है और स्वयं भामह—शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्—काव्य की परिभाषा मानते है) शब्द और अर्थ दोनो सम्मिलित होकर काव्य होते है, यह स्थिर हुआ। इस प्रकार काव्यता दोनो (शब्द अर्थ) मे है, यह अवस्थापित हो जाने पर (उनमे से) किसी एक की कुछ थोड़ी-सी भी न्यूनता हो जाने पर भी काव्य व्यवहार (न) प्रवर्तित हो जाय, इसलिए सहितौ (शब्दार्थौ) ऐसा कहा है। सहितौ, तात्पर्य सहितभाव से साहित्य से अवस्थित (शब्द-अर्थ) काव्य होते है। (शब्दवाचक होता है और अर्थ उसका वाच्य। दोनों का नित्य सम्बन्ध है। इसलिए इस बात को लेकर यदि कोई प्रश्न करे कि) वाच्यवाचक सम्बन्ध के विद्यमान रहने से इन दोनो (शब्द-अर्थ) मे किसी भी प्रकार से साहित्य का अभाव तो पाया नही जाता? (फिर आपने 'सहितौ' विशेषण क्यो दिया? इसका उत्तर देते है)। यह कथन सत्य है (कि शब्द-अर्थ का वाच्यवाचक सम्बन्ध है। इसलिए उनमे सहभाव तो विद्यमान ही है किन्तु मेरे कथन का तात्पर्य कुछ और ही है, और वह यह है कि) यहाँ पर 'सहितौ' पद से (सामान्य साहित्य की अपेक्षा) विशिष्ट प्रकार का ही साहित्य अभीष्ट है। (प्रश्न) कैसा है (वह विशिष्ट साहित्य)? उत्तर देते हैं—(वक्ष्यमाण) वक्रता से कमनीय गुण और अलङ्कार विभूतियों का आपस मे स्पर्धा को प्राप्त हो जाना (ही शब्दार्थ का विशिष्ट साहित्य यहाँ अभिप्रेत है)।

समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव सङ्गतौ ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा ।।१८।।
ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपु शशी ।
दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम् ।।१९।।

अत्रारुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुषः शशिन. कामपरिक्षीणवृत्तेः कामिनी कपोलफलकस्य च पाण्डुत्वसाम्यसमर्थनात् अर्थालङ्कारपरिपोषः शोभातिशय-मा-वहति । वक्ष्यमाण वर्णविन्यास वक्रतालक्षणः शब्दालंकारोऽप्यतितरां रमणीयः । वर्णविन्यासविच्छित्तिविहिता लावण्यगुणसंपदस्त्येव ।

लीलाइ कुवल अं कुवल अं व सीसे समुव्वहंतेण ।
सेसेण सेसपुरिसाणं पुरिसआरो समुव्वसिओ ।।२०।।
[लीलया कुवलयं कुवलयमिव शीर्षे समुद्वहता ।
शेषेण शेपपुरुषाणां पुरुषकारः समुपहसितः ।।२०।।] इतिच्छाया-

इसलिए—

जहाँ समान सर्वगुणसम्पन्न परस्पर सङ्गत दो मित्रों की भाँति (माधुर्यादि) सर्वगुणसम्पन्न शब्द और अर्थ दोनों एक-दूसरे की शोभा के लिए सङ्गत (सहित) होते है (वे ही विशिष्ट शब्द-अर्थ के साहित्य-काव्य कहे जाते है) ॥१८॥

उक्त प्रकार के कथन का समर्थन करने के लिए उदाहरणस्वरूप निम्न श्लोक को कुन्तक ने प्रस्तुत किया है—

तदनन्दर (सूर्य सारथी) अरुण के संचार (सूर्योदय) से क्षीणाभ शरीर चंद्रमा ने काम से मलिन रमणी के कपोल की पाण्डुता की भाँति पीताभ वर्ण को धारण किया ॥१९॥

प्रकृत मे शब्दार्थ की वक्रविच्छित्ति को दिखाते हुए कहते है—अत्रादि । यहाँ पर अरुण के सञ्चार से क्षीणाभ चन्द्रमा की काम से परिक्षीण लगनेवाले कामिनी के कपोलफलक की पाण्डुता की समानता से सादृश्य (उपमा) का समर्थन किया गया है । अतएव अर्थालंकार (उपमा) का परिपोष है, जो अत्यन्त शोभा को पैदा करता है । और आगे कहा जाने वाला वर्णविन्यासवक्रतारूप शब्दालंकार (अनुप्रास) भी यहाँ अत्यन्त रमणीय है । और वर्णों के विन्यास से जायमान शोभा से उत्पन्न लावण्य-गुण की सम्पत्ति (वैभव) तो यहाँ है ही (इस प्रकार इसमे शब्द-अर्थ के अलङ्कार एवं गुणो का परस्पर इस प्रकार प्रयोग है कि वे दोनो एक-दूसरे की शोभा की सृष्टि करते हैं । अनुप्रास से गुणो की सृष्टि हो रही है और गुणो से अनुप्रास की और अनुप्रास-गुण अर्थालङ्कार मे और भी शोभा को बढ़ा रहे है । शब्द-अर्थ के साहित्य का परस्पर स्पर्धाधिरोह यहाँ पूर्णतः निबद्ध है) । शब्दार्थ-साहित्य का द्वितीय उदाहरण प्रस्तुत करते है— 'नील कमल के समान पृथ्वीमण्डल को अनायास शिर से धारण करते हुए भगवान् शेष ने (संसार के) अवशिष्ट सभी पुरुषों (प्राणियों) के पराक्रम का अच्छा उपहास किया है ॥२०॥

अत्राप्रस्तुतप्रशंसोपमालक्षणवाच्यालंकारवैचित्र्यविहिताहेलामात्रविरचित यमकानुप्रास हारिणी समर्पकत्वसुभगा कापि काव्यच्छाया सहृदयहृदयमाह्लादयति ।

द्विवचनेनात्र वाच्यवाचक जातिद्वित्वमभिधीयते। व्यक्तिद्वित्वाभिधाने पुनरेकपदव्यवस्थितयोरपि काव्यत्वं स्यादित्याह-बन्धे व्यवस्थितौ। बन्धो वाक्यविन्यासः तत्र व्यवस्थितौ विशेषेण लावण्यादिगुणालंकारशोभिना सन्निवेशेन कृतावस्थानौ। सहिताविव्यत्रापि यथायुक्ति स्वजातीयापेक्षया शब्दस्य शब्दान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण च साहित्यं परस्परस्पर्धित्वलक्षणमेव विवक्षितम्। अन्यथा तद्विदाह्लादकारित्वहानिः प्रसज्येत।

यहाँ इस वर्णन मे अप्रस्तुत प्रशसा और उपमारूप अर्थालङ्कार के सौन्दर्य से अनायास निर्मित यमक एव अनुप्रास (शब्दालङ्कार) से मन को आकृष्ट करने वाली (अर्थ) समर्पकता के कारण सुन्दर कुछ अपूर्व ही काव्यप्रभा सहृदय के हृदय को आह्लादित करती है। (प्रकृत मे अप्रस्तुत शेष पुरुषो के पुरुषकार के उपहास से प्रस्तुत शेप की महत्ता का वर्णन होने से अप्रस्तुत प्रशंसा अल्ङ्कार है। कुवलय (नील कमल) के साथ कुवलय (पृथ्वीमण्डल की उपमा दी गयी है, अतः दोनो मे उपमा है। कुवलय-कुवलय मे यमक है। शेप्र-शेष, पुरुष-पुरुप मे छेकानुप्रास एवं ल, क, श, ष आदि वर्णविन्यास से वृत्त्यनुप्रास है। इस प्रकार यहाँ भी शब्द एव अर्थ की समान सहभाविता होने से काव्यत्व की प्रसक्ति है)।

अब पुनः कुन्तक कारिका के अवशिष्ट भाग की वृत्ति पर आते है—द्विवचनेन आदि से। यहाँ (शब्दार्थौ सहितौ—' आदि कारिका मे आये शब्दार्थों के) द्विवचन से वाच्य-वाचक (अर्थ और शब्द) के जातिगत द्वित्व का अभिधान किया गया है। (जाति नित्य और अनेक समवेत होती है। अतः जातिगत द्वित्व से तात्पर्य है शब्द-अर्थ का नित्य साहित्य एवं अनेक शब्दो और अर्थो का साहित्य न कि किसी एक शब्द-अर्थ का साहित्य)। यदि (शब्दार्थों से) व्यक्तिद्वित्व का अभिधान (अर्थात् एक ही शब्द-अर्थ का साहित्य विवक्षित) होता तब तो एक पद मे उपात्त (एक ही शब्द-अर्थ) की भी काव्यता हो जाती। (अतएव इसके निवारणार्थ ही कारिका मे कहा गया है कि शब्द और अर्थ का साहित्य) बन्ध मे व्यवस्थित हो। बन्ध-वाक्य-विन्यास—वहाँ (वाक्यविन्यास मे) व्यवस्थित-लावण्य आदि गुण एवं अलङ्कार से सुशोभित विशेष प्रकार के सन्निवेश से व्यवस्थापित (किये गये शब्दार्थ ही काव्य है।) 'सहितौ' इस द्विवचन मे भी यथासंभव शब्द की स्वजातीय शब्द की अपेक्षा अन्य शब्द से एवं अर्थ की स्वजातीय अर्थ की अपेक्षा अन्य अर्थ से परस्पर स्पर्धित्व-रूप ही साहित्य विवक्षित है। अन्यथा शब्द की स्वजातीय शब्द की अपेक्षा शब्दान्तर से एव अर्थ की स्वजातीय अर्थ की अपेक्षा अर्थान्तर से परस्पर स्पर्धित्व रूप साहित्य के अभाव मे तद्विद (काव्यज्ञ) की आह्लादकारिता की हानि हो सकती है। (तात्पर्य

यथा—

असारं संसारं परिमुषितरत्नं त्रिभुवनं
निरालोकं लोकं मरणशरणं बान्धवजनम् ।
अदर्पं कन्दर्पं जननयननिर्माणमफलं
जगज्जीर्णारण्यं कथमसि विधातुं व्यवसित ॥२१॥

अत्र किल कुत्रचित्प्रबन्धे कश्चित्कापालिकः कामपि कान्तां व्यापादयितुमध्यवसितो भवन्नेवमभिधीयते—यदपगतसारः संसार हृतरत्नसर्वस्वं त्रैलोक्यं, आलोककमनीयवस्तुवर्जितो जीवलोकः, सकललोकलोचननिर्माणं निष्फलप्रायम्, त्रिभुवनविजयित्वदर्पहीनः कन्दर्पः, जगज्जीर्णारण्यकल्पमनया विना भवतीति किं त्वमेवंविधमकरणीयं कर्तुं व्यवसित इति ।

एतस्मिन् श्लोके महावाक्यकल्पे वाक्यान्तराण्यवान्तरवाक्यसदृशानि तस्याः सकललोकलोभनीयलावण्यसंपत्प्रतिपादनपराणि परस्परस्पर्धीन्यतिरमणीयान्युपनिबद्धानि कमपि काव्यच्छायातिशयं पुष्णन्ति । मरणशरणं

यह कि यदि शब्दार्थ साहित्य मे उक्त प्रकार का परस्पर स्पर्धित्वरूप साहित्य न हुआ तो सहृदय पाठक को वहाँ आनन्द नही आयेगा और आनन्द न आया तो काव्यता भी वहाँ नही हो सकेगी) ।

जैसे—(प्रकृत श्लोक महाकवि भवभूति के 'मालती माधव' (५।३०) नामक प्रकरण का है । कापालिक मालती का वध करने के लिए तत्पर है । उसी पर माधव की उक्ति है कि इस अद्भुत शोभासृष्टि मालती का वधकर तुम) संसार को नि सार, त्रैलोक्य को रत्नविहीन; संसार को आलोकविहीन, (मालती के) बान्धवजनो को मरण मात्र शरणप्राप्त, काम को गर्वहीन, लोगो के नेत्र-निर्माण को व्यर्थ एवं संसार को जीर्ण जंगल बना देने के लिए क्यो तत्पर हो ॥२१॥

इस श्लोक के सौन्दर्यासौन्दर्य की समीक्षा करने के पूर्व अर्थ करते हुए कहते हैं—अत्रेति । इस किसी प्रबन्ध मे किसी सुन्दरी (मालती) को मारने के लिए तत्पर होता हुआ कोई कापालिक (किसी-माधव के द्वारा) कहा जा रहा है—कि इसके बिना यह संसार सारविहीन, त्रैलोक्य अपहृत सर्वरत्न, जीवलोक प्रकाशस्वरूप रमणीय वस्तु से विहीन, व्यर्थप्राय सम्पूर्ण जगत् के नेत्रो का निर्माण, काम त्रैलोक्य के विजेता रूप गर्व से हीन और संसार पुराने जंगल सदृश हो जायेगा । इसलिए तुम क्यों इस प्रकार के अकरणीय कार्य को करने मे लगे हो ।

महावाक्य के समान इस श्लोक मे उपनिबद्ध एक के बाद दूसरे सभी वाक्य अवान्तर वाक्य के समान है । जो उस (मालती) की सम्पूर्ण जगत् को लुभाने योग्य सौन्दर्य-संपत्ति के प्रतिपादन मे तत्पर है । परस्पर स्पर्धायुक्त कुछ अनिर्वचनीय ही काव्य की शोभातिशयिता को परिपुष्ट करते हैं । (किन्तु इनमे एक ही वाक्य खटकता है) 'मरणशरणं बान्धवजनम्' यह वाक्य (अमङ्गल रूपदोष दुष्ट होने के कारण) इन

बान्धवजनमिति न पुनरेतेषां कलामात्रमपि स्पर्धितुमर्हतीति न तद्विदामाह्लादकारि। बहुषु च रमणीयेष्वेकवाक्योपयोगिषु युगपत्प्रतिभासपदवीमवतरत्सु, वाक्यार्थं परिपूरणार्थं तत्प्रतिभं प्राप्तुमपरं प्रयत्नेन प्रतिभा प्रसाधते। तथा चास्मिन्नेव प्रस्तुतवस्तु सब्रह्मचारि वस्त्वन्तरमपि सुप्रापमेव—

'विधिमपि विपन्नाद्भुतविधिम्'। इति।

प्रथमप्रतिभातपदार्थप्रतिनिधिपदार्थान्तरासंभवे सुकुमारतरापूर्वसमर्पणेन कामपि काव्यच्छायामुन्मीलयन्ति कवयः। यथा—

रुद्राद्रेस्तुलनं स्वकण्ठविपिनोच्छेदो हरेर्वासनं
कारावेश्मनि पुष्पकापहरणम् ॥२२॥

अन्य वाक्यो की अशमात्र भी स्पर्धा करने योग्य नही है। इसलिए (अमङ्गलवाचक होने के कारण) तद्विदो (काव्यमर्मज्ञों) का आह्लादकारक नही है। (वस्तुतः) एक वाक्य के उपयोगी अनेक रमणीय वाक्यो के एक साथ प्रतीति पथ मे अवतरित होने पर (वाक्यार्थ की पूर्ति न होती हो तो) वाक्यार्थ की विधिवत् पूर्ति के लिए अवान्तर वाक्यो के समान अन्य वाक्य को प्राप्त करने के लिए प्रयास करने से प्रतिभा को प्रसाद प्राप्त होता है (अर्थात् प्रतिभा निर्मल होकर तदनुरूप अन्य वाक्य प्रस्तुत करने मे सक्षम हो पाती है।) यहाँ कवि की प्रतिभा एक अवान्तर वाक्य 'मरणशरणम्' आदि मे चूक गयी। प्रयास किया गया होता तो शायद कवि से यह अनवधानता न हो पाती)। इसी श्लोक मे प्रस्तुत वस्तु ('स्मरणशरण बान्धवजनम्' के अतिरिक्त अन्य अवान्तर वाक्यो) के समान (सुन्दर) दूसरी वस्तु (मरणशरणं बान्धवजनं के स्थान पर अन्य वाक्य रचना) आसानी से प्राप्त हो ही जाती है। वह है—

विधिमपि विपन्नाद्भुतविधिम् (ब्रह्मा को भी क्यो विपन्न सुन्दर सृष्टि करना चाहते हो)? यह वाक्य ('मरणशरणं बान्धवजनम्' के स्थान पर रखा जा सकता है और इस प्रकार उक्त दोष दूर हो जाता। किन्तु प्रयास के अभाव मे कवि से असावधानी हो गयी। अतः शब्द की स्वजातीय शब्द से अन्य के साथ एवं अर्थ की स्वजातीय अर्थ की अपेक्षा अन्य अर्थ के साथ परस्पर स्पर्धायुक्त ही साहित्य 'सहितौ' के द्विवचन से अभिप्रेत है)।

कविगण वाक्य-रचना मे प्रथम प्रतीत पदार्थ के प्रतिभटभूत अर्थात् तत्स्पर्धी अन्य-पदार्थ के असभव प्रतीत होने पर उससे भी कोमल अपूर्व पदार्थ के समर्पण से कुछ अकथनीय ही काव्यच्छटा का उन्मीलन करते है। जैसे—

(प्रकृत श्लोक कविवर राजशेखरप्रणीत बालरामायण (१।५१) का है। यहाँ रावण का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है) हिमालय को तुलित कर लेना, (अपने ही भगवान् शङ्कर की प्रसन्नता के लिए अपने कण्ठस्वरूप अरण्य का उच्छेदन (दस शिरों का कर्तन), इन्द्र को कारागृह मे निवसित कराना एव पुष्पक का अपहरण आदि कर लेना (आदि जिसके इस प्रकार के विलास हैं) ॥२२॥

इत्युपनिबद्ध्य पूर्वोपनिबद्धपदार्थानुरूपवस्त्वन्तरासंभवादपूर्वमेव "यस्येदृशाः केलयः" इतिन्यस्तम्, येनान्येऽपि कामपि कमनीयतामनीयन्त। यथा च—

तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसो नीतः प्रदोषस्तथा
तद्गोष्ठ्यैव निशापि मन्मथकृतोत्साहैस्तदङ्गार्पणैः।
तां संप्रत्यपि मार्गदत्तनयनां द्रष्टुं प्रवृत्तस्य मे
बद्धोत्कण्ठमिदंमनः किम .... ॥२३॥

इति संप्रत्यपि तामेवंविधां वीक्षितुं प्रवृत्तस्य मम मनः किमिति बद्धोत्कण्ठमिति परिसमाप्तेऽपि तथाविधवस्तुविन्यासो विहितः—

.... अथवा प्रेमासमाप्तोत्सवम्॥ इति।

येन पूर्वेषां जीवितमिवार्पितम्।

यद्यपि द्वयोरप्येतयोस्तत्प्राधान्येनैव वाक्योपनिबन्धः; तथापि कविप्रतिभा प्रौढिरेव प्राधान्येनावतिष्ठते। शब्दस्यापि शब्दान्तरेण साहित्यविरहोदाहरणं यथा—

इस प्रकार यहाँ रावण के श्लाघ्यवृत्तो का वर्णन करके प्रथम वर्णित पदार्थों के अनुरूप अन्य वस्तु का होना असम्भव होने के कारण अपूर्व ही वस्तु—जिसकी इस प्रकार की विलास-कीड़ाएँ है—यह अवान्तर वस्तु कवि से विन्यस्त की गयी है। जिससे अन्य कथन भी किसी अनिर्वचनीय कमनीयता को प्राप्त करा दिये गये है। और जैसे—

(तापसवत्सराज नाटक के प्रथम अङ्क मे वासवदत्ता के लिए उदयन की यह उक्ति है) उस (वासवदत्ता) के मुखचन्द्र को देखते ही दिन व्यतीत कर दिया, तथा प्रदोष (संध्या) काल भी उसके साथ वार्त्तालाप-संभाषण (गोष्ठी) से ही व्यतीत कर दिया, काम से पैदा किये गये उत्साह से उसके द्वारा अङ्गों के अर्पण (सुख) से रात्रि भी बिता दी। इस समय भी (मेरे आगमन के) पथ पर आँखे लगाये हुई उसी को देखने के लिए मेरा यह मन क्यो उत्कण्ठा से युक्त हो रहा है? ॥२३॥

इस प्रकार इस रचना मे 'इस समय भी इस प्रकार की उसे देखने के लिए प्रवृत्त मेरा मन क्यो उत्कण्ठायुक्त हो रहा है' इस कथन के बाद वाक्य के समाप्त हो जाने पर भी अन्त मे उक्त कथन के समर्थन-हेतु इस प्रकार का वस्तुविन्यास कवि के द्वारा किया गया है—'अथवा प्रेम का आनन्द कभी समाप्त नही होता।' जिससे पूर्व उक्तियो मे जीवन-सा डाल दिया गया है।

यद्यपि इन दोनों ((१) रुद्रादेः इत्यादि एवं (२) तद्वक्त्रेन्दु इत्यादि) रचनाओं मे ही उनके (शब्द अर्थ के परस्पर स्पर्धित्व रूप साहित्य के) प्राधान्य से ही वाक्यो का विन्यास किया गया है, तथापि इनमे कवि की प्रतिभा की परिपक्वता ही प्रधानतया वर्तमान है (तात्पर्य यह कि शब्दार्थ साहित्य में परस्पर स्पर्धित्व कविप्रतिभा पर ही

चारुता वपुरभूषयदासां तामनूननवयौवनयोगः ।
तं पुनर्मकरकेतनलक्ष्मीस्तां मदो दयितसङ्गमभूषः ॥२४॥

दयितसंगमस्तामभूषयदिति वक्तव्ये. कीदृशो मदः, दयितसङ्गमो भूषा यस्येति । दयितसङ्गमशब्दस्य प्राधान्येनाभिमतस्य समासवृत्तावन्तर्भूतत्वाद् गुणीभावो न तद्विदाह्लादकारी । दीपकालङ्कारस्य च काव्यशोभाकारित्वेनोपनि-

---

अवलम्बित है । कवि प्रतिभा की न्यूनता ही काव्य मे न्यूनता की सृष्टि करती है । असावधानी प्रतिभा क्षीणता का ही परिणाम है । 'असार संसारम्' आदि मे• कवि-प्रतिभा की अप्रौढता ही दोष का कारण बन गयी । अतः काव्य-रचना मे प्रतिभा प्रधान तत्त्व है, यह कुन्तक का मत सिद्ध होता है ।)

अब तक कुन्तक ने शब्द और अर्थ का परस्पर स्पर्धितस्वरूप साहित्य दिखाकर काव्यत्व की अपनी परिभाषा को युक्तियुत सिद्ध किया, साथ ही 'असार ससारम्' आदि मे अर्थ का अर्थान्तर से साहित्यविरह भी दिखाया । अब आगे वह शब्द का शब्दान्तर से विरह सिद्ध करने के लिए कहते है—शब्दस्यापीति । शब्द का भी दूसरे शब्द से (परस्पर स्पर्धित्वरूप) साहित्यविरह का उदाहरण जैसे माघ (१०।३३) का यह श्लोक है । (वृत्तान्त रैवतक पर यादवो के विहार का है । यादव अङ्गनाओं के मदिरापान एव उनके सौन्दर्य का विवेचन किया गया है)—

इन गोपाङ्गनाओ (यादव-पत्नियो) के शरीर को सुन्दरता ने विभुषित किया । उस सुन्दरता को (रमणियो के) परिपूर्ण यौवन के संयोग ने, और उस यौवनसगम को मकर केतु काम की शोभा ने और उस मदनश्री को प्रियतम-समागम अलङ्कार-वाले (दयित-प्रिय का सङ्गम-समागम ही जिसकी भूषा अलंकार है) (मदिरा के) मद ने विभूषित किया ॥२४॥

विवेचन करते हैं—प्रिय (दयित) के सङ्गम ने उस (मदनश्री) को विभूषित किया (जहॉ) ऐसा कहना चाहिए (वहाँ कवि ने उस मदनश्री को मद ने अलङ्कृत किया यह कह दिया) और वह मद कैसा है ? प्रिय का सङ्गम जिसकी भूषा है (उस मद ने मदनश्री को विभूषित किया) । इस प्रकार इस उक्ति मे दयित सङ्गम शब्दप्रधान तथा अभिमत है । किन्तु समासवृत्ति मे अन्तर्लीन हो जाने के कारण उसका गुणीभाव (उपसर्जन, गौणत्व) हो गया है जो काव्यज्ञ जनो को आह्लादकारी नही है । और दूसरी बात यह है कि इस श्लोक मे दीपक अलङ्कार काव्यशोभाकारी के रूप मे उपनिबद्ध है, किन्तु उसका निर्वाह ठीक से नही किया । उपसहार के समय वह भङ्गप्राय हो गया है जिससे प्रक्रमभङ्ग दोप भी बन गया है । इस दोष के कारण सरसहृदय व्यक्ति मे वैरस्य उत्पन्न होना अनिवार्य ही है । इस दोष से बचने के लिए 'दवित सङ्गतिरेनम्' यह पाठान्तर तो सुप्राप्त ही है (किन्तु कवि को स्फुरित नही हुआ । यह पाठान्तर स्वयं कुन्तक ने सुझाया है ।)

बद्धस्य निर्वहणावसरे त्रुटितप्रायत्वात् प्रक्रमभङ्गविहितं सरसहृदयवैरस्यमनिवार्यम् 'दयितसङ्गतिरेनम्'।

द्वयोरप्येतयोरुदाहरणयोः प्राधान्येन प्रत्येकमेकतरस्यसाहित्यविरहो व्याख्यात.। परमार्थतः पुनरुभयोरप्येकतरस्य साहित्यविरहोऽन्यतरस्यापि

(जहाँ तक प्रक्रमभङ्ग का प्रश्न है) यह दोष यहाँ माना जा सकता है। किन्तु उसका परिहार भी सम्भव है और पाठान्तर की भी आवश्यकता प्रतीत नही होती। वस्तुतः कवि का भाव तो यहाँ यही प्रतीत होता है कि 'ता मदः' अर्थात् उस मदनश्री को मद ने विभूषित किया। मदिरा से उत्तेजना होती है। मदिरा पान से मत्त यादवाङ्गनाओ मे जिनमे वैसे भी काम वर्तमान था—मदकृत काम का अलङ्करण ही यहाँ कवि को अभीष्ट है। और यही उत्तरार्द्ध के प्रारम्भ मे 'तम्' पद आया है। उस 'तम्' का मद के लिए भी प्रयोग सम्भवतः कवि की दृष्टि मे था और इस प्रकार 'तम् तयितसङ्गमभूपः' सार्थक हो जाता है। उस मद को प्रियतम सङ्गम की भूषा ने सुशोभित किया। ध्यान रहे प्रकरण मद (पान) का है। वर्णन मद का ही है। इसलिए इस क्रम से न केवल कवि को प्रक्रमभङ्ग दोष से बचाया जा सकता है, बल्कि समासगत दोष से भी मुक्त किया जा सकता है।

कुन्तक के इस विवेचन मे 'दीपक' अलङ्कार कथन की बात काव्यशास्त्रीय लक्षणो से प्रमाणित नही होती। प्रायः सभी आचार्यो ने दीपक को उपमा वर्ग का अलङ्कार माना है। अतः वर्णन का उपमा मे पर्यवसान होना चाहिए जो कि इस उक्ति मे नही है। दीपक मे क्रिया गुण रूप धर्म प्रस्तुत, अप्रस्तुत दोनो वाक्यो मे एक होता है—

सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैवा क्रियासु बह्वीषु कारकस्येतिदीपकम्॥ का० प्र० १०।१०३

दीपक अलङ्कार का लक्षण प्रायः सभी आचार्यों का एक जैसा ही है। इस प्रकार यहाँ दीपक न होकर एकावली अलङ्कार ही अधिक उपयुक्त है। एकावली का लक्षण है—

यथापूर्वं परस्य विशेषणतया स्थापनापोहने एकावली।
अ० स० सूत्र ५४

अर्थात् प्रथम के अनुसार पर का विशेषण रूप मे स्थापन या अपोहन (निवर्तन) एकावली अल कार है। इस प्रकार यहाँ प्रथम के प्रति उत्तर-उत्तर का विशेषणरूप मे विन्यास होने के कारण एकावली अलङ्कार ही अधिक समीचीन है। किन्तु इसका समाधान सम्भवतः कुन्तक के ही दीपक लक्षण से हो सकता है। कुन्तक का दीपक लक्षण है—

औचित्यावहमम्लानं तद्विदाह्लादकारणम्।
अशक्तधर्ममर्थाना दीपयद्वस्तु दीपकम्॥

पर्यवस्यति । तथाचार्थः समर्थवाचकासद्भावे स्वात्मना स्फुरन्नपि मृतकल्प-एवावतिष्ठते । शब्दोऽपि वाक्योपयोगिवाच्यासंभवे वाच्यान्तरवाचक सन् वाक्यस्य व्याधिभूत प्रतिभातीत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

प्रकृतं तु । कीदृशे बन्धे—वक्रकविव्यापारशालिनि । वक्रो योऽसौ शास्त्रादि प्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकी षट्प्रकारवक्रताविशिष्ट· कविव्यापारस्त-

---

एकं प्रकाशकं सन्ति भूयासि भूयसा क्वचित् ।
केवलं पंक्तिसस्थं वा द्विविध परिदृश्यते ॥

व० जी० ३।१५–१७

अर्थात् अर्थो के अशक्त धर्म रूप पदार्थ को प्रकाशित करनेवाला दीपक होता है। वह दो प्रकार का है—केवल और पंक्ति। जहाँ बहुतो का प्रकाश एक वहाँ केवल, अनेको के अनेक प्रकाशक वहाँ पक्ति (माला दीपक)। इस प्रकार उक्त मे केवल दीपक हो सकता है। प० विश्वेश्वर ने कुन्तक के लक्षण से ही उक्त मे दीपक की बात कह दी है, किन्तु उन्होने घटित नही किया। पर कुन्तक के उदाहरणो से लगता यही है कि अनेक लक्षण और उदाहरण भी औरो के ही दीपक के पोषक है। अतः वह समाधान जो आचार्य विश्वेश्वर मानते है वह उतना सारयुक्त नही लगता। वस्तुतः यहाँ पंडितराज जगन्नाथ की उक्ति का सहारा लेना अधिक अच्छा होगा। पंडितराज का रसगङ्गाधर मे कथन है कि शृङ्खलामूलक रत्नावली आदि अलकारों मे दीपक की प्रायः अवस्थिति पायी जाती है। इस दृष्टि से ही यहाँ दीपक को माना जा सकता है। शायद कुन्तक भी इस दृष्टि से परिचित थे। इसी आधार पर उन्होने यहाँ रूपक का विवेचन किया है।)

इन दोनों (श्लोक २१ तथा २४) उदाहरणो मे एक-एक मे (क्रमश· अर्थ एवं शब्द के) साहित्यविरह की व्याख्या की गयी है (अर्थात् 'असारं संसारं' मे अर्थविरह की एवं 'चारुतावपु' आदि मे शब्दविरह की व्याख्या दिखाई गयी है)। वस्तुतथ्य तो यह है कि इन दोनों ही उदाहरणो मे एक के भी (चाहे अर्थ का हो या शब्द का) साहित्यविरह होने पर उसका पर्यवसान दूसरे के भी साहित्यविरह मे हो जाता है (अर्थात् जहाँ अर्थविरह दिखाया है वहाँ शब्दविरह अपने आप हो जाता है क्योकि अर्थ शब्दाश्रित हैं और जहाँ शब्दविरह है वहाँ अर्थ विरह भी हो ही जाता है उक्त रीति से।) और अर्थ (वाक्योपयोगी) समर्थ शब्द (वाचक) की अनुपस्थिति मे अपने आप स्फुरित होता हुआ भी मृत्-सा होकर रह जाता है और वाक्योपयोगी अर्थ के सम्भव न होने पर शब्द भी अन्य अर्थ (प्रकृतानुपयोगी) का वाचक होकर वाक्य का व्याधिभूत-सा प्रतीत होता है। इस प्रकार अब शब्दार्थ साहित्य के प्रसङ्ग का अधिक विस्तार प्रासङ्गिक नहीं होगा।

पुनः उक्त काव्य-विषयक कारिका की व्याख्या मे चलते हैं—प्रकृतं आदि से। अब प्रसङ्ग तो यह है (कि, वह शब्दार्थ-साहित्य) किस प्रकार के बन्ध मे (व्यवस्थित

त्क्रियाक्रमस्तेन शालते श्लाघते यस्तस्मिन्। एवमपि कष्टकल्पनोपहतेऽपि प्रसिद्धव्यतिरेकित्वमस्तीत्याह—तद्विदाह्लादकारिणि। तदिति काव्यपरामर्शः। तद्विदन्तीति तद्विदस्तज्ज्ञास्तेषामाह्लादमानन्दं करोति यस्तस्मिन् तद्विदाह्लादकारिणि ग्रन्थे व्यवस्थितौ। वक्रतां वक्रताप्रकारांस्तद्विदाह्लादकारित्वं च प्रत्येकं यथावसरमेवोदाहरिष्यन्ते ॥७॥

एवं काव्यस्य सामान्यलक्षणे विहिते विशेषलक्षणमुपक्रमते। तत्र शब्दार्थयोस्तावत्सरूपं निरूपयति—

वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धमिति यद्यपि।
तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोऽयमेतयोः ॥८॥

होकर काव्यपदव्यपदेश्य होता है?)—वक्रकविव्यापार से शोभायमान (बन्ध मे व्यवस्थित शब्दार्थ का साहित्य काव्य है)। वक्र—जो यह, शास्त्रादि मे प्रसिद्ध शब्द और अर्थ का उपनिबन्धन है उससे व्यतिरिक्त (वक्ष्यमाण) छः प्रकार की वक्रता से विशिष्ट कवि का व्यापार अर्थात् कविकर्म (काव्य) की परम्परा उससे जो शोभित होता है—प्रशसित होता है, उस बन्ध मे (व्यवस्थित शब्दार्थ काव्य है)। (इस पर प्रश्न हो सकता है कि) इस प्रकार लक्षण होने पर भी कष्ट कल्पना से पीड़ित रचनाओ मे भी शास्त्रादि प्रसिद्ध शब्दो या अर्थों से व्यतिरिक्तता तो हो ही जाती है। (फिर काव्य का वैशिष्ट्य क्या हुआ?) (उत्तर देते है) इसीलिए तो कहा है—तद्विदो को आह्लाद पैदा करने वाले (बन्ध मे अवस्थित शब्दार्थ काव्य है)। (यहाँ 'तद्विदाह्लादकारिणि' पद मे) 'तत्' इस पद से काव्य शब्द का बोध होता है। (तत् काव्य को) उसको जो जानते है वे तद्विद् है अर्थात् उसके (काव्य के) जानकार, उनका आह्लाद-आनन्द जो करता है, ऐसे तद्विद् आह्लादकारी बन्ध मे व्यवस्थित (शब्दार्थ साहित्य काव्य है)। वक्रता, वक्रता के भेदों तथा तद्विद् आह्लादकारिता प्रत्येक यथास्थान प्रस्तुत किये जायेंगे ॥७॥

ध्यान देने की बात है कि कुन्तक ने यहाँ भामहसम्मत काव्यस्वरूप 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' को ही स्वीकार किया है। भामह से कुन्तक का वैशिष्ट्य मात्र इतना ही है कि कुन्तक ने भामहोक्त लक्षण की विस्तृत व्याख्या कर दी है।

इस प्रकार काव्य का सामान्य लक्षण किया। इसके बाद विशेष लक्षण का उपक्रम करते हैं। उसमे भी (विशिष्ट) शब्द-अर्थ का स्वरूप निरूपण करते हैं (आगे की कारिका से)—

'यद्यपि यह प्रसिद्ध है कि अर्थ वाच्य एवं शब्द वाचक कहा जाता है। तथापि इस (वर्ण्यमान) काव्यमार्ग में इन दोनों का वास्तविक अर्थ (स्वरूप) तो यह (आगे नवीं कारिका में वक्ष्यमाण) है' ॥८॥

इति एवंविधं वस्तु प्रसिद्धं प्रतीतम्—यो वाचकः स शब्दः, यो वाच्यश्चाभिधेय सोऽर्थ इति। ननु च द्योतकव्यञ्जकावपि शब्दौ सम्भवतः, तदसंग्रहान्नाव्याप्तिः, यस्मादर्थप्रतीतिकारित्वसामान्यादुपचारात्तावपि वाचकावेव। एवं द्योत्यव्यंग्ययोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यादुपचाराद्वाच्यत्वमेव। तस्माद्वाचकत्वं वाच्यत्वं शब्दार्थयोर्लोके सुप्रसिद्धं यद्यपि लक्षणं, तथाप्यस्मिन् अलौकिके काव्यमार्गे कविकर्मवर्त्मनि अयमेतयोर्वक्ष्यमाण लक्षणः परमार्थः किमप्यपूर्वं तत्त्वमित्यर्थः। कीदृशमित्याह—

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारि स्वस्पन्दसुन्दर ॥ ९ ॥

सः शब्दः काव्ये यस्तत्समुचित समस्त सामग्रीकः। कीदृक् विविक्षितार्थैकवाचक। विवक्षितोयोऽसौ वक्तुमिष्टोऽर्थस्तदेक वाचकः, तस्य एकः केवल

इस प्रकार की वस्तु प्रसिद्ध-प्रतीत है। जो वाचक होता है वह शब्द है, और जो वाच्य-अभिधेय (अभिधा से बोध्य अर्थ होता है) होता है वह अर्थ है। (प्रश्न हो सकता है शब्द द्योतक तथा व्यञ्जक भी होते है उनका आपने लक्षण मे ग्रहण नहीं किया ? उत्तर देते है प्रश्नपूर्वक) द्योतक और व्यञ्जक भी शब्द हो सकते है ! लक्षण मे उनका ग्रहण न करने से अव्याप्ति दोष नही होगा। क्योकि द्योतक और व्यञ्जक शब्दो मे भी अर्थप्रतीतिकारित्वसामान्यता पायी जाती है। अत उपचार (गौण-वृत्ति) से वे भी वाचक ही होते है। इसी प्रकार द्योत्य और व्यञ्जक अर्थो मे भी अर्थप्रतीतिकारित्व सामान्यता पायी जाती है इसलिए उपचार से उनमे भी वाच्यता ही होती है। इसलिए यद्यपि लोक मे शब्द और अर्थ की क्रमशः वाचकता एवं वाच्यता यह लक्षण अच्छी तरह प्रसिद्ध है, फिर भी इस अलौकिक काव्य मार्ग-कविकर्म वृत्ति मे इन दोनो का वक्ष्यमाण स्वरूप यह परमार्थ कुछ अनिर्वचनीय लोकोत्तर ही तत्त्व है। यह अर्थ हुआ ॥ ८ ॥

वह (परमार्थ) कैसा है ? कहते है—

'अन्य शब्दो के रहते भी विवक्षित अर्थ का एकमात्र वाचक शब्द ही वाचक (वास्तविक) शब्द कहा जाता है। और सहृदयहृदय को आह्लादित करने वाला तथा अपनी स्वाभाविकता से सुन्दर अर्थ ही (वास्तविक अर्थ) कहलाता है ॥ ९ ॥

काव्य मे वही शब्द (प्रयोज्य है) जो उस (काव्य) के लिए विधिवत् उपयुक्त समस्त सामग्रियो से युक्त हो। किस प्रकार का (शब्द ऐसा होता है) ?—विवक्षित अर्थ का एकमात्र वाचक। अर्थात् विवक्षित जो यह कहने को अभीष्ट अर्थ होता है, उसका एक वाचक—उसका एक ही मात्र वाचक। कैसे ?—उसके वाचक अन्य बहुत (शब्दों) के उपस्थित रहने पर (जो विवक्षित अर्थ का मात्र वाचक होता है, वही वास्तविक शब्द है)। इसलिए सामान्य रूप से जो अर्थ (कवि को) कहना

एव वाचकः। कथम्—अन्येषु सत्स्वपि। अपरेषु तद्वाचकेषु बहुष्वपि विद्यमानेषु। तथा च सामान्यात्मना वक्तुमभिप्रेतो योऽर्थस्तस्य विशेषाभिधायी शब्दः सम्यग् वाचकतां न प्रतिपद्यते। यथा—

कल्लोलवेल्लितदृषत्परुषप्रहारै-
रत्नान्यमूनि मकराकर मावमंस्थाः।
किं कौस्तुभेन भवतो विहितो न नाम
याञ्चाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि॥ २५॥

अत्र रत्नसामान्योत्कर्षाभिधायिनमुपक्रान्तम्। कौस्तुभेनेति रत्नविशेषाभिधायी शब्दस्तद्विशेषोत्कर्षाभिधानमुपसंहरतीति प्रक्रमोपसंहारवैषम्यं न शोभातिशयमावहति। न चैतद्वक्तुं शक्यते—यः कश्चिद्विशेषो गुणग्रामगरिमा विद्यते स सर्वसामान्येऽपि संभवत्येवेति। यस्मात्—

वाजिवारणलोहानां काष्ठपाषाणवाससाम्।
नारी पुरुषतोयानामन्तरं महदन्तरम्॥ २६॥

तस्मादेवंविधे विषये सामान्याभिधाय्येव शब्दः सहृदयहृदयहारितां प्रतिपद्यते। तथा चास्मिन् प्रकृते पाठान्तरं सुलभमेव—

अभीष्ट है उस अर्थ का विशिष्टतया अभिधान करनेवाला शब्द समुचित वाचकता को नही प्राप्त होता। जैसे—हे मकराकर (समुद्र)! लहरो से लुढ़कते पत्थरो के कठोर प्रहारो से इन (अपने मे ही वर्तमान) रत्नो का तिरस्कार न करो। क्या (तुम्हारे इन्हीं रत्नों मे से कौस्तुभ ने पुरुषोत्तम भगवान विष्णु को भी आपसे माँगने के लिए फैलाये हाथो वाला नही बना दिया ? (अर्थात् तुम्हारी एक कौस्तुभमणि ने पुरुषोत्तम को तुम्हारे सामने याचक बना दिया। अत. ये रत्न तुम्हारे लिए महत्वपूर्ण है उनका तिरस्कार नही करना चाहिए।)

यहाँ रत्नसामान्य के उत्कर्ष बतानेवाले वृत्तान्त का वर्णन प्रारम्भ किया था। किन्तु 'कौस्तुभेन' यह शब्द जो कि रत्नविशेष (कौस्तुभ मणि मात्र) का वाचक है उस (रत्न कौस्तुभ) विशेष (मात्र) के उत्कर्ष का अभिधायक है (इसलिए उपक्रान्त रत्नसामान्य का उत्कर्षाभिधान) समाप्त हो जाता है। इस प्रकार यहाँ प्रारम्भ तथा उपसहार मे विषमता होने से '(प्रक्रमभङ्ग' रूप दोष हो जाता है—जैसा प्रारम्भ हो उपसंहार मे भी वर्णन तदनुरूप होना चाहिए, अन्यथा प्रक्रमभङ्ग रूप दोष होता है। इसलिए ऐसा वर्णन शोभातिशय को नही पैदा करता। और (यदि कोई यह कहे कि) विशेष (कौस्तुभ) मे जो कोई भी गुण वर्ग का गौरव है, वह सम्पूर्ण सामान्य रत्नो मे भी हो ही सकता है ? तो यह नही कहा जा सकता। क्योकि—

अश्व, हाथी, लौह, काष्ठ, पाषाण (पत्थर—रत्नादि, मणियाँ) वस्त्र, स्त्री, पुरुष और जल (आदि मे अपने सवर्गीय से ही) अन्तर, महान् अन्तर है॥ २६॥

पदार्थों मे चूँकि स्ववर्गीय से ही महान् अन्तर देखा जाता है) इसलिए इस प्रकार

एकेन किं न विहितो भवतः स नाम, इति ।

यत्र विशेषात्मना वस्तुप्रतिपादयितुमभिमतं तत्र विशेषाभिधायकमेवाभिधानं निबध्नन्ति कवयः । यथा—

द्वयंगतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनाया कपालिनः ।
कला च साकान्तिमतीकलावत स्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥ २७ ॥

अत्र परमेश्वरवाचक शब्द सहस्रसंभवेऽपि कपालिन इति बीभत्सरसालम्बनविभाववाचकः शब्दो जुगुप्सास्पदत्वेन प्रयुज्यमानः कामपि वाचकवक्रतां विदधाति । 'सम्प्रति' 'द्वयं' चेत्यतीव रमणीयम् । यत् किल पूर्वमेका सैव दुर्व्यसनदूषितत्वेन शोचनीया संजाता, सम्प्रति पुनस्त्वया तस्यास्थाविध-

---

के (विवक्षित सामान्य जैसे) विषय मे सामान्य अर्थ का वाचक ही शब्द सहृदयहृदय को हरण करने की क्षमता रखता है । और जैसे कि इस प्रस्तुत श्लोक कल्लोलवेल्लित) मे पाठान्तर तो सुप्राप ही है—'एकेन किं न विहितो भवत स नाम' एक (कौस्तुभ) से ही क्या आपके समक्ष वह पुरुषोत्तमभी याञ्चा के लिए हस्तप्रसारित बना दिये गये ? (इस प्रकार प्रक्रमोपसंहार वैषम्य दोष से सहज ही बचा जा सकता था ।

जहाँ वस्तु का विशेषतया-प्रतिपादन अभिप्रेत होता है वहाँ कविगण विशेष के ही अभिधायक शब्द (अभिधान) का निबन्धन करते हैं । जैसे—, महाकवि कालिदास प्रणीत 'कुमारसम्भवम्' महाकाव्य के इस (५।७१) श्लोक मे है । यह उस समय का वर्णन है जब भगवान् शिव ब्रह्मचारी के रूप मे पार्वती की परीक्षा के लिए तपोवन मे पधारे है । भिक्षुरूप वह जटिल भगवान् शिव की निन्दा करते हुए उनमे पार्वती के अनुराग को व्यर्थ बताते हुए कह रहे हैं—

कपाली (मुण्डमाला धारण करने वाले भगवान् शङ्कर) के सम्प्राप्ति की अभिलाषा से कलावान् (चन्द्रमा) की सुन्दर वह कला और इस लोक (जगत्) के आँखो की जोन्हाई तुम (पार्वती) इस समय दोनो ही शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो गयी है ॥ २७ ॥

यहाँ प्रकृत वर्णन मे परमेश्वर (शिव) के वाचक अनेक शब्दो के सम्भव होने पर भी बीभत्स रस के आलम्बनभूत विभाव (मुण्ड आदि) का वाचक, 'कपालिन' यह शब्द घृणा के प्रतिष्ठापक के रूप मे प्रयोग किया गया है, अलौकिक (अकथनीय) ही वाचकवक्रता को पैदा करता है । 'सम्प्रति', 'द्वय' ये दोनो शब्द भी अत्यन्त रमणीय है । (वह इस प्रकार) जो पहले अद्वितीय (कलावान् की कला) थी वही (पूर्वकाल मे कपाली के सम्प्राप्ति की अभिलाषा रूप) गलत आदत से विकल होने के कारण शोचनीय हो गयी थी और फिर इस समय तुमने (पार्वती ने) भी उसी के उस प्रकार के (कपाली को प्राप्त करने की अभिलाषा रूप दुर्व्यसनिता) कष्टसाध्य

संरम्भः करिकीटमेघशकलोद्देशेन सिंहस्य य
सर्वस्यैव स जातिमात्रविहितो हेवाकलेशः किल ।
इत्याशाद्विरदक्षयाम्बुदघटाबन्धेऽप्यसंरब्धवान्
योऽसौ कुत्र चमत्कृतेरतिशयं यात्वम्बिका केसरी ॥ २८ ॥

अत्र करिणां 'कीट' व्यपदेशेन तिरस्कारः, तोयदानां च 'शकल' 'शब्दा· भिधेयेनानादरः, 'सर्वस्य' इति यस्यकस्यचित्तुच्छतरप्रायस्येत्यहेला, जातेश्च 'मात्र' शब्द विशिष्टत्वेनावलेपः, हेवाकस्य 'लेश' शब्दाभिधाने नाल्पता प्रतिपत्तिरित्येते विवक्षितार्थैकवाचकत्वं द्योतयन्ति। 'घटाबन्ध' शब्दश्च प्रस्तुतमहत्त्वप्रतिपादनपरत्वेनोपत्तिरतन्निबन्धनतां प्रतिपद्यते । विशेषाभिधानाकाङ्क्षिण पुन· पदार्थस्वरूपस्य तत्प्रतिपादनविशेषणशून्यतया शोभाहानिरुत्पद्यते । यथा—

यात्रान्नुल्लिखिताख्यमेव निखिलं निर्माणमेतद्विधे-
रुत्कर्षप्रतियोगिकल्पनमपिन्यक्कारकोटिःपरा ।

हस्तिरूपी कीड़े एव मेघखण्ड को उद्देश्य कर सिंह का जो आवेश है वह तो सभी (सिंहो) की जातिमात्र से प्राप्त स्वभाव का अंशमात्र है (ऐसा सोचकर) दिग्गजो एवं प्रलयकालीन मेघो के घटाघोप पर भी आविष्ट न होने वाला जो यह माँ (दुर्गा) का (वाहनभूत) सिंह है, वह चमत्कार की अतिशयिता हेतु कहाँ जाये ॥२८॥

यहाँ (उक्त श्लोक मे) 'कीट' कथन से हाथियो का तिरस्कार सूचित होता है। और 'शकल'—खण्ड शब्द के कहने से मेघो का अनादर किया गया है। 'सर्वस्य' (सभी सिंहो के) पद से जिस किसी अत्यन्त तुच्छ प्राय (सिंह) (अर्थ व्यक्त होता है) जो उसका तिरस्कार व्यक्त करता है और जाति के 'मात्र' शब्द से विशिष्ट करके कहने से (अम्बिका के सिंह का) दर्प सूचित किया जाता है। हेवाक (स्वभाव) का 'लेश' शब्द से अभिधान किये जाने से (हेवाक के) स्वल्पता की प्रतीत होती है। इस प्रकार ये सभी शब्द विवक्षित अर्थ की एकवाचकता द्योतित करते है। और 'घटाबन्ध' शब्द प्रस्तुत (अम्बिका केसरी) वस्तु के महत्त्व प्रतिपादक के रूप मे उपात्त है। और वह उस महत्त्व की प्रतिपादकता को प्राप्त होता है। किन्तु विशेष रूप से प्रतिपादन के योग्य पदार्थस्वरूप की शोभा मे कमी पैदा हो जाती है। यदि उसके प्रतिपादन करने वाले विशेषणो से शून्य (शब्दो का प्रयोग किया गया हो)। जैसे—

जिस (चिन्तामणि) के रहते प्रजापति की यह सम्पूर्ण सृष्टिरचना नामोल्लेख के भी योग्य नही रह जाती और जिसके उत्कर्ष के समान किसी और वस्तु की कल्पना, (उसके) तिरस्कार की अन्तिम सीमा है। जिसके ऐश्वर्य प्राणधारियो के मनोरथ की गति को लाँघकर (दूर तक) चले गये है। उसके आभासमात्र से मलिन होते हुए भी मणिस्वरूप प्रतीत होनेवाले पत्थरो मे मणि (विशेष चिन्तामणि) की पत्थरता (प्रस्तररूपता) ही उचित है। (सामान्य जनो के बीच विशिष्ट व्यक्ति को भी

याता· प्राणभृतां मनोरथगतीरुल्लंध्ययत्संपद्-
स्तस्याभासमणीकृताश्मसु मणेरश्मत्वमेवोचितम् ॥ २९ ॥

अत्र 'आभास'शब्दः स्वयमेव मात्रादिविशिष्टत्वमभिलषंल्लक्ष्यते। पाठान्तरम्—'छायामात्रमणीकृताश्मसु मणेस्तस्याश्मतैवोचितां इति। एतच्च वाचकवक्रताप्रकारस्वरूपनिरूपणावसरे प्रतिपदं प्रकटीभविष्यतीत्यलमतिप्रसङ्गेन।

अर्थश्च वाच्यलक्षण कीदृशः? काव्ये यः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः। सहृदयाः काव्यार्थविदस्तेषामाह्लादमानन्दं करोति यस्तेन स्वस्पन्देनात्मीयेन स्वभावेन सुन्दरः सुकुमार। तदेतदुक्तं भवति यद्यपि पदार्थस्य नानाविधर्मखचित्वं संभवति तथापि तथाविधेन धर्मेण सम्बन्धः समाख्यते यः सहृदयहृदयाह्लादमाधातुं क्षमते। तस्य च तदाह्लादसामर्थ्यं संभाव्यतेयेन काचिदेव स्वभावमहत्तारसपरिपोपाङ्गत्वं वा

यदि वैसा ही माना जाता है तो यह उसका तिरस्कार है क्योकि उसके आभास सम्पर्क मात्र से भी और लोग रत्न बन जाते है ॥ २९ ॥ प्रकृत श्लोक को आचार्य मम्मट ने अर्थदोप के 'सनियम परिवृत्तत्वरूप दोष के उदाहरण मे अपने 'काव्यप्रकाश' मे प्रस्तुत किया है।)

यहाँ इस श्लोक मे स्वयं 'आभास' शब्द ही मात्र आदि विशिष्टता को प्राप्त करने की अभिलापा करता हुआ प्रतीत होता है। (अर्थात् आभास शब्द मे मात्र पद का प्रयोग अपेक्षित है न लगाने से दोष आ गया है।) अत यहाँ यह पाठान्तर भी हो सकता है—'छायामात्रमणीकृताश्मसु मणेस्तस्याश्मतैवोचिता—छायामात्र से अमणि (प्रस्तर) को भी मणि कर देने वाली उसकी प्रस्तरता ही उचित है। यह सब वाचकवक्रता के स्वरूप-विवेचन के समय प्रतिपद प्रकट होगा। इसलिए प्रसङ्ग को छोडकर अधिक विपयान्तर के विस्तार को छोडा जा रहा है। (पुन अपने प्रकृत वाच्य-विवेचना पर आते है।)

और वाच्यरूप अर्थ किस प्रकार का होता है?—जो (अर्थ) काव्य मे सहृदय-हृदय का आह्लादक स्वस्पन्द से सुन्दर हो। सहृदय (कहे जाते है) काव्यार्थवेत्ता, उनका आह्लाद अर्थात् आनन्द करता है जो (स्वस्पन्द), उस स्वस्पन्द—अपने स्वभाव से सुन्दर—सुकुमार (अर्थ ही काव्य मे (वाच्यरूप से प्रसिद्ध है) । तो यह कहा जा सकता है—यद्यपि पदार्थ नाना प्रकार से धर्मयुक्त हो सकते है। तथापि (उस पदार्थ का) उस प्रकार के धर्म से सम्बन्ध सम्यक् रूपसे वर्णित किया जाता है जो सहृदय-हृदय मे आह्लाद का आधान करने मे समर्थ होता है। और उसकी सहृदयाह्लादकारी धर्म सम्मन्वित पदार्थ की) आह्लाद शक्ति सम्भावित होती है जिससे कोई अपूर्व ही स्वभाव का महत्त्व अथवा रस को परिपुष्ट करने की अङ्गता (सहायकता) अभिव्यक्ति को प्राप्त करती है। जैसे—

व्यक्तिमासादयति । यथा—

दंष्ट्रापिष्टेषु सद्य शिखरिषु न कृत स्कन्धकण्डूविनोदः
सिन्धुष्वङ्गावगाहः खुरकुहरगलत्तुच्छतोयेषु नाप्तः ।
लब्धा पातालपङ्के न लुठनरतयः पोत्रमात्रोपयुक्ते
येनोद्धारे धरित्र्याः सजयति विभुताविघ्नितेच्छो वराहः ॥३०॥

अत्र च तथाविध पदार्थपरिस्पन्दमहिमानिबद्धो यः स्वभावसम्भद्धो विनस्तत्परिस्पन्दानन्तरस्य संरोधसंपादनेन स्वभावमहत्तां समुल्लासयन् सहृदयाह्लादकारितां प्रपन्नः । यथा च—

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी
मुनिः कुशेध्माहरणाय यातः ।

(प्रकृत श्लोक 'सदुक्तिकर्णामृतम्' एव सुभाषित 'रत्न भाण्डागार' दोनो मे उपलब्ध है किन्तु कवि का पता नही है) भगवान वराह की स्तुति की गयी है—वराह रूपधारी जिन भगवान विष्णु ने पृथ्वी के (हिरण्याक्ष से पाताल से छुपायी गयी पृथ्वी के) उद्धार के समय दाँत से चूर्णित अल्पशिखरों पर क्षणमात्र भी कन्धो की खुजली का शमन नहीं किया, अपने खुर स्वरूप कुहरो से बहते स्वल्प जल समुद्रो मे (जिन्होने) अवगाहन नही प्राप्त किया। मुखाग्र भाग (थूँथुन—मुखाग्रे क्रोडहलयोः पोत्रम्-अमर कोष एवं 'पोत्रं वक्त्रे मुखाग्रे च सूकरस्य हलस्य च' विश्वकोश के अनुसार पोत्र शूकर के मुखाग्र भाग एव हलाग्र के लिए प्रयुक्त होता है। अन्य टीकाकार पोत्र का अर्थ 'पोतना' लगाते है जो पूर्णत असगत है) मात्र के लिए उपयुक्त पाताल के कीचड़ में जिन्होने लोटने के आनन्द नही लिये, विभुत्वपूर्ण तथापि अपूर्ण काम भगवान वराह की जय हो (सर्वोत्कृष्ट है)। विभुता के कारण अपूर्ण काम अर्थ मे कोई सौन्दर्य नही है। वस्तुतः सौन्दर्य तो इस विरोध मे है कि समर्थ होने पर भी भगवान ने वे आनन्द लिंये नही; क्योकि उनके समक्ष उन सबका कोई महत्त्व नही था) ॥३०॥

यहाँ उस प्रकार की पदार्थ स्वभाव की महिमा निबन्धित है जो स्वभाव से उत्पन्न होने वाले उस पदार्थ (भगवान् वराह के वर्णन) के स्वभाव से सम्बन्धित (अन्य धर्मो, स्कन्ध, कण्डू, विनोद आदि) का निरोध सम्पादित होने से (पदार्थ) स्वभाव के महत्त्व को सम्यक् सुशोभित करता हुआ सहृदय हृदय की आह्लादकारिता को प्राप्त हो गया है। और जैसे—

(यह श्लोक महाकवि कालिदास प्रणीत रघुवंश १४।७० का है। वर्णन उस समय का है जब सीता अरण्य मे निर्वासित कर दी गयी है। उसके रुदन को महर्षि वाल्मीकि सुनते है और उसी का अनुसरण कर उसके पास चलते है—

(यज्ञीय) कुश और लकड़ी को लाने के लिए गये हुए वह महर्षि वाल्मीकि (सीता के) रुदन का अनुसरण करते हुए उसके समीप पहुँचे। (उसी समय)

निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थ
श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ॥३१॥

अत्र कोऽसौ मुनिर्वाल्मीकिरिति पर्यायपदमात्रे वक्तव्ये परमकारुणिकस्य निषादनिर्भिन्नशकुनिसंदर्शनमात्रसमुत्थितः शोकः श्लोकत्वमभजत् यस्येति तस्य तदवस्थजनकराजपुत्री दर्शनविवशवृत्तेरन्तःकरणपरिस्पन्दः करुणरस परिपोषाङ्गतया सहृदयहृदयाह्लादकारी कवेरभिप्रेतः। यथा च—

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धिमामम्बुवाहं
तत्संदेशाद्धृदयनिहितादागतं त्वत्समीपम्।
योवृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥३२॥

अत्र प्रथममामन्त्रणपदार्थस्तदाश्वासकारिपरिस्पन्दनिबन्धनः। भर्तुर्मित्रं मां विद्धीत्युपादेयत्वमात्मनः प्रथयति। तच्च न सामान्यम्, प्रियमितिविस्रम्भ

निषाद से मारे गये क्रौञ्च पक्षी के दर्शन से उत्पन्न जिनका शोक ही (मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् (रामायण १-२-१५; इत्यादि रूप मे) श्लोकरूपता को प्राप्त हो गया ॥३१॥

यहाॅ यह वर्णित मुनि कौन है ? वाल्मीकि। इस प्रकार मुनि शब्द के पर्याय पद (वाल्मीकि) मात्र कथन के लिए (कवि द्वारा प्रस्तुत) परम कारुणिक जिनका निषाद के द्वारा मारे गये पक्षी (क्रौञ्च) के विलोकन मात्र से उत्पन्न हुआ शोक ही श्लोकता को प्राप्त हो गया, उस प्रकार की अवस्था वाली (गर्भिणी होने पर भी पति से अरण्य मे निर्वासित) जनकराज विदेह की पुत्री (सीता) के दर्शन से विकल वृत्ति उन महर्षि के अन्तःकरण का स्वभाव वर्णन करुण रस के परिपोष मे सहायक होने से सहृदय हृदय के आह्लाद को पैदा करता है, इसी रूप मे कवि को अभिप्रेत है। और जैसे—

(प्रकृत श्लोक महाकवि कालिदास के मेघदूत, पूर्वमेघ (५६) का है। यक्ष का का सन्देश लेकर अलकापुरी पहुॅचा मेघ विरहिणी यक्षिणी से कह रहा है), ओ सौभाग्यवति, जलवाहक (मेघ) मुझको तुम अपने स्वामी का प्रिय मित्र समझो जो हृदय मे रखे गये उसके (तुम्हारे प्रिय के) सन्देश (सुनाने के प्रयोजन) से तुम्हारे समीप आया हुआ हूॅ। और जो (श्रान्त हो जाने के कारण) राह मे थकान मिटाते हुए अपनी प्रियतमाओ की वेणी खोलने के लिए समुत्कण्ठित प्रवासी पथिक समूहों को (अपने) गम्भीर एवं मनोहारी ध्वनियो से वेग युक्त (घर पहुॅचने मे तेज गति) कर देता है ॥३२॥

पहले तो यहाॅ सम्बोधन पद (अविधवे) का अर्थ ही उस यक्षिणी को आश्वासन पैदा करने वाला स्वरूप निबन्धन है। (अविधवे, पद मे यक्षप्रिया को सौभाग्यवति, सुहागिन कहा गया है क्योंकि यदि पति न होता तो वह 'अविधवे' के स्थान पर किसी

कथापात्रताम्। इति, समाश्वास्योन्मुखीकृत्य च तत्संदेशात्त्वत्समीपमागमनमिति प्रकृतं प्रस्तौति। हृदयनिहितादिति स्वहृदयनिहितं सावधानत्वं द्योत्यते। ननु चान्यः कश्चिदेवंविधव्यवहारविदग्धबुद्धि कथं न नियुक्त इत्याह—ममैवात्र किमपि कौशलं विजृम्भते। अम्बुवाहमित्यात्मनस्तत्कारिताभिधानं द्योतयति। यः प्रोषितानां वृन्दानि त्वरयति, संजातत्वराणि करोति। क्लीटशानाम्—श्राम्यताम्, त्वरायामसमर्थानामपि। वृन्दानीति बाहुल्यात्तत्कारिताभ्यासं कथयति। केन—मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिः, माधुर्यरमणीयैः शब्दैर्विदग्ध-

---

और पद का प्रयोग करता। इस प्रकार यह व्यक्त होता है कि चिन्तित न हो, तुम्हारा प्रिय जीवित है, सुरक्षित है, तुम सुहागिन हो, समय पर सम्मिलन होगा)। 'मुझे (मेघ को) अपने पति का मित्र समझो, इस कथन से मेघ अपनी उपयोगिता को प्रख्यापित कर रहा है। और वह (उपादेयता) भी साधारण नही है। 'प्रियम्' यह पद विश्वसनीय कथनो (वार्त्ताओ) की पात्रता को (व्यक्त करता है। अर्थात् मै तुम्हारे प्रिय का प्रिय मित्र हूँ। मेरी उपयोगिता है साथ ही इतना प्रिय हूँ कि मुझसे विश्वसनीय कोई भी वात कही जा सकती है।) आश्वासन देकर तथा यक्षप्रिय को अपनी ओर उन्मुख करके ही 'तुम्हारे समीप मेरा आगमन उसी के सन्देश से हुआ है, इस प्रकार सामयिक बात प्रस्तुत करता है। (मेघ यक्षिणी को 'अविधवे' सम्बोधन से आश्वासन देकर सिद्ध करता है कि तुम सुहागिन हो, प्रियतम जीवित है। तुम्हारे प्रिय का प्रिय मित्र हूँ। कोई भी विश्वास योग्य बात मुझसे कही जा सकती है। इस प्रकार उसे अपनी ओर आकृष्ट कर ही प्रकृत को प्रस्तुत करता है)। 'हृदय निहितात्' 'हृदय मे निहित' पद से हृदय मे अवस्थित सावधानी व्यञ्जित होती है। (अर्थात् उसके सन्देश को मैने कही किसी और से कहा नही है। बड़ी सावधानी से मन मे छिपाये बैठा हूँ। (यदि कही तुम्हे (यक्षप्रिया को) यह सन्देह हो कि) इस प्रकार के व्यवहार (सन्देशवहनव्यापार) मे विचक्षण बुद्धि किसी और को (मेघ ने) क्यो नही नियुक्त किया? तो उत्तर देते है कि इस विषय (सन्देशवहन) मे मेरी ही कुछ अनिर्वचनीय दक्षता विजृम्भित है। अम्बुवाहम्—जल वहन करने वाला (मेघ) इस पद से अपनी उस सन्देशवहन करने की सज्ञा का द्योतन होता है। (अम्बुवाह पद से अभीष्ट है सन्देशवहन करने की अपूर्व क्षमता जो जल को भी वहन कर सकता है, जिसका वहन आसान काम नही, वह सन्देशवहन क्यो नही कर सकता। वाहक भी मै कैसा हूँ?) जो प्रवासियो के झुण्डो को त्वरित करता, वेगयुक्त करता हूँ (वल्लभाओ के पास शीघ्र पहुँच जाने के लिए प्रेरित करता हूँ)। कैसे प्रवासियो को (त्वरायुक्त करता हूँ)?—विश्राम करते त्वरा मे असमर्थो को भी। 'वृन्दानि' इस बहुवचन पद से (पथिको की) बहुलता (व्यक्त होती है) जिससे उसे करने (प्रोषित वृन्दों को त्वरायुक्त बनाने) का अभ्यास (पुनः पुनः प्रयास) को व्यक्त करता है। किसके द्वारा त्वरायुक्त किया जाता है? मन्द्रस्निग्ध

दूतप्ररोचना वचनप्रायैरित्यर्थः। क्व पथि मार्गे। यदृच्छया यथाकथंचित् अहमेतदाचरामीति किं पुनः प्रयत्नेन सुहृत्प्रेमनिमित्तंसंरब्ध बुद्धिं न करोमीति।

कीदृशानि वृन्दानि—अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि। अबलाशब्देनात्र तत्प्रेयसीविरहवैधुर्यासहत्वं भण्यते, तद्वेणिमोक्षोत्सुकानीति तेषां तदनुरक्तचित्तवृत्तित्वम्। तदयमत्र वाक्यार्थ—विधिविहितविरहवैधुर्यस्य परस्परानुरक्तचित्तवृत्तेर्यस्यकस्यचित्कामिजनस्य समागमसौख्यसंपादन सौहार्दे सदैव गृहीतव्रतोऽस्मीति। अत्र यः पदार्थपरिस्पन्दः कविनोपनिबद्धः प्रबन्धस्य मेघदूतत्वे परमार्थतः स एव जीवितमिति सुतरां सहृदयहृदयाह्लादकारी। नपुनरेवं विधो यथा—

ध्वनियो से माधुर्य एवं रमणीय शब्दो के द्वारा (त्वरायुक्त करता हूँ) तात्पर्य दूत के योग्य औरो को प्रेरित करने वाले प्रशसा आदि वचनो से मै प्रवासियो को त्वरायुक्त करता हूँ ! कहाँ (त्वरित करता हूँ) ?—पथ मे, मार्ग मे। यथा कथंचित् स्वेच्छा से ही मै यह सब कार्य करता हूँ। फिर प्रयासपूर्वक मित्र के प्रेम के लिए सम्यक् प्रारम्भ किये गये कार्य को मनपूर्वक क्यो नही सम्पादित कर सकता ? (मैं इतना परहित चिन्तक हूँ, विशेपकर प्रेम के विषय मे कि, रास्ते मे श्रम मिटाते हुए भी प्रोषितो को असहाय विरहिणी युवतियो को सकाम करने के लिए उनकी गति मे शीघ्रता ला देता हूँ। और यह सब कार्य तो मै स्वेच्छा से कर लेता हूँ। फिर तो जब मित्र का कार्य हो वह भी प्रेमविषयक उसको भी सिर पर उठा लिया होऊँ तो फिर मन लगाकर न करूँ ऐसा कैसे हो सकता है ? तुमसे मित्र को मिलाना भी मेरा व्रत है, कार्य है।)

किस प्रकार के (प्रोपित) वृन्दों को (मै त्वरित करता हूँ) ?—अबलाओं की वेणी खोलने के उत्सुक (प्रोषित वृन्दो को)। अबला शब्द से यहाँ उन (पथिको) की प्रियतमाओं मे प्रिय विरह की विकलता असहनता कही जा रही है। उनकी वेणी को खोलने के उत्सुक से उन पथिको की उन (विरहणी अबलाभूत प्रियजनो) मे अनुरक्त चित्तवृत्तिता (कही जा रही है)। तो इस पूरे का यह वाक्यार्थ है—दैवसम्पादित विरहव्यथायुक्त, तथा परस्पर अनुरक्त चित्तवृत्ति, जिस किसी भी कामीजन (शृङ्गारी कामी नर या नारी जो भी हो) के संयोग सुख के निष्पादनरूप प्रियकार्य मे मै सदैव गृहीतव्रत हूँ (सदात्पर रहता हूँ)। कवि ने यहाँ पदार्थ का जो स्वभाव निबन्धित किया है रचना (मेघदूत कृति) की मेघदूतता (मेघको दूत बनाकर भेजने मे) मे वस्तुत. वही जीवन है, इस प्रकार यह वर्णन स्वय ही सहृदय-हृदय को आकृष्ट करता है (इसलिए अर्थ ऐसा हो जो पदार्थपरिपन्द से सहृदय-हृदयाह्लादन करने मे समर्थ हो) न कि पुनः इस प्रकार का—

सद्य पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी
सीता जवात्त्रिचतुराणि पादानिगत्वा
गन्तव्यमद्य कियदित्यसकृद् ब्रुवाणा
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम् ॥ ३३ ॥

अत्रासकृत्प्रतिक्षणं कियदद्य गन्तव्यमित्यभिधानलक्षणःपरिस्पन्दो न स्वभावमहत्तामुन्मीलयति, न च रसपरिपोषाङ्गतां प्रतिपद्यते। यस्मात्सीतायाः सहजेन केनाप्यौचित्येन गन्तुमध्यवसितायाः सौकुमार्यादेवंमेविधं वस्तु हृदये परिस्फुरदपि वचनमारोहतीति सहृदयैः संभावयितुं न पार्यते। न च प्रतिक्षणमभिधीयमानमपि राघवाश्रुप्रथमावतारस्य सम्यक् सङ्गतिं भजते, सकृदा-

(कविवर राजशेखर के बालरामायण (६।३४) का श्लोक है। वनवास-गमन में सीता की सुकुमारजन्य शोच्यदशा और राम की कथा का चित्र है) शिरीष पुष्प सदृश कोमल सीता नगर के समीप ही तीन-चार पग जल्दी से जाकर अब और कितना चलना है, ऐसा (राम से) बार-बार पूछती हुई राम की आँसू का प्रथम आविर्भाव किया। (दुःख से राम को आँसू आ गये) ॥ ३३ ॥

(राजशेखर ने इस श्लोक को कुमारदास के 'जानकीहरणम्' के इस श्लोक से लिया है—

द्वित्राण्येव रथं त्यक्त्वा पदान्याधाय नि सहा।
येयमन्यत्कियद् दूरमिति पप्रच्छ मैथिली ॥ जा० ह० १०।५०

इस रचना में कुन्तकगवेषित दोषों का अभाव है।) विवेचन करते हैं—अमेति।

यहाँ इस (सीता वनगमन) वर्णन में असकृत् अर्थात् प्रतिक्षण (सीता का यह कहना कि) आज अब कितना चलना है इस प्रकार का कथनरूप व्यापार न तो स्वभाव की महत्ता को प्रकाशित करता है और न (करुण) रस के परिपोषण में अङ्गता को ही प्राप्त कर रहा है। क्योंकि किसी स्वाभाविक औचित्य (प्रतिप्रेम आदि) के कारण वन जाने के लिए कृतनिश्चय सीता के द्वारा ऐसा वचन, भले ही उनके मन में उस प्रकार के थकान आदि की बात उठ रही हो—केवल सुकुमारता के कारण कहा जा सकता है। इस प्रकार की बात की सम्भावना सहृदयगण करने में समर्थ नहीं है। और न तो यह वर्णन ही कि प्रतिक्षण कहे जाने पर भी रामचन्द्र के आँसुओं का प्रथम बार प्रादुर्भाव होता है जो उचित संगति को प्राप्त नहीं कर पाता। क्योंकि वह आँसू तो एक बार के ही सुनने से आविर्भूत होनी चाहिए थी (अन्यथा, राम की रामता क्या रह गयी। वे इतने कठोर हो गये हैं जो बार-बार सुनने के पश्चात् ही पसीजते हैं)। अतएव अत्यन्त सुन्दर भी यह रचना स्वल्पमात्र कवि की असावधानी से कवि कदर्थना (निन्दनीयता) प्रस्तुत करती है। इसलिए वहाँ 'अवशम्' यह पाठ करना चाहिए। इसलिए इस प्रकार प्रतिपादित विशिष्टस्वरूप ही शब्द-अर्थ का लक्षण स्वीकार करना

कर्णनादेव तस्योपपत्तेः। एतच्चात्यन्तरमणीयमपि मनाङ्मात्रचौतावधान-त्वेन कवेः कदर्थितम्। तस्माद् 'अवशम्' इत्यत्र पाठः कर्तव्यः। तदेवंविधं विशिष्टमेव शब्दार्थयोर्लक्षणमुपादेयम्। तेन नेयार्थापार्थादयो दूरोत्सारित-त्वात्पृथङनवक्तव्याः ॥ ९ ॥

एवं शब्दार्थयोः प्रसिद्धस्वरूपातिरिक्तमन्यदेव रूपान्तरमभिधाय, न नतावन्मात्रमेव काव्योपयोगि किन्तु वैचित्र्याल विशिष्टमित्याह—

उभावेतावलङ्कार्यौतयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥ १० ॥

'उभौ द्वावप्येतौ शब्दार्थावलङ्कार्यावलङ्करणीयौ, केनापि शोभातिशयका-रिणालङ्करणेन योजनीयौ। किं तत् तयोरलङ्करणमभिधीयते, 'तयोः पुनरल-ङ्कृतिः'। तयोर्द्वित्वसंख्याविशिष्टयोरप्यलंकृतिः पुनरेकैव, यथा द्वावप्यलं-

---

चाहिए। उससे नेपार्थ-अपार्थ दूर से ही समाप्त कर दिये जाते है उन्हे अलग से नही कहना चाहिए। (तात्पर्य यह है कि प्राक्प्रतिपादित रीति से विशिष्ट रूप से शब्दार्थ साहित्य काव्य का उपनिबन्ध न करने से दोष की सृष्टि ही नही हो पायेगी, और सृष्टि नही होगी तो उन दोषो को दूर करने के लिए पृथक् प्रयास भी करने की आवश्यकता नही होगी; अतएव विशिष्ट शब्द-अर्थ ही काव्य मे उपादेय है। इस प्रकार अब तक विशिष्ट शब्द अर्थ साहित्य काव्य का प्रतिपादन कर तदतिरिक्त अन्य तत्त्व की अव-तारणा के लिए पुन भूमिका प्रस्तुत करते है—एवमिति।)

इस प्रकार शब्द और अर्थ के प्रसिद्धस्वरूप का विवेचन करने के अनन्तर उससे अतिरिक्त ही विशिष्ट शब्द-अर्थ रूप दूसरे स्वरूप का विवेचन किया किन्तु मात्र उतना ही काव्य के लिए उपयोगी नही होता अपितु वह दूसरे विच्छित्ति से विशिष्ट ही उपयोगी होता है अतः उसी को कहते है—

'ये दोनों (शब्द-अर्थ) अलङ्कार्य हैं और वैदग्ध्यपूर्ण विच्छित्तिमय अभिधान-स्वरूप वक्रोक्ति ही उन दोनो का अलंकरण है ॥ १० ॥

उभौ—शब्द और अर्थ ये दोनो ही, अलकार्य अलकरणीय (अलंकृत करने योग्य है), शोभातिशयकारी किसी अपूर्व अलंकार से सयुक्त करने योग्य है। उन दोनो की वह कौन (वस्तु) अलकरण कही जाती है। (इसलिए प्रयुक्त किया है पद) 'तयो· पुनरलंकृति', उन दोनो की (एक) अलंकृति है। उन दोनो अर्थात् द्वित्वसंख्याविशिष्ट शब्द और अर्थ दोनो का अलंकार पुन· एक ही है जिसके द्वारा ये दोनो ही अलंकृत किये जाते है। वह कौन (अलंकृति) है ?—वक्रोक्ति ही है। वक्रोक्ति अर्थात् प्रसिद्ध कथन से व्यतिरिक्त विचित्र ही कथन (वक्रोक्ति है)। कैसी है (वह वक्रोक्ति) ?—वैदग्ध्यभङ्गी भणिति रूपा। वैदग्ध्य से अर्थ है विदग्धभावकवि कर्म

क्रियेते कासौ—वक्रोक्तिरेव। वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी—वैदग्ध्यभङ्गीभणितिः। वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्मकौशलं तस्य भङ्गी विच्छित्तिः, तयाभणितिः विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते। तदिदमत्र तात्पर्यम्—यत् शब्दार्थौ पृथगवस्थितौ केनापि व्यतितिक्तेनालङ्करणेन योज्यते, किन्तु वक्रता वैचित्र्ययोगितायाभिधान मेवानयोरलङ्कारः तस्यैव शोभातिशय कारित्वात्। एतच्च वक्रता व्याख्याना वसर एवोदाहरिष्यते ॥ १० ॥

ननु च किमिदं प्रसिद्धार्थविरुद्धं प्रतिज्ञायते यद्वक्रोक्तिरेवालङ्कारो नान्यः कश्चिदिति, यताश्चिरन्तनैरपरं स्वभावोक्तिलक्षणमलङ्करणमाम्नातं तच्चातीवरमणीयमित्यसइमानस्तदेव निराकर्तुमाह—

अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ॥११॥

की निपुणता, उसकी भङ्गी विच्छित्ति (शोभा), उसके माध्यम से अविधान, अर्थात् विचित्र ही कथन (अभिधा से अभिधान) वक्रोक्ति ऐसा कहा जाता है। तो यहाँ यह भाव हुआ—कि, पृथक्-पृथक् अवस्थित शब्द और अर्थ किसी अपूर्व व्यतिरिक्त अलकरण से किये जाते है किन्तु वक्रता के वैचित्र्य से सम्भावित रूप मे ही इनका अभिधान ही अलकार कहा जाता है। (क्योकि) वही शोभातिशयकारी होता है। वक्रता के व्याख्यान स्थल पर ही इसके उदाहरण दिये जायँगे। अर्थात् वैदग्ध्यपूर्वक सौन्दर्याभिधान ही वक्रोक्ति है और वही वक्रोक्ति शब्द-अर्थ अलंकार्य का अलंकरण है। ध्यातव्य है कि भामह ने लोकातिक्रान्तगोचर अतिशयोक्तिरूपा वक्रोक्ति को सभी अलंकारों के मूल मे अवस्थित माना था। दण्डी प्रायः सभी वक्रोक्ति के मूल मे श्लेप का पोषण बताते है तथा स्वभावोक्ति-वक्रोक्ति दो प्रकार का वाङ्मय मानते है और भोजराज वक्रोक्ति को वाङ्मय विभाजन का एक आधार-सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः—इति भामहः। श्लेष सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्। भिन्न द्विधा स्वभावोक्तिः वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥ इति दण्डी और 'वक्रोक्तिश्च स्वभावोक्ती रसाक्तिश्चेतिवाङ्मयम्—इति भोजराज. ॥ १० ॥

क्यो यह तो प्रसिद्ध वस्तु के विरुद्ध प्रतीत होता है कि वक्रोक्ति ही अलङ्कार है और कोई नही? क्योकि प्राचीन आचार्यो ने स्वभावोक्ति रूप दूसरे अलङ्कार का विवेचन किया है और वह अत्यन्त ही सुन्दर होता है। (इस प्रकार का यदि कोई पूर्वपक्षी प्रस्तुत करना चाहे तो इस कथन को) न सहते हुए, उसी का निराकरण करने के लिए (कुन्तक अगली कारिका से) यह कहते है—

अलङ्कार ग्रन्थो की रचना करनेवाले जिन आचार्यों को स्वभावोक्ति अलङ्कार है (ऐसा प्रतीत होता है) उनके लिए अलङ्कार्य के रूप मे दूसरी और कौन (सी वस्तु) रह जाती है ॥११॥

येषामलंकारकृतामलंकारकाराणां स्वभावोक्तिरलंकृतिः या स्वभावस्य पदार्थधर्मलक्षणस्य परिस्पन्दस्य उक्तिरभिधा सैवालंकृतिरलंकरणमिति प्रतिभाति, ते सुकुमारमानसत्वात् विवेक क्लेशद्वेषिणः। यस्मात् स्वभावोक्तिरिति कोऽर्थः ? स्वभाव एवोच्यमानः स एव यद्यलङ्कारस्तत्किमन्यत्तद्व्यतिरिक्तं काव्यशरीरकल्पं वस्तु विद्यते यत्तेषामलङ्कार्यतया विभूष्यत्वेनावतिष्ठते पृथगवस्थितिमासादयति, न किंचिदित्यर्थः ॥११॥

ननु पूर्वमवस्थापितम्—यद्वाक्यस्यैवाविभागस्य सालङ्कारस्य काव्यत्वमिति (१।६) तत्किमर्थमेतदभिधीयते ? सत्यम्, किन्तु तत्रासत्यभूतोऽप्यपोद्धार-

(आचार्य भामह को स्वभावोक्ति की अलङ्कारता अभीष्ट नही थी। इसीलिए उन्होने 'स्वभावोक्ति भी अलङ्कार है ऐसा कुछ लोग मानते है ऐसा कह कर उसका विवेचन करते है—स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित्प्रचक्षते–काव्यालङ्कार २।९३। इसके बिलकुल विपरीत आचार्य दण्डी ने स्वभावोक्ति के आधार पर वाङ्मय को ही दो भागो मे विभक्त कर दिया—भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिः वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्। और यही नही। उन्होने स्वभावोक्ति को प्रथमा अलङ्कृति कहा और कहा शास्त्र और काव्य दोनो मे ही इसी का साम्राज्य है—शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम् ॥ काव्यादर्श, २।१३ ॥ रुद्रट से लेकर बाद मे तो प्रायः सभी काव्याचार्य स्वभावोक्ति को अलङ्कार के रूप मे प्रतिष्ठित करते है किन्तु इस विषय मे कुन्तक भामह मत को ही अधिक उपयुक्त मान कर उसी का समर्थन करते हैं।)

जिन अलङ्कार (ग्रन्थ) रचने वाले अलङ्कारकारों के मत मे स्वभावोक्ति अलङ्कार है, स्वभाव-पदार्थ के धर्मस्वरूप सौन्दर्य की जो उक्ति-कथन है, वही अलङ्कृति-अलङ्कार है (ऐसा जिन आचार्यो को अभीष्ट है) प्रतीत होता है, वे सुकुमार चित्त होने के कारण (अलङ्कार्य अलङ्कार) निर्णय के क्लेश के द्वेषी है। (अर्थात् उनकी बुद्धि मे इतनी भी सामर्थ्य नही है कि सम्यक् रीति से वे अलङ्कार्य-अलङ्कार का विवेक कर सके)। क्योकि स्वभावोक्ति इसका क्या अर्थ है ? स्वभाव ही वर्ण्यमान होता है यदि वही अलङ्कार कहा जायेगा तो उनसे व्यतिरिक्त काव्य के शरीरसदृश और कौन-सी वस्तु रह जाती है जो उन अलङ्कारों का अलङ्कार्य रूप से—विभूषित किये जाने की योग्यता से युक्त (उनसे) पृथक् सत्ता को प्राप्त करती है, अर्थात् कोई भी ऐसी वस्तु पृथक् नहीं रह जाती जो अलङ्कार्य हो सके। (अतः स्वभावोक्ति को अलङ्कार नही मानना चाहिए) ॥११॥

(पूर्वपक्ष स्वभावोक्तिवादी)—पहले ही १।६ कारिका मे (स्वभावोक्ति को अलङ्कार्य मानने वाले वक्रोक्तिकार आपने ही) जो यह स्थापित किया है कि (अलङ्कार्य अलङ्कार के) विभाग से रहित अलङ्कारयुक्त वाक्य की ही काव्यता होती है तो अब (सिद्धान्तपक्ष आपसे) यह क्यो कहा जा रहा है (कि स्वभावोक्ति को अलङ्कार मान लेने पर अलङ्कार्य कोई अवशिष्ट ही नही रह जायेगा) ? (उत्तर देते है) बात

बुद्धिविहितो विभागः कर्तुं शक्यते वर्णपदन्यायेन वाक्यपदन्यायेन चेत्युक्तमेव। एतदेव प्रकारान्तरेण विकल्पयितुमाह—

स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते ॥१२॥

स्वभावव्यतिरेकेण स्वपरिस्पन्दं विना निःस्वभावं वक्तुमभिधातुमेव न युज्यते, न शक्यते। वस्तुवाच्यलक्षणम्। कुतः, तद्रहितं तेन स्वभावेन रहितं वर्जितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते। उपाख्याया निष्क्रान्तं निरुपाख्यम्। उपाख्या, शब्दः, तस्यागोचरभूतमभिधाना योग्यमेव सम्पद्यते। यस्मात् स्वभाव शब्दस्येदृशी व्युत्पत्तिः, भवतोऽस्मादभिधानप्रत्ययौ इति भावः, स्वस्यात्मनो भावः स्वभावः। तेन स एव यस्य कस्यचित्पदार्थस्य प्रख्योपाख्यावतारनिबन्धनम्। तेन वर्जितं असत्कल्पं वस्तु शशविषाणप्रायं शब्दज्ञानागोचरतां प्रतिपद्यते। स्वभावयुक्तमेव सर्वथाभिधेयपदवीमवतरतीति

तो ठीक है (कि अलङ्कार-अलङ्कार्य का विभाग जैसा कि १।६ मे प्रतिपादित है, नही होता) किन्तु वहॉ पर (अलङ्कार-अलङ्कार्य का) असत्यभूत भी विभाग दोनों के पृथक्करण की दृष्टि से किया गया है। और वर्णपदन्याय तथा वाक्यपदन्याय से (उनका अलङ्कार्य-अलङ्कार का) विभाग किया जा सकता है, ऐसा तो पहले १।६ मे भी कह ही चुके हैं। पक्षान्तरित करने के लिए इसी को प्रकारान्तर से कहते है—

स्वभाव से व्यतिरिक्त कोई भी वस्तु कही ही नही जा सकती क्योकि उससे (स्वभाव से) रहित वस्तु वर्णन के योग्य ही नही होती ॥१२॥

स्वभाव से व्यतिरिक्त—(पदार्थ) के धर्म के बिना, स्वभावविहीन (वस्तु) कहने—अभिधान के योग्य नही होती (कहना) सम्भव ही नही है। वस्तु अर्थात् अभिधानयोग्य पदार्थस्वरूप। (प्रश्न हो सकता है स्वभाव व्यतिरिक्त) क्यो (नही कहा जा सकता) ? (उत्तर है) उससे रहित-स्वभाव से रहित-वर्जित (वस्तु) क्योकि निरुपाख्य प्रसक्त होती है। उपाख्या से निष्क्रान्त को निरुपाख्य कहते है। उपाख्या (का अर्थ है) शब्द, उसकी (शब्द की) अगोचरभूत-अभिधान के अयोग्य ही (स्वभावरहित वस्तु) हो जाती है। क्योकि स्वभाव शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—अभिधान (वर्णन) और बोध (प्रत्यय) जिससे दोनो होते हैं उसे भाव कहा जाता है, स्व का (वस्तु का) अपना भाव हुआ स्वभाव। इसलिए सभी पदार्थों के ज्ञान और वर्णन के अवतार निबन्धन मे वही (स्वभावोक्ति) ही रहती है। उससे विहीन, असत् समान, शशविषाणप्राय वस्तु शब्दज्ञान की गोचरता को नही प्राप्त होती। स्वभाव से युक्त ही वस्तु सर्वथा अभिधेय पदवी मे उतरती है (कथनयोग्य होती है, अन्यथा स्वभाव-कथन को अलङ्कार मानने पर न कि अलङ्कार्य, स्वभाव कथन होने के कारण ही) गाड़ीवालो के वाक्यों से भी सालङ्कारता प्राप्त होने लगेगी क्योकि

शाकटिकवाक्यानामपि सालङ्कारता प्राप्नोति, स्वभावोक्तियुक्तत्वेन ॥१२॥

एतदेव युक्त्यन्तरेण विकल्पयति—

शरीरं चेदलङ्कारः किमलंकुरुते परम् ।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति ॥१३॥[1]

यस्य कस्यचिद्वर्ण्यमानस्य वस्तुनो वर्णनीयत्वेन स्वभावएव वर्ण्य-शरीरम् । स एव चेदलङ्कारो, यदि विभूषणं, तत्किमपरं तद्व्यतिरिक्तं विद्यते, यदलंकुरुते विभूषयति । स्वात्मानमेवालङ्करोतीति चेत्, तदयुक्तम्, अनुपपत्तेः । यस्मादात्मैव नात्मन स्कन्ध क्वचिदप्यधिरोहति । शरीरमेव शरीरस्य न कुत्रचिदप्यंसमधिरोहतीत्यर्थः । स्वात्मनि क्रियाविरोधात् ॥१३॥

अन्यच्चाभ्युपगम्यापि ब्रूमः—

भूषणत्वे स्वभावस्य विहिते भूषणान्तरे ।
भेदावबोध प्रकटस्तयोरप्रकटोऽथवा ॥१४॥

वे भी कथन-स्वभाव से युक्त होते है (किन्तु उन्हे तो कोई भी अलङ्कार मानने को तत्पर नही । अत स्वभावोक्ति को अलङ्कार नही मानना चाहिए) ॥१२॥

इसी बात को दूसरे ढंग से कहते है—

(वर्ण्यमान पदार्थ का स्वभाव रूप) शरीर ही यदि अलङ्कार है तो किस दूसरे (अलङ्कार्य) को वह अलङ्कृत करता है । (अर्थान्तरन्यास से समर्थन करते है) कही भी अपने ही अपने कन्धे पर आरूढ नही हुआ जाता (अर्थात् स्वभाव अलङ्कार्य है, अलङ्कार नही । जैसे स्वय अपने कन्धे पर आरूढ़ नही हुआ जा सकता उसी प्रकार शरीर (अलङ्कार्य) ही शरीर को (अपने स्वभाव को स्वभाव ही) कैसे अलङ्कृत कर सकता है । अतः स्वभावोक्ति अलङ्कार्य है, अलङ्कार नही) ॥१३॥

जिस किसी भी वर्ण्यमान वस्तु का स्वभाव ही वर्णन की योग्यता होने के कारण वर्ण्य विषय का शरीर होता है । और यदि वही अलङ्कार-विभूषण हो गया तो कौन दूसरी वस्तु, जो उससे व्यतिरिक्त है, अवशिष्ट रही जिसे वह अलङ्कृत, विभूषित करता है । (यदि कोई कहे कि) अपने ही वह अपने को अलङ्कृत करता है, तो यह अयुक्त है, (क्योकि) ऐसा सम्भव नही है । क्योकि कही भी (कोई) अपने ही अपने कन्धे पर आरूढ नही होता । शरीर ही शरीर के कन्धे पर कही आरूढ़ नही होता, यह अर्थ है । अपने मे ही क्रिया का विरोध होने के कारण (शरीर-शरीर पर नही चढ़ता, स्वभाव-स्वभाव को ही अलङ्कृत नही करता) ॥१३॥

और दूसरी बात तो यह भी है (कि स्वभावोक्ति को अलङ्कार) मानकर भी हम कहेगे—

स्वभाव की अलङ्कारता मान लेने पर अन्य अलङ्कार (उपमादि) का संविधान करने पर उन दोनों (स्वभाव एवं उपमादि) का भेद ज्ञान प्रकट होगा या अप्रकट ॥१४॥

स्पष्टे सर्वत्र संसृष्टिरस्पष्टे संकरस्ततः ।
अलङ्कारान्तराणां च विषयो नावशिष्यते ॥१५॥

भूषणत्वे स्वभावस्य अलङ्कारत्वे स्वपरिस्पन्दस्य यदा भूषणान्तरमलङ्कारान्तरं विधीयते तदा विहिते कृते तस्मिन् सति, द्वयी गतिः संभवति । काऽसौ ? तयोः स्वभावोक्त्यलंकारान्तरयोः भेदावबोधो भिन्नत्व परिभास· प्रकटः सुस्पष्टः कदाचिदप्रकटश्चापरिस्फुटो वेति । तदा स्पष्टे प्रकटे तस्मिन् सर्वत्र सर्वस्मिन् कविविषये संसृष्टिरेवैकालंकृतिः प्राप्नोति । अस्पष्टे तस्मिन्नप्रकटे सर्वत्रैकैकः सङ्करोऽलंकारः प्राप्नोति । ततः को दोषः स्यादित्याह—अलङ्कारान्तराणां च विषयो नावशिष्यते । अन्येषामलङ्काराणामुपमादीनां विषयो गोचरो न कश्चिदप्यवशिष्यते । निर्विषयत्वमेवायातीत्यर्थः । ततस्तेषां लक्षणकरणवैयर्थ्यं

जहाँ (उनका-स्वभावोक्ति तथा इतर उपमादि का) भेद एकदम स्पष्ट होगा उन सभी स्थलो पर ससृष्टि अलङ्कार होगा (क्योकि परस्पर अनपेक्ष रूप से अवस्थित अलङ्कारो की स्थिति मे ससृष्टि अलङ्कार होता है—मिथोऽनपेक्षयैतेषा स्थितिः संसृष्टिरुच्यते—काव्यप्रकाश) और भेदावबोध अस्पष्ट होने पर सङ्कर अलङ्कार होगा । ऐसी स्थिति में संसृष्टि और सङ्कर को छोड़कर) अन्य अलङ्कार (उपमादि) का विषय ही नही अवशिष्ट रहेगा ॥१५॥

स्वभाव की भूषणता, स्वपरिस्पन्द की अलङ्कारता (स्वीकार कर लेने) पर जब दूसरे भूषण, दूसरे अलङ्कार का विधान किया जाता है, उस समय उसके (अलकारान्तर के) विहित, निर्मित किये जाने पर दो ही अवस्था हो सकती है । वह कौन-सी गति है ?—उन दोनो, स्वभावोक्ति एवं विहित दूसरे अलङ्कारो के भेद का ज्ञान, भिन्न रूपतया प्रतीति कभी प्रकट अच्छी तरह से स्पष्ट, अथवा कभी अप्रकट-अस्पष्ट होगी । उस समय उसके (स्वभावोक्ति-अलङ्कारान्तर के भेद के) प्रकट होने पर सर्वत्र, सभी कवि (प्रतिपादित) विषय मे एकमात्र अलङ्कार संसृष्टि ही प्राप्त होगा, अन्य अलङ्कार हो ही नही सकते (क्योकि परस्पर अनपेक्षतया स्थित अलङ्कारो की दशा मे संसृष्टि अलङ्कार होता है—मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते) और उसके (स्वभावोक्ति एवं अन्य अलङ्कारो के भेद के) अस्पष्ट-अप्रकट होने पर सर्वत्र एक ही अलङ्कारसङ्कर प्राप्त होता है (जहाँ एक ही वाक्य मे अनेक अलंकार इस प्रकार जुड़े हो जैसे दुग्ध मे पानी, उनको पृथक् रूप से जानना कठिन हो वहाँ सङ्कर अलङ्कार होता है—नीरक्षीर न्यायेन तु संकरः—(अलङ्कार सर्वस्व) । वह त्रिधा होता है (१) अङ्गाङ्गिभाव (२ सशय एवं (३) एक वाचकानुप्रवेश । अलङ्कारों की अस्पष्टता मे इन तीनो भेदो मे से सङ्कर का कोई भी हो सकता है) । (कोई कहे कि यदि ऐसा होता है अर्थात् दो ही अलङ्कार बनते हो तो दोष ही क्या है ? इस पर कहते है—दूसरे अलङ्कारो का विषय ही नही रह जायेगा । अन्य अलङ्कारो, उपमा आदि (रूपक प्रभृति) का विषय, गोचर कोई भी वस्तु नहीं बचेगी, भाव यह कि

प्रसङ्गः। यदि वा तावेव संसृष्टिसंकरौ तेषां विषयत्वेन कल्प्येते तदपि न किञ्चित्, तैरेवालङ्कारकारैस्तस्यार्थस्यानङ्गीकृतत्वात्। इत्यनेनाकाशचर्वण प्रतिमेनालमलीकनिबन्धेन। प्रकृतमनुसरामः। सर्वथा यस्यकस्यचित्पदार्थ जातस्य कविव्यापारविषयत्वेन वर्णनापदवीमवतरतः स्वभाव एव सहृदय-हृदयाह्लादकारीकाव्यशरीरत्वेन वर्णनीयतां प्रतिपद्यते। स एव च यथायोगं शोभातिशयकारिणा येन केनचिदलङ्कारेण योजयितव्यः। तदिदमुक्तं, अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः' (१।९) इति। 'उभावेतावलङ्कार्यौ' (१।१०) इति च।

एवं शब्दार्थयोः परमार्थमभिधाय 'शब्दार्थौ' इति (१।७) काव्यलक्षण-वाक्ये पदमेकं व्याख्यातम्। इदानीं 'सहितौ' इति (१।७) व्याख्यातुं साहित्यमेतयोः पर्यालोच्यते—

उपमा आदि अलङ्कार निर्विषय ही हो जायेंगे (जब ससृष्टि और सङ्कर दो ही अल-ङ्कारो की विषयता रहेगी तो स्वभावतः उपमादि अलङ्कारों का विषय कोई वस्तु रह ही नही सकती और ऐसी स्थिति मे)। तो फिर उनका लक्षण करना (जैसा कि भरत से लेकर किया जा रहा हो व्यर्थ हो जायेगा। (और यदि स्वभाव को अलङ्कार कहने वाले यह कहे कि) वे दोनों संसृष्टि और संकर ही उन उपमा रूपक आदि के विषय रूप मे कल्पित कर लिये जायेगे तो वह भी कोई बात नही हुई; क्योकि उन्ही (स्वभावोक्तिवादी) अलङ्कार ग्रन्थ के रचनाकारों ने स्वयं वह अर्थ स्वीकार नही किया है (उन्होंने कही भी यह नही माना है कि उपमादि अलङ्कार ससृष्टि-संकर के विषय हैं, प्रत्युत् वे सभी उपमादि को स्वतन्त्र अलङ्कार मानते है)। तो इस प्रकार इस आकाशचर्वणा के समान इस प्रकार के व्यर्थ निबन्धन से विरत ही रहना चाहिए (अर्थात् स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानने जैसी बात जो असम्भव है—के विषय में अधिक विस्तार व्यर्थ है। प्रस्तुत का अनुसरण करते हैं। कवि-व्यापार (कवि-कर्म) के विषय के रूप मे वर्णना की शैली मे उतरने वाले, सहृदयो के हृदय को आह्लाद प्रदान करनेवाले जिस किसी भी पदार्थ मात्र का स्वभाव ही हर प्रकार से काव्य शरीर के रूप मे वर्णन की योग्यता को प्राप्त करता है। और वही शोभातिशयकारी जिस किसी अलङ्कार से यथासम्भव सयुक्त करने योग्य होता है। इसलिए ही पहले यह कहा है— 'अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः'। (१।९) तथा यह भी— 'उभावे तावलङ्कार्यौ' (१।१०)

इस प्रकार शब्द और अर्थ दोनों का वास्तविक स्वरूप बताकर, काव्यलक्षण— 'शब्दार्थौ सहितौ' इत्यादि (१।७) के वाक्य मे 'शब्दार्थौ' इस एक पद की व्याख्या की। इस समय 'सहितौ' इस पद की व्याख्या करने के लिए इन दोनो (शब्द और अर्थ के साहित्य की विस्तृत विवेचना (आगे की कारिक) (१।१६) से करते हैं— पूर्वपक्ष की अवतारणा विषयक श्लोक का अर्थ) शब्द और अर्थ तो सदैव सहित ही

शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा।
सहिताविति तावेव किमपूर्वं विधीयते ॥१६॥

शब्दार्थावभिधानाभिधेयौ सहितावबियुक्तावेव सदा सर्वकालं प्रतीतौ स्फुरतः ज्ञाने प्रतिभासेते। ततस्तावेव सहितावबियुक्ताविति किमपूर्व विधीयते न किञ्चिद्भूतं निष्पाद्यते। सिद्धं साध्यत इत्यर्थः। तदेव शब्दार्थयो निसर्गसिद्धं साहित्यम्। कः सचेता पुनस्तदभिधानेन निष्प्रयोजनमात्मानमायासयति ? सत्यमेतत्, किन्तु न वाच्यवाचकलक्षणशाश्वतसम्बन्धनिबन्धनं वस्तुतः साहित्यमुच्यते। यस्मादेतस्मिन् साहित्यशब्देनाभिधीयमाने कष्टकल्पनोपरचितानि गाङ्कुटादिवाक्यानि, असम्बद्धानि च शाकटिकादि वाक्यानि च सर्वाणि साहित्यशब्देनाभिधीयेरन्। तेन पदवाक्यप्रमाण व्यतिरिक्तं किमपि तत्वान्तरं साहित्यमिति विभागोऽपि न स्यात्।

ननु च पदादिव्यतिरिक्तं यत्किमपि साहित्यं नाम तदपि सुप्रसिद्धमेव,

---

ज्ञान मे प्रतीत होते है। इस प्रकार वे सहित तो होते ही है फिर आप (कुन्तक) (कारिका १।७ से) किस अपूर्व की बात कर रहे है, निर्माण कर रहे हैं ॥१६॥

शब्द और अर्थ अभिधान और अभिधेय, सहित-अवियुक्त (एक साथ ही), सदा सभी समय मे, प्रतीति मे स्फुरित होते हैं। इसलिए वे ही सहित-अवियुक्त होते है (ऐसा कहकर) कौन-सा अपूर्व विधान किया जा रहा है ? किसी अपूर्व तथ्य का निष्पादन नही किया जा रहा है, अर्थात् सिद्ध बात को ही सिद्ध किया जा रहा है। तब इस प्रकार शब्द और अर्थ का साहित्य तो स्वभाव सिद्ध ही है। फिर तो कौन बुद्धिमान् (मात्र आपके कहने से) उसके अभिधान से व्यर्थ अपने को पीड़ित करेगा ? (स्वयं पूर्वपक्ष का अवतार कर ग्रन्थकार उत्तर देते है) यह कथन सत्य है (कि शब्द और अर्थ सहित होते ही हैं), किन्तु (काव्य के परिसर मे) शब्द और अर्थ का साहित्य वस्तुतः वाच्यवाचक रूप जो नित्यसम्बन्ध स्वरूप है (शब्द और अर्थ का है—'नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः'), वह अभिप्रेत नहीं है। क्योकि (इस काव्य के विषय मे भी यदि) साहित्य शब्द के कथन से (नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः —यह शब्द-अर्थ का शाश्वत सम्बन्ध रूप साहित्य माना जायगा तो क्लिष्ट कल्पना से विरचित गाङ्कुटादि (गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् (पा० १।२।१) पाणिनि विरचित ऐसे सूत्र रूप) वाक्यों एवं असम्बद्ध गाड़ीवानों आदि के वाक्यो, सभी को साहित्य शब्द से अभिहित करना पड़ेगा। और इस प्रकार व्याकरण (पद), मीमासा, (वाक्य) न्याय (प्रमाण) आदि शास्त्रों से व्यतिरिक्त 'साहित्य' दूसरा अलौकिक तत्व है यह विभाग भी नही बन पायेगा। (अतएव यहाँ काव्य के सम्बन्ध मे शब्द-अर्थ का साहित्य शाश्वत सम्बन्ध वाला अभिप्रेत नहीं है)।

(पुनः पूर्वपक्षी) पद, वाक्य, प्रमाण से व्यतिरिक्त जो कुछ भी 'साहित्य' नाम की वस्तु है, वह तो सुप्रसिद्ध ही है (उसका विवेचन तो और भी काव्यशास्त्रियों ने

पुनस्तदभिधानेऽपि कथं न पौनरुक्त्यप्रसङ्गः? अतएवैतदुच्यते, यदिदं साहित्यं नाम तदेतावतिनिःसीमनि समयाध्वनि साहित्यशब्दमात्रेणैव प्रसिद्धम्। न पुनरेतस्य कविकर्मकौशलकाष्ठाधिरूढिरमणीयस्याद्यापि कश्चिदपि विपश्चिदयमस्य परमार्थ इति मनाङ्मात्रमपि विचारपदवीमवतीर्णः। तदद्य-सरस्वतीहृदयारविन्दमकरन्दबिन्दुसन्दोहसुन्दराणां सत्कविवचसामन्तरामोदं मनोहरत्वेन परिस्पुरदेतत् सहृदयषट्चरणगोचरतां नीयते ॥१६॥

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितः ॥१७॥

सहितयोर्भावः साहित्यम्। अनयोः शब्दार्थयोर्या काप्यलौकिकी चेतन-चमत्कारकारितायाः कारणम् अवस्थितिर्विचित्रैव विन्यासभङ्गी। कीदृशी—अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिणी, परस्परस्पर्धित्वरमणीया। यस्यां द्वयोरेकरत-स्यापि न्यूनत्वं निकर्षो न विद्यते नाप्यतिरिक्तत्वमुत्कर्षो वास्तीत्यर्थः। ननु च

किया ही है) तो फिर से आपके द्वारा उसके कथन से क्यो नही पुनरुक्ति का प्रसङ्ग पैदा होगा? (उत्तर देते है)—इसीलिए तो यह कहा जा रहा है। जो यह (शब्द और अर्थ का) साहित्य है न, वह इतने असीम समय के (काव्य) मार्ग मे (अर्थात् पहले से लेकर अब मेरे कुन्तक तक) 'साहित्य' शब्द मात्र से प्रसिद्ध रहा (उसमे कोई नूतनता किसी ने नही बताई)। किन्तु कवि-व्यापार की निपुणता की चरम सीमा को प्राप्त रमणीय इस साहित्य पद का वास्तविक अर्थ आज तक किसी भी विद्वान् की विचार-पद्धति मे स्वल्प मात्र भी नही उतरा कि यह इसका (साहित्य पद का) वास्तविक रूप है। इसीलिए आज सरस्वती देवता के हृदयरूपी कमल के पराग (रस) बिन्दु समूह जैसे सुन्दर, उत्तम कविगणों की वाणी के आन्तरिक आनन्द-स्वरूप, मनोहारी होने के कारण सर्वत्र प्रकाश इस साहित्य को (मै कुन्तक) सहृदय भ्रमरो के समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ ॥१६॥

शोभाशालिता के लिए इन दोनों (शब्द और अर्थ) की कमी या अधिकता-विहीन मनोहारिणी कुछ अपूर्व ही अवस्थिति 'साहित्य' कही जाती है ॥१७॥

(शब्द और अर्थ का) सहित भाव ही साहित्य है। इन दोनों शब्द और अर्थ की जो कोई भी अलौकिकी, चेतन की चमत्कारिता का कारणभूत अवस्थिति है, विचित्र ही विन्यास की विच्छित्ति-शोभा है (वही साहित्य है)। (वह अवस्थिति) कैसी है?— न्यूनता या अधिकता के बिना मनोहारिणी अर्थात् (दोनों की) परस्पर की स्पर्धिता से रमणीय (शब्दार्थ की अवस्थिति साहित्य कही जाती है)। जिस (अवस्थिति) मे दोनों (शब्द और अर्थ) मे एक की भी न्यूनता-अपकर्षत्व अथवा अतिरिक्तता-उत्कर्षत्व विद्यमान नही रहता है। (पूर्वपक्ष) उस प्रकार का (न्यूनत्व

तथाविधं साम्यं द्वयोरुपहतयोरपि संभवतीत्याह—शोभाशालितां प्रति। शोभा सौन्दर्यमुच्यते। तया शालते श्लाघते य स शोभाशाली, तस्य भावः शोभाशालिता, तां प्रति सौन्दर्य—श्लाघितां प्रतीत्यर्थ। सैव च सहृदयाह्लादकारिता। तस्यां स्पर्धित्वेन यासाववस्थितिः परस्परसाम्यसुभगमवस्थानं सा साहित्यमुच्यते। तत्र वाचकस्य वाचकान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण साहित्यमभिप्रेतम्, वाक्ये काव्यलक्षणस्य परिसमाप्तत्वादिति प्रतिपादितमेव (१।७)।

ननु च वाचकस्य वाच्यान्तरेण वाच्यस्य वाचकान्तरेण कथं न साहित्यमिति चेत्तन्न, क्रमव्युत्क्रमे प्रयोजनाभावादसमन्वयाच्च। तस्मादेतयो शब्दार्थयोर्याथास्वं यस्यां स्वसम्पत्सामग्रीसमुदायः सहृदयाह्लादकारी परस्परस्पर्धया परिस्फुरति, सा काचिदेव वाक्यविन्याससम्पत् साहित्यव्यपदेशभाग्भवति।

तथा अपकर्षत्वविहीन) दोनो (शब्द और अर्थ) का साम्य तो (दोषादि से) दुष्ट (शब्द-अर्थ) मे भी हो सकता है? (उत्तर देते है—) इसीलिए कहा है—शोभाशालिता के प्रति (निबद्ध शब्दार्थ को ही साहित्य माना जायगा)। शोभा सौन्दर्य को कहते है। उससे जो शोभायमान या प्रशंसनीय होता है, वह है शोभाशाली उसका भाव शोभाशालिता (कही जाती है) उसके प्रति अर्थात् सौन्दर्य की श्लाघिता के लिए यह भाव हुआ, और वही सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने का भाव है। उसमे (परस्पर) स्पर्धितापूर्वक जो यह (शब्द अर्थ की) अवस्थिति आपस मे परस्पर साम्ययुक्त सुन्दर अवस्थान है। वही साहित्य कहा जाता है। वहाँ एक वाचक का दूसरे वाचक से एवं एक वाच्य (अर्थ) का दूसरे अर्थ से साहित्य अभिप्रेत है। क्योकि शब्द और साहित्य रूप काव्य लक्षण वाक्य मे ही परिसमाप्त होता है, उसका प्रतिपादन (१।७ मे) किया ही है।

(पूर्वपक्ष—) एक शब्द (वाचक) का दूसरे अर्थ के साथ एवं एक अर्थ (वाच्य) का दूसरे शब्द से साहित्य क्यो नही अभिप्रेत है? यदि ऐसा कोई कहे तो उत्तर है, नही (ऐसा नहीं हो सकता)। क्योकि क्रम का (शब्द का शब्दान्तर से एवं अर्थ का अर्थान्तर से साहित्य रूप क्रम का) परित्याग करके व्युत्क्रम (शब्द का अर्थान्तर एवं अर्थ का शब्दान्तर से साहित्य-प्रतिपादनरूप क्रम के त्याग) से (साहित्य विवेचन मे) न कोई प्रयोजन प्रस्तुत है और न (इस व्युत्क्रम कथन का) कोई उचित सम्बन्ध ही स्थापित हो पाता है। इसलिए इन दोनो शब्द और अर्थ की वह कुछ अपूर्व ही वाक्यो के विन्यास की सम्पत्ति 'साहित्य' अभिधान की पात्र होती है, जिसमे यथासम्भव (शब्द और अर्थ को) अपना सम्पत्ति रूप सामग्री समूह सहृदयों के हृदय को आह्लादं प्रदान करने वाला परस्पर स्पर्धा के कारण परिस्फुरित होता है। (अन्तर श्लोकों मे इसी के सार को प्रस्तुत करते हैं)—

मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादिगुणोदयः।
अलंकरणविन्यासो वक्रतातिशयान्वित ॥३४॥
वृत्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम्।
स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि ॥३५॥
सा काप्यवस्थितिस्तद्विदानन्दस्पन्दसुन्दरा।
पदादिवाक्परिस्पन्दसारः साहित्यमुच्यते ॥३६॥

एतेषां च पदवाक्यप्रमाणसाहित्यानां चतुर्णामपि प्रतिवाक्यमुपयोग.। तथा चैतत्पदमेवंस्वरूपं गकारौकारविसर्जनीयात्मकमेतस्य चार्थस्य प्रातिपदिकार्थपञ्चक लक्षणस्याख्यातपदार्थषट्कलक्षणस्य वाचकमिति पदसंस्कारलक्षणस्य व्यापारः। पदानां च परस्परान्वयलक्षणसंबन्धनिबन्धनमेतद्वाक्यार्थं तात्पर्यमिति वाक्यविचारलक्षणस्योपयोगः। प्रमाणेन प्रत्यक्षादिनैतदुपपन्नमिति युक्तियुक्तत्वं नाम प्रमाणलक्षणस्य प्रयोजनम्। इदमेव परिस्पन्दमाहात्म्यात्सहृदयहृदयहारितां प्रतिपन्नमिति साहित्यस्योपयुज्यमानता। एतेषां यद्यपि

(आगे प्रतिपादित किये जाने वाले) मार्गों की अनुरूपता से सुन्दर, माधुर्य आदि गुणों के समुदय से युक्त, वक्रता के अतिशय से समन्वित (जहाँ) अलङ्करण-पूर्वक (शब्द और अर्थ की) रचना की जाती है ॥३४॥

वृत्तियो (कैशिकी आदि) के औचित्य से मनोहारी (शब्दार्थ साहित्य से जहाँ) रस का परिपोषण किया जाता है और जहाँ यथाशक्ति दोनो (शब्द और अर्थ) की ही परस्पर स्पर्धा से अवस्थिति पायी जाती है ॥३५॥

काव्य तत्त्व के जानकर सहृदयो को आनन्द प्रदान रूप क्रिया से सुन्दर पद (व्याकरण) आदि (वाक्य-मीमासा एवं प्रमाण-न्यायशास्त्र) की उक्ति का सारभूत (शब्द और अर्थ की) कुछ अनिर्वचनीय ही वह प्रसिद्धि अवस्थिति 'साहित्य' कही जाती है ॥३६॥

और इन व्याकरण, मीमासा, न्याय तथा साहित्यशास्त्रों चारों का प्रायः सभी वाक्यो मे उपयोग पाया जाता है। (क्रमशः चारो की प्रयोग बहुलता का प्रतिपादन प्रकार व्यक्त करते हैं—) १—तो जैसे—गकार, औकार और विसर्ग रूप (गौः) यह पद प्रातिपदिकार्थ रूप पाँच (१–प्रतिपदिक, लिङ्ग, परिमाण, वचन और कारक) इन अर्थों का अथवा आख्यातार्थ रूप छः (कर्त्ता, कर्म, काल, पुरुष, वचन एवं भाव) इन अर्थों का इस प्रकार से वाचक होता है। यह पदसस्काररूप व्याकरण-शास्त्र का (शब्दार्थ) व्यापार है। २–और पदो के परस्पर अन्वयरूप सम्बन्ध का निबन्ध न करना ही वाक्यार्थ का तात्पर्य है, इस प्रकार यह वाक्य विचार रूप मीमांसा शास्त्र के शब्दार्थ निरूपण का प्रकार है। ३—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के कारण (इसका) यह (अर्थ) ठीक है, इसलिए यह वाक्यार्थ युक्तियुत् है, इस प्रकार प्रमाण-शास्त्र का यह (शब्द-अर्थ का) उपयोग है। ४—(अमुक शब्द का) यही (अर्थ)

प्रत्येकं स्वविषये प्राधान्यमन्येषां गुणीभावस्तथापि सकलवाक्परिस्पन्दजीवितायमानस्यास्य साहित्यलक्षणस्यैव कविव्यापारस्य वस्तुतः सर्वथातिशयित्वम्। यस्मादेतदमुख्यतयापि यत्र वाक्यसन्दर्भान्तरे स्वपरिमलमात्रेणैव संस्कारभारभूते तस्यैतदधिवासशून्यतामात्रेणैव रामणीयकविरहः पर्यवस्यति। तस्मादुपादेयतायाः परिहानिरुत्पद्यते। तथा च स्वप्रवृत्तिवैयर्थ्यप्रसङ्गः। शास्त्रातिरिक्तप्रयोजनत्वं शास्त्राभिधेयचतुर्वर्गाधिकफलत्वं चास्य पूर्वमेव प्रतिपादितम् (१।२,५)।

अपर्यालोचितेऽप्यर्थे बन्धसौन्दर्यसम्पदा।
गीतवद्धृदयाह्लादं तद्विदां विदधाति यत् ॥३७॥
वाच्यावबोधनिष्पत्तौ पदवाक्यार्थवर्जितम्।
यत्किमप्यर्पयत्यन्तः पानकास्वादवत्सताम् ॥३८॥

स्वभाव की महत्ता के कारण सहृदय की हृदयहारिता को प्राप्त हो गया है, इस प्रकार साहित्य की (शब्दार्थ के प्रति) उपयुज्यमानता है। इन चारो (व्याकरण, मीमांसा, न्याय एवं साहित्य) मे प्रत्येक की अपने-अपने विषय मे प्रधानता तथा दूसरे के विषय मे गौणभाव है तथापि समस्त वाग्व्यापार के प्राण सदृशव्यवहृत होनेवाले इस साहित्यरूप कविव्यापार (काव्य) की ही वस्तुतः सर्वत्र अतिशयिता रहती है। क्योकि संस्कारभारभूत अन्य वाक्यसन्दर्भों (व्याकरण आदि की रचनाओ) मे जहाँ यह (साहित्य) गौण रूप से ही वर्तमान रहता है, अपने परिमल मात्र से ही (सौन्दर्य सृष्टि कर देता है) किन्तु उन सन्दर्भान्तरो मे इसके द्वारा प्राप्त अधिवासन की शून्यता मात्र से ही रमणीयता का अभाव हो जाया करता है। इस प्रकार उस कथन की उपयोगिता की परिहानि उत्पन्न हो जाती है। और इस प्रकार उस वाक्यसन्दर्भ के स्वव्यापार की व्यर्थता का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है। साहित्य का मीमासा आदि शास्त्रों से भिन्न प्रयोजनयुक्त होना तथा मीमासादि शास्त्रों से प्रतिपादित चतुर्वर्गरूप फल से अधिक फलवाला होना पहले ही (१।३,५) प्रतिपादित किया जा चुका है। (इस प्रकार काव्य मात्र साहित्य ही नही, अन्य शास्त्रो से उत्कृष्ट है, बल्कि उसका प्रयोजन और उद्देश्य भी उनसे बढ़कर है। इस बात को आगे के अन्तरश्लोको से और भी अधिक स्पष्ट करेंगे)।

अर्थ की सम्यक् पर्यालोचना किये बिना ही जो (वक्र कवि-व्यापार) रचना की सौन्दर्य-सम्पत्ति से ही सहृदय काव्य-मर्मज्ञो के हृदय मे गीत की भाँति आनन्द की सृष्टि कर देता है ॥३७॥

वाच्यार्थ-प्रतीति के बाद जो सहृदयों के हृदय मे पद (अभिधेयार्थ) एवं वाक्यार्थ (तात्पर्यार्थ) आदि से व्यतिरिक्त व्यङ्ग्यार्थरूप पानक रसास्वाद के समान कुछ अनिर्वचनीय आनन्द को समर्पित करता है ॥३८॥

शरीरं जीवितेनेव स्फुरितेनेव जीवितम् ।
विना निर्जीवतां येन वाक्यं याति विपश्चिताम् ॥३९॥
यस्मात्किमपि सौभाग्यं तद्विदामेव गोचरम् ।
सरस्वती समभ्येति तदिदानी विचार्यते ॥४०॥

इत्यन्तरश्लोकाः ।

एवं सहिताविति व्याख्याय कविव्यापारवक्रत्वं व्याचष्टे—

कविव्यापारवक्रत्वप्रकाराः संभवन्ति षट् ।
प्रत्येकं बहवो भेदास्तेषां विच्छित्तिशोभिनः ॥१८॥

कवीनां व्यापारः कविव्यापारः काव्यक्रियालक्षणस्तस्य वक्रत्वं वक्रभावः प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिवैचित्र्यं तस्य प्रकाराः प्रभेदा· षट् संभवन्ति । मुख्यतया तावन्त एव संभवन्तीत्यर्थ· । तेषां प्रत्येकं प्रकाराः बहवो भेदविशेषा कीदृशाः—विच्छित्तिशोभिनः वैचित्र्यभङ्गीभ्राजिष्णवः । संभवन्तीति संबन्धः । तदेव दर्शयति—

वर्णविन्यासवक्रत्वं पदपूर्वार्धवक्रता ।
वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः ॥१९॥

प्राण के बिना शरीर एव स्पन्दन के बिना जीवन जैसे व्यर्थ है, वैसे ही जिस (वक्रतारूप व्यापार) के बिना विद्वानो की उक्ति निष्प्राण हो जाती है ॥३९॥

जिससे कोई अनिर्वचनीय ही सौन्दर्य काव्यतत्त्वज्ञ लोगो को ही प्रत्यक्ष होता है, और जिससे सरस्वती (कविगण को) वाणी प्राप्त हो जाती है, इस समय उस (वक्र-व्यापार) का विचार करते हैं ॥४०॥

इस प्रकार ये अन्तर श्लोक समाप्त हुए ।

इस प्रकार 'सहितौ' इसकी व्याख्या कर कवि-व्यापार की वक्रता का विवेचन करते है—

कवि-व्यापार (रूप रचना-प्रक्रिया की) की वक्रता के छः प्रकार होते है। और विच्छित्ति, विभूषित उनके अनेक भेद हो सकते हैं ॥१८॥

कवियो का व्यापार ही कविव्यापार कहा जाता है जो काव्यरचनारूप होता है। उसकी वक्रता-वक्रभाव अर्थात् (लोकशास्त्रादि) प्रसिद्ध प्रस्थान से व्यतिरिक्त सौन्दर्य । उसके प्रकार- प्रभेद छः होते है। प्रधानतया उतने ही हो सकते है, यह अर्थ है । उनमे (छहो मे) प्रत्येक के अनेक प्रकारभेद विशेष होते है। किस प्रकार के भेदविशेष ? विच्छित्तिशोभी—वैचित्र्य की भङ्गिमा से शोभायमान होते है । इस क्रिया से सम्बन्ध है । उसी (भेद) को दिखाते है ॥१८॥

(१) वर्णविन्यासवक्रता (२) पदपूर्वार्द्धवक्रता एवं वक्रता का दूसरा प्रकार तृतीय (३) है प्रत्ययाश्रितवक्रता । (शेष अन्य भेद आगे प्रदर्शित किये जायेंगे) ॥१९॥

वर्णानां विन्यासो वर्णविन्यासः अक्षराणां विशिष्टन्यसनं तस्य वक्रत्वं वक्रभावः प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणा वैचित्र्येणोपनिबद्धः संनिवेशविशेषविहितस्तद्विदाह्लादकारी शब्दशोभातिशयः। यथा—

प्रथममरुणच्छायस्तावत्ततः कनकप्रभ-
स्तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वीकपोलतलद्युतिः।
प्रसरति ततो ध्वान्तक्षोदक्षमः क्षणदामुखे
सरसबिसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छनः ॥४१॥

अत्र वर्णविन्यासवक्रतामात्रविहितः शब्दशोभातिशयः सुतरां समुन्मीलितः। एतदेव वर्णविन्यासवक्रत्वं चिरन्तनेष्वनुप्रास इति प्रसिद्धम्। अत्र च प्रभेदस्वरूपनिरूपणं लक्षणावसरे करिष्यते (२।१)

पदपूर्वार्द्धवक्रता—पदस्य सुबन्तस्य तिङन्तस्य वा यत्पूर्वार्धंप्रातिपदिकलक्षणं धातुलक्षणं वा तस्य वक्रता वक्रभावो विन्यासवैचित्र्यम्। तत्र च बहवः प्रकाराः संभवन्ति। यत्र रूढिशब्दस्यैव प्रस्तावसमुचितत्वेन वाच्य-

---

१—(वर्णविन्यासवक्रता का निरूपण करते है)—अकारादि वर्णो का विशेष प्रकार से निबन्धन वर्णविन्यास कहा जाता है। अर्थात् अक्षरो का विशेष न्यास, (वर्णविन्यास हुआ) उसकी वक्रता-वक्रभाव, प्रसिद्ध प्रस्थान से व्यतिरिक्त विचित्रिता पूर्ण उपनिबन्धन वर्णविन्यासवक्रता कही जाती है। तात्पर्य कि, वर्णो के सन्निवेश विशेष से विनिर्मित काव्यतत्त्वविद् को आनन्द प्रदान करनेवाला शब्दो का शोभातिशय ही वर्णविन्यास वक्रता है। जैसे—

चन्द्रोदय का वर्णन है। उदय के समय प्रथमतः रक्ताभ, उसके बाद सोने के समान (पीली) कान्तियुक्त, और उसके बाद विरह से विकल कृश तनु रमणी गण्डफलक जैसी (पाण्डुर) आभायुक्त और उसके बाद रात्रि के प्रारम्भ मे, प्रदोषकाल मे अन्धकार को चूर्ण करने मे समर्थ, सरस कमलिनी के मूल खण्ड सरीखे सौन्दर्य वाला शशाङ्क (चन्द्रमा) आकाश मे ऊपर सरक रहा है॥४१॥ (यह श्लोक, सुभाषितावली, काव्यप्रकाश, सरस्वतीकण्ठाभरण, सदुक्तिकर्णामृतम्, शृङ्गारतिलक (वाग्भट के काव्यानुशासन की विवृति) तथा अलङ्कारशेखर मे भी उदाहृत हुआ है। काव्यप्रकाश 'चन्द्रिका' मे इसे 'मालतीमाधव' नाटक का श्लोक बताया है।

इस श्लोक मे वर्णविन्यासवक्रता मात्र से विनिर्मित अतिशय सौन्दर्य को सुतरा उभारा गया है। यही वर्णविन्यासवक्रता प्राचीन आलङ्कारिक भामह आदि मे 'अनुप्रास' इस नाम से प्रसिद्ध है। इस विषय मे इसके समस्त भेदो का निरूपण आगे लक्षण के समय (२।१ मे) करेगे।

१—**पदपूर्वार्द्ध वक्रता**—पद-तिङन्त अथवा सुबन्त पद का जो पूर्वार्द्ध, प्रातिपदिक या धातुरूप (प्रकृति) उसकी वक्रता, वक्रभाव अर्थात् विन्यासवैचित्र्य (ही पदपूर्वार्द्धवक्रता है)। उसमे भी अनेक भेद हो सकते है।

प्रसिद्धधर्मान्तराध्यारोपगर्भत्वेन निबन्धः स पदपूर्वार्द्धवक्रतायाः प्रथमः प्रकारः। यथा—

रामोऽस्मि सर्वं सहे ॥४२॥

द्वितीयः—यत्र संज्ञाशब्दस्य वाक्यप्रसिद्धस्य धर्मस्य लोकोत्तरातिशयाध्यारोपं गर्भीकृत्योपनिबन्धः। यथा

रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परा-
मस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यादि परं देवो न जानाति तम्।

(क) जहाँ रूढ़ि शब्द का ही प्रकरण के उपयुक्त वाच्यरूप से प्रसिद्ध धर्म के अतिरिक्त धर्म के अध्यारोपपूर्वक निबन्धन किया जाता है, वहाँ पदपूर्वार्द्धवक्रता का प्रथम भेद होता है। जैसे—

राम हूँ सब कुछ सह लूँगा ॥४२॥

यह पद 'महावीरचरितम्' नाटक के प्रकृत श्लोक का है—

स्निग्धश्यामल कान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाकाघना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कला.।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥
१–४–१४

'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इस पद मे 'मैं राम सब कुछ सह लूँगा' कथन से 'राम' शब्द का जो वाच्यार्थ दशरथपुत्र राम है वह अभिप्रेत न होकर उसके अतिरिक्त 'दारुण-हृदय अत्यन्त 'सहनशील' धर्मयुक्त राम हूँ, अभीष्ट है। इस पद से अपूर्व सौन्दर्य का संविधान किया गया है। राम शब्द रूढ है और सुबन्त का पूर्वार्द्ध है। अतः यह पद पूर्वार्द्धवक्रता का उदाहरण हुआ। ध्वनिवादी आनन्द आदि इसे अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि का उदाहरण मानते हैं।

(ख) पदपूर्वार्द्ध वक्रता का दूसरा प्रकार—जहाँ संज्ञा शब्द के वाच्यतया प्रसिद्ध धर्म का अलौकिक अतिशय रूप से अध्यारोप करके उससे गर्भित उपनिबन्धन किया जाता है वहाँ पदपूर्वार्द्धवक्रता का दूसरा प्रकार होता है—जैसे (यह श्लोक काव्यप्रकाश में सर्वनाम, प्रातिपदिक आदि की व्यञ्जकता के उदाहरण के रूप मे उद्धृत है। 'राघवानन्द' नामक नाटक का यह श्लोक है मम्मट के टीकाकार यह मानते है। 'माणिक्य चन्द' के अनुसार कुम्भकर्ण यहाँ रावण से कह रहा है। चन्द्रिकाकार के अनुसार यहाँ विभीषण कह रहा है। सदुक्तिकर्णामृतम् मे यह श्लोक विशाखदत्त के नाम से उल्लिखित है। सरस्वतीकण्ठाभरण मे भोजराज ने भी इसे उद्धृत किया है)—

'अपने पराक्रम (खरदूषण आदि के वध रूप) माहात्म्य से लोको मे अत्यन्त प्रसिद्धि प्राप्त यह राम है। किन्तु यदि देव महाराज रावण आप उन्हे नहीं पहचानते तो यह हमारे (लङ्कानिवासियों के) दुर्भाग्य से ही है। चारण के समान यह वायु भी

बन्दीवैष यशांसि गायति मरुद्यस्यैकबाणाहति-
श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः ॥४३॥

अत्र रामशब्दो लोकोत्तरशौर्यादिधर्मातिशयाध्यारोपपरत्वेनोपात्तो वक्रतां प्रथयति।

पर्यायवक्रत्वं प्रकारान्तरं पदपूर्वार्द्धवक्रतायाः—यत्रानेकशब्दाभिधेयत्वे वस्तुनः किमपि पर्यायपदं प्रस्तुतानुगुणत्वेन प्रयुज्यते। यथा—

वामं कज्जलवद्विलोचनमुरोरोहद्विसारिस्तनं
मध्यं क्षाममकाण्ड एव विपुलाभोगा नितम्बस्थली।
सद्यः प्रोद्गतविस्मयैरिति गणैरालोक्यमानं मुहुः
पायाद्वः प्रथमं वपुः स्मररिपोर्मिश्रीभवत्कान्तया ॥४४॥

अत्र 'स्मररिपोः' इति पर्याय कामपि वक्रतामुन्मीलयति। यस्मात्कामरिपोः कान्तया मिश्रीभाव शरीरस्य न कथंचिदपि संभाव्यत इति गणानां

जिसकी कीर्ति का गान, जिसके एक ही बाण के प्रहार मे पक्तिबद्ध से विशाल (सात) ताड वृक्षो के छिद्रो से निकलते सात स्वरो द्वारा कर रहा है (उस राम को आप हमारे भाग्यविपर्यय से ही नही जानते) ॥४३॥

इस रचना मे आया 'राम' शब्द, संज्ञास्वरूप राम शब्द, अलौकिक शौर्य आदि धर्म के उत्कर्ष के अध्यारोपपरक के रूप मे ग्रहण किया गया है (वह राम जिसका विक्रम संसारप्रसिद्ध है। जिसने खर प्रभृति राक्षसो का विनाश किया है। एक ही बाण से पंक्तिबद्ध सात विशाल ताड़ वृक्षो को भेदकर सुग्रीव को मित्रता का आश्वासन दिया है और साथ ही बालि का विनाश कर दिया है। इत्यादि अतिशय शौर्ययुक्त है वह राम)।

(ग) पदपूर्वार्द्धवक्रता का अन्य प्रकार है पर्यायवकता। जहाँ किसी वस्तु का अभिधान अनेक शब्दो से सम्भव होने पर भी प्रकृत के अनुकूल किसी अपूर्व पर्याय पद का कविगण निबन्धन करते है, वहाँ पर्यायवक्रता पायी जाती है। जैसे—

भगवती पार्वती से मिश्रित अर्द्धनारीश्वर भगवान् शिव का वर्णन है—प्रियतमा पार्वती के शरीर से प्रथमतः संयुक्त होता हुआ, तुरन्त प्रादुर्भूत विस्मययुक्त अपने गणो से बार-बार दृश्यमान कामरिपु भगवान् अर्द्धनारीश्वर शिव का शरीर आप लोगो की रक्षा करे। जिस शरीर मे बायॉ नेत्र काजल युक्त हो गया है, (वाम) वक्ष प्रादुर्भूत हो रहे विशाल स्तन से युक्त हो गया है, अस्थान मे ही कटि प्रदेश का वाम भाग क्षीण हो गया है और वामनितम्ब भाग अत्यन्त विस्तृत हो गया है ॥४४॥

यहॉ पर (शिव के अनेक पर्याय होने पर भी प्रयुक्त) 'स्मररिपोः' कामशत्रु यह पर्यायपद अपूर्ववक्रतां को उन्मीलित करता है। क्योकि जो स्वयं कामरिपु है उसके शरीर का अपयी पत्नी के शरीर से मिश्रित होना किसी भी प्रकार से सम्भव नही है।

सद्यः प्रोद्गतविस्मयत्वमुपपन्नम्। सोऽपि पुनः पुनः परिशीलनेनाश्चर्यैकारीति 'प्रथम' पदस्य जीवितम्। एतच्च पर्यायवक्रत्वं वाच्यासंभविधर्मान्तरगर्भीकारेणापि दृश्यते। यथा—

अङ्गराज, सेनापते, राजवल्लभ, रक्षैनं भीमाद्दुःशासनम् ॥४५॥

अत्र त्रयाणामपि पर्यायाणामसंभाव्यमानतत्परित्राणपात्रत्वलक्षणमकिंचित्करत्वं गर्भीकृत्योपहस्यते—रक्षैनमिति।

पदपूर्वार्धवक्रताया उपचारवक्रत्वं नाम प्रकारान्तरं विद्यते—

यत्रामूर्तस्य वस्तुनो मूर्तद्रव्याभिधायिना शब्देनाभिधानमुपचारात्। यथा—निष्कारणं निकारकणिकापि मनस्विनां मानसमायासयति। यथा—हस्तापचेयं यशः। 'कणिका'—शब्दो मूर्तवस्तुस्तोकार्थाभिधायी स्तोकत्वसामान्योपचारादमूर्तस्यापि निकारस्य स्तोकाभिधानपरत्वेन प्रयुक्तस्तद्विदाह्लादकारि-

---

इसीलिए उन्हे देखकर गणो को तुरन्त आश्चर्य पैदा हो गया। और वह आश्चर्य होना उपयुक्त ही है। और वह मिश्रित शरीर भी यदि बार-बार परिशीलित किया जाता (देखा जाता) तो शायद उतना आश्चर्यकारी न होता। क्योकि प्रथमतः देखा जा रहा है अतएव आश्चर्य पैदा हुआ। इसलिए 'प्रथम' पद 'स्मररिपोः' पद का प्राणभूत-सा हो गया है।

और यह पर्यायवक्रता वाच्यार्थ से असम्भावित दूसरे धर्म की गर्भता मे भी देखी जाती है। जैसे—(भट्टनारायण विरचित वेणीसंहार नाटक के तृतीय अङ्क की कर्ण के उपहास मे प्रयुक्त भीमसेन की उक्ति है)—

'अङ्गदेश के नरेश (दुर्योधन की) सेना के अधिपति, राजा (दुर्योधन) के प्रियपात्र, भीम से इस दुःशासन की रक्षा करो' ॥४५॥

यहाँ कर्ण सम्बोधन का प्रयोग न करके उसके पर्याय रूप मे निबन्धित तीनो सम्बोधनों—अङ्गराज, सेनापते, राजवल्लभ, से यह भावगर्भित है कि उसमे दुःशासन के रक्षा की योग्यता असम्भव है और इस प्रकार वह कुछ भी नही कर सकता। और इसीलिए 'इसकी रक्षा करो' से का उपहास किया जा रहा है।

(घ) पदपूर्वार्धवक्रता का अन्य प्रकार उपचारवक्रता भी होती है। जहाँ पर अमूर्तवस्तु का मूर्तद्रव्य का अभिधान करनेवाले शब्द से उपचारवश (लक्षणा द्वारा) अभिधान किया जाता है वहाँ उपचारवक्रता होती है। जैसे—

'अकारण की गयी तिरस्क्रिया की कणिका भी अभिमानी जनो के चित्त को पीड़ित करती है (यह उक्ति बाण के हर्षचरित की है)। अथवा जैसे—

'हाथ से चुनने योग्य कीर्ति।'

यहाँ प्रथम उदाहरण मे 'कणिका' शब्द आया हुआ है जो निकार का विशेषण पद है। कणिका शब्द सामान्यतः मूर्त वस्तु के 'स्वल्प' अर्थ को अभिव्यक्त करता है। किन्तु निकार (अपमान) अमूर्त (भावरूप) है। स्वल्पतारूप सामान्य अर्थ

त्वाद्वक्रतां पुष्णाति। 'हस्तापचेयम्' इति मूर्तपुष्पादिवस्तुसंभविसंहतत्वसामान्योपचारादमूर्तस्यापि यशसो हस्तापचेयमित्यभिधानं वक्रत्वमावहति। द्रवरूपस्य वस्तुनो वाचकशब्दस्तरङ्गितत्वादिधर्म निबन्धन किमपि सादृश्यमात्रमवलम्ब्य संहतस्यापि वाचत्वेन प्रयुज्यमान कविप्रवाहे प्रसिद्धः। यथा

श्वासोत्कम्पतरङ्गिणि स्तनतटे इति ॥४६॥

क्वचिद्मूर्तस्यापि द्रवरूपार्थाभिधायी वाचकत्वेन प्रयुज्यते। यथा—

एकां कामपि कालविग्रुषममी शौर्योष्मकण्डूव्यय-
व्यग्रा स्युश्चिरविस्मृतामरचमूडिम्वाहवा बाहव ॥४७॥

एतयोस्तरंगिणीति विप्रषमिति च वक्रतामावहतः।

को बताने के लिए ही यहाँ पर साम्यवश उपचार (लक्षणा द्वारा) से, काणिका शब्द के स्वरूप अर्थ के अभिधायक होने के कारण, अमूर्त निकार के लिए भी स्तोक अर्थ (निकार की स्वल्पता) के अभिधायक रूप मे प्रयुक्त किया गया है। तद्विद के लिए आह्लादकारी होने से यह (उपचार) वक्रता को पुष्ट करता है।

इसी प्रकार 'हस्तापचेयम् यश ' मे भी यश को हाथ से एकत्रित करने योग्य उपचार से ही बताया गया है। मूर्त वस्तु पुष्प आदि को ही हाथो से बटोरा जा सकता है। अमूर्त यश को नही, किन्तु चयनरूप सामान्य धर्म के कारण उपचारतया अमूर्त यश को भी हस्तापचेय कहा गया है। इस प्रकार यहाँ भी उपचारवक्रता सौन्दर्य को पैदा करती है। उपचारवक्रता को ही और अधिक से पुष्ट करते हुए कह रहे है कि—

द्रव रूप वस्तु का वाचक शब्द, तरङ्गितत्व आदि धर्मो के प्रतिपादन के लिए निबन्धित किया गया किसी सादृश्यमात्र को लेकर कठोर (संहत) वस्तु के भी वाचक के रूप मे प्रयुक्त किया जाता हुआ कवि-परम्परा मे प्रसिद्धतया (देखा जाता है)। (द्रव अर्थ के अभिधायक शब्द ठोस अर्थ के भी अभिधायक होते है)। जैसे—

श्वास से प्रादुर्भूत अतिशय काँपते स्तन के प्रान्त (कोरो) पर ॥४६॥

कम्पन होना द्रव पदार्थ का धर्म है। यहाँ ठोस स्तनो पर कम्पन रूप धर्म का प्रादुर्भाव द्रवपदार्थ के कम्पनसाम्य मात्र के आधार पर उपचार से किया गया है जिससे किसी अपूर्व सुन्दरता की सृष्टि होती है। इस प्रकार यहाँ भी उपचारवक्रता ही है। इस पद का पूर्ण श्लोक इसी उन्मेष मे लावण्यगुण के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कवीन्द्रवचनसमुच्चय (स० ४५०) मे भी यह पाया जाता है।

कही अमूर्त अर्थ के वाचक शब्द का द्रवरूप अर्थ के अभिधायक के रूप में वाचकतया प्रयोग किया जाता है। जैसे—(इस श्लोक का उत्तरार्द्ध तृतीय उन्मेष में उपलब्ध है—

लोको यादृशमाह साहसधनं तंक्षत्रियापुत्रकं
स्यात्सत्येन सतादृगेव नभवेद्वार्ता विसवादिनी ॥

साहस के धनी, उस तुच्छ क्षत्रिय पुत्र को जगत् जैसा कहता है वह भले ही सत्यतया वैसा ही हो और इस प्रकार की बाते भी भले ही झूठी न हो। किन्तु बहुत दिनो से

विशेषणवक्रत्वं नाम पदपूर्वार्द्धवक्रातायाः प्रकारो विद्यते—यत्र विशेषण-माहात्म्यादेव तद्विदाह्लादकारित्वलक्षणं वक्रत्वमभिव्यज्यते। यथा—

दाहोऽम्भः प्रसृतिम्पंचः प्रचयवान् बाष्पः प्रणालोचितः
श्वासाः प्रेङ्खितदीप्रदीपलतिकाः पाण्डिम्नि मग्नं वपुः।
किंचान्यत्कथयामि रात्रिमखिलां त्वन्मार्गवातायने
हस्तच्छत्रनिरुद्धचन्द्रमहसस्तस्याः स्थितिर्वर्तते ॥४८॥

अत्र दाहो बाष्पः श्वासा वपुरिति न किंचिद्वैचित्र्यमुन्मीलितम्। प्रत्येकं विशेषणमाहात्म्यात्पुनः काचिदेव वक्रताप्रतीतिः। यथा च—

नीडायोगान्नतवदनया सन्निधाने गुरूणां
बद्धोत्कम्पस्तनकलशया मन्युमन्तर्नियम्य।
तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत्समुत्सृज्य बाष्पं
मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः ॥४९॥

देवताओ की सेना के साथ हुए प्रलययुद्धो को भूली हुई मेरी ये भुजाएँ किसी एक भी अलभ्य समय की बूँद मात्र (एक क्षण की कणिका) भर के लिए पराक्रम की गर्मी से उत्पन्न खुजली को मिटाने में व्यग्र (संलग्न) हो जाये।

उपर्युक्त इन दोनो उदाहरणों मे क्रमशः 'तरङ्गिणी' और 'विप्रुषम्' दोनो ही पद सौन्दर्य को पैदा कर रहे हैं। (द्वितीय मे विप्रुष (बूँद) पद मूर्त द्रव पदार्थ का धर्म है किन्तु स्वल्पतामात्र के साम्य के कारण यहाँ समय के लिए भी उपचार से प्रयुक्त किया गया है जब कि काल स्वयं एक अमूर्त पदार्थ है।

(च)—विशेषणवक्रता भी पदपूर्वार्द्धवक्रता का एक प्रकार है—जहाँ विशेषण के महत्त्व से ही काव्यविद् को आह्लाद प्रदान करने वाला सौन्दर्य अभिव्यञ्जित होता है। जैसे—(वियोगिनी नायिका के विषय मे दूती द्वारा नायक से कहा जा रहा है)—(उसकी) वियोगाग्नि फैले हुए जल को भी सुखा देने वाली है। विवृद्ध अश्रुजल बड़ी-बड़ी नालियो से बहने योग्य हो गया है। काँपती हुई प्रज्ज्वलित दीपलता जैसी उसकी साँसे चल रही हैं। और सम्पूर्ण शरीर ही पीतिमा मे डूब गया है। और अधिक क्या कहूँ, पूरी रात ही तुम्हारे राह की ओर के गवाक्ष मे अपने हाथ के छत्र से चन्द्रमा की धूप को रोके हुई वह (देखती रहती है), यही उसकी अवस्था है।

यहाँ पर दाह, वाष्प, श्वास एवं वपु इन शब्दों ने किसी भी सौन्दर्य का उन्मीलन नहीं किया है। किन्तु एक-एक की विशेषणो के माहात्म्य से (दाहः, के प्रसृतिम्पचः, बाष्पः के प्रणालोच्चिताः, श्वासाः के प्रेङ्खितदीप्रदीपलतिकाः एव वपुः के पाण्डिम्नि-मग्नं, आदि विशेषण हैं) कोई अपूर्व ही सौन्दर्य-प्रतीति हो रही है।

अथवा जैसे—(किसी प्रेमी की अपने निकट के व्यक्ति से उक्ति है) गुरुजन (सास-श्वसुर आदि) के समीप लज्जा लगने के कारण नीचे मुख किये हुई तथा

अत्र चकितहरिणीहारीति क्रियाविशेषणं नेत्रत्रिभागासङ्गस्य गुरुसंनिधानविहिताप्रगल्भत्वरमणीयस्य कामपि कमनीयतामावहति चकितहरिणीहारिविलोचनसाम्येन ।

अयमपरः पदपूर्वार्द्धवक्रतायाः प्रकारो यदिदं संवृतिवक्रत्वं नाम—यत्र पदार्थस्वरूपं प्रस्तावानुगुण्येन केनापि निकर्षेणोत्कर्षेण वा युक्तं व्यक्ततया साक्षादभिधातुमशक्यं संवृतिसामर्थ्योपयोगिना शब्देनाभिधीयते । यथा—

सोऽयं दम्भधृतव्रतः प्रियतमे कर्तुं किमप्युद्यतः ॥५०॥

निरन्तर काँपते स्तनकलश उसने क्रोध को अन्दर ही रोककर, आँसू गिराते हुए जो भयत्रस्त हरिणी के समान मनोहारी नेत्र के त्र्यश (कटाक्ष) को मेरे मे विधिवत् गाड दिया क्या (उसी से उसने) यह नही कह दिया कि रुको (विदेश मत जाओ) ॥४९॥

यहाँ पर 'चकितहरिणीहारि' यह क्रिया-विशेषण, भयत्रस्त चकित मृगी के मनोहारी नेत्र की समानता के कारण, श्वसुर आदि गुरुजनो के समीप न किये जाने वाली प्रगल्भता के कारण सुन्दर नेत्र त्रिभाग (कटाक्ष) के आसक्ति की किसी अपूर्व ही कमनीयता की सृष्टि कर रहा है। इस प्रकार यहाँ विशेषणवक्रता की विच्छित्ति चमत्कारकारिणी हो रही है।

(छ) पदपूर्वार्द्धवक्रता का यह दूसरा प्रकार है जिसे संवृतिवक्रता कहते है—जहाँ प्रकरण के अनुरूप किसी भी उपकर्ष अथवा उत्कर्ष से युक्त पदार्थ का स्वरूप, व्यक्त हो जाने के भय से, साक्षात् नहीं कहा जा सकता, संवरण (गोपन) करने की शक्ति के कारण उपयोगी किसी शब्द से कहा जाता है (वहाँ 'सवृत्तिवक्रता' नामक पदपूर्वार्द्धवक्रता पायी जाती है) । जैसे—(यह श्लोक 'तापसवत्सराजचरित' नाटक से लिया गया है । इसी ग्रन्थ के चौथे उन्मेष मे पूरा श्लोक इस प्रकार है—

चक्षुर्यस्य तवाननादपगतं नाभूत् क्वचिन्निर्वृत
येनैषा सततं त्वदेकशयनं वक्षःस्थली कल्पिता ।
येनोन्भासितया विनावत जगच्छून्यं क्षणाज्जायते
सोऽयं दम्भधृतव्रतः प्रियतमे कर्तुं किमप्युद्यतः ॥५०॥

पत्नी वासवदत्ता की विपन्नता से दुःखित, पद्मावती से परिणय को उद्यत राजा उदयन की स्वगत उक्ति है—जिस (मेरे उदयन) की आँखे तुम्हारे मुख से दूर हटकर कही भी शान्त नही होतीं, जिसने अपने वक्षःस्थल को मात्र तुम्हारे लिए शैया के रूप में निरन्तर समझा, जिस (मेरे) के बिना प्रसन्न भी संसार क्षणभर मे ही तुम्हारे लिए शून्य-सा हो जाया करता था, "हे वल्लभे वासवदत्ते, वही दम्भमात्र के लिए (एकपत्नी) व्रत को धारण करनेवाला यह उदयन कुछ भी (पद्मावती-परिणयरूप अकरणीय) करने को उद्यत है" ॥५०॥

अत्र वत्सराजो वासवदत्ताविपत्तिविधुरहृदयस्तत्प्राप्तिप्रलोभनवशेन पद्मावतीं परिणेतुमीहमानस्तदेवाकरणीयमित्यवगच्छन् तस्य वस्तुनो महापातकस्येवाकीर्तनीयतां ख्यापयति किमपीत्यनेन संवरणसमर्थेन सर्वनामपदेन। यथा च—

निद्रानिमीलितदृशो मदमन्थराया
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि।
अद्यापि मे वरतनोर्मधुराणि तस्या-
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥५१॥

अत्र किमपीति तदाकर्णनविहितायाश्चित्तचमत्कृतेरनुभवैकगोचरत्वलक्षणमव्यपदेश्यत्वं प्रतिपाद्यते। तानीति स्वसंवेद्यत्वेन व्यपदेशाविषयत्वं प्रकाश्यते। तेषां च न च यानि निरर्थकानीत्यलौकिकचमत्कारकारित्वादपार्थकत्वं निवार्यते। त्रिष्वप्येतेषु विशेषणवक्रत्वं प्रतीयते।

वत्सराज उदयन वासवदत्ता की (अग्निदाह) विपत्ति से व्यथित मनवाला, उसकी पुन प्राप्ति के प्रलोभन के कारण पद्मावती से परिणय करने की इच्छा रखता हुआ (वासवदत्त के प्रेम के कारण) उसी को अकरणीय ऐसा मानता हुआ, महापाप के सदृश अकथनीय उस (पद्मावती-परिणयरूप) वस्तु की, संवरणयोग्य 'किमपि' इस सर्वनाम पद से अकीर्तनीयता को प्रख्यापित कर रहा है। (अर्थात् धृतप्रेमा उदयन पद्मावती के साथ परिणय को महापाप समझता है किन्तु उसे कहना नही चाहता। इस मन्तव्य को 'किमपि' पद से गोपित कर दिया गया है। इस प्रकार यहाँ संवरण वक्रता का साम्राज्य है)।

अथवा जैसे—(यह श्लोक विल्हण की 'चौरपञ्चाशिका' का है। धनिककृत दशरूपक के 'अवलोक' हेमचन्द्रकृत काव्यानुशासन एवं समुद्रबन्ध मे भी इसका उल्लेख है—नीद से झपकती आँखो एवं मद से अलसायी उस वरवर्णिनी के वे मीठे अक्षर जो न तो सार्थक थे और न निरर्थक ही (क्योकि अचेतन अवस्था मे कहे गये थे), अब भी मेरे चित्त मे कुछ ध्वनित-सा कर रहे है ॥५१॥

उस सुन्दरी रमणी के मधुर शब्दों के श्रवण से उत्पन्न हृद्गत आनन्द को अनुभवमात्र से जाया जा सकता है (कथन से नही)। इस प्रकार यहाँ 'किमपि' पद उसकी (अनिर्वचनीयता) अनभिधानता को प्रतिपादित कर रहा है। 'तानि' पद से सूचित होता है कि वे मधुर शब्द उस प्रकार के अनुभवविशेष से ही स्मरण करने योग्य है, कहने योग्य नही। 'अर्थवान् भी नही थे, कथन से अशब्दो की सवेद्यता तथा अनभिधेयता प्रकाशित होती है। और 'जो निरर्थक भी नही थे' इस कथन से उनकी अलौकिक चमत्कारकारिता का प्रतिपादन कर उनकी व्यर्थता का निवारण किया गया है। इन तीनों ही पदों मे (तानि, नाप्यर्थवन्ति तथा न चयानि निरर्थकानि में)

इदमपरं पदपूर्वार्धवक्रतायाः प्रकारान्तरं संभवति वृत्तिवैचित्र्यवक्रत्वं नाम—यत्र समासादितवृत्तीनां कासाचिद् विचित्राणामेव कतिभि परिगृहः क्रियते । यथा—

मध्येऽङ्कुरं पल्लवाः ॥५२॥

यथा च—

पाण्डिम्निमग्नं वपुः ॥५३॥

यथा वा—

सुधाविसरनिष्यन्दसमुल्लासविधायिनि ।
हिमधामनि खण्डेऽपि न जनो नोन्मनायते ॥५४॥

अपरं लिङ्गवैचित्र्यं नाम पदपूर्वार्धवक्रतायाः प्रकारान्तरं दृश्यते—यत्र भिन्नलिङ्गानामपि शब्दानां वैचित्र्याय सामानाधिकरण्योपनिबन्धः । यथा—

विशेषणवक्रता प्रतीत हो रही है (क्योंकि ये तीनो पद अक्षराणि के विशेषण रूप मे उपात्त है, और 'किमपि' पद मे सवृतिवक्रता है) ।

(ज) वृत्तिवैचित्र्यवक्रता नाम का यह पदपूर्वार्द्धवक्रता का दूसरा प्रकार सम्भव है—जहाँ प्राप्त वृत्तियो मे कविगण किन्ही विचित्र वृत्तियो को ही स्वीकार करते है (वहाँ वृत्तिवैचित्र्यवक्रता नाम की पदपूर्वार्द्धवक्रता होती है) जैसे—

अङ्कुरो के मध्य पल्लव (किसलय विराजमान) है ॥५२॥

(यहाँ तत्पुरुष समास सम्भव होने पर भी कवि ने अव्ययीभाव का सहारा लिया है जिससे चारुता मे वृद्धि आ गयी है) । अथवा दूसरा उदाहरण—

शरीर पाण्डिमा मे डूबा हुआ है ॥५३॥

(यद्यपि 'पाण्डुतायाम्' प्रयोग भी यहाँ सम्भव था किन्तु तद्धितवृत्ति का सहारा लेकर कवि ने यहाँ वक्रता मे वृद्धि कर दी है) ।

अथवा जैसे अन्य उदाहरण—अमृत प्रवाह के निर्झर से आनन्द पैदा करनेवाले अपूर्ण भी तुहिनदीधिति चन्द्रमा के (उदित हो जाने पर) व्यक्ति उन्मना नही हो ऐसा नही (अर्थात् उन्मना हो ही जाता है) ॥५४॥

यहाँ पर वृत्तिवैचित्र्यवक्रता का सौन्दर्य है ।

(झ) पदपूर्वार्द्धवक्रता का दूसरा प्रकार लिङ्गवैचित्र्य भी देखा जाता है—जहाँ भिन्न लिङ्गवाले भी शब्दो का सौन्दर्य सृष्टि के लिए समानाधिकरण्य से ही उपनिबन्धन किया जाता (वहाँ लिङ्गवैचित्र्यपदपूर्वार्द्धवक्रता होती है) । उदारणार्थ जैसे—

इस जड जगत् (मूर्ख लोक) मे लम्बे कानो (अधिक श्रवण शक्ति) वाला एवं लम्बे सूँड़ (हाथों) वाला (इस हाथी को छोड़ कर महान् व्यक्ति को छोड़कर इस दुनिया मे) और कौन इस प्रकार का पात्र मेरी ध्वनि को सुनने योग्य (मेरी याञ्चा को समझने योग्य) हो सकता है । इस श्लोक का उत्तरार्द्ध इसी ग्रन्थ के द्वितीय उन्मेष मे उपलब्ध है)—

इत्थं जडे जगति को नु बृहत्प्रमाण-
कर्णः करी ननु भवेद् ध्वनितस्य पात्रम् ॥५५॥

यथा च—

मैथिली तस्य दारा ॥ इति ॥५६॥

अन्यदपि लिङ्गवैचित्र्यवक्रत्वम्—यत्रानेकलिङ्गसंभवेऽपि सौकुमार्यात् कविभिः स्त्रीलिङ्गमेव प्रयुज्यते, 'नामैव स्त्रीति पेशलम्' (२।२२) इति कृत्वा । यथा—

एतां पश्य पुरस्तटीम् इति ॥५७॥

पदपूर्वार्धस्य धातोः क्रियावैचित्र्यवक्रत्वं नाम वक्रत्वप्रकारान्तरं विद्यते—यत्र क्रियावैचित्र्यप्रतिपादनपरत्वेन वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरमणीयान् प्रयो-

---

इत्यागतं झटिति योऽलिनमुन्ममन्थ
मातङ्ग एव किमतः परमुच्यतेऽसौ॥

इस प्रकार सोचकर आये हुए भ्रमर (याचक अथवा रस लोभी) को जिसने बड़ी शीघ्रता से मथ डाला (निराशकर भगा दिया) वह मातङ्ग (हाथी—अधम जाति चाण्डाल) ही होता है उसे इससे अधिक और क्या कहा जाये ॥ ५५ ॥

(यहाँ 'बृहत्प्रमाणकर्णः करी' पुलिङ्ग है किन्तु पात्रम् नपुसक लिङ्ग । कवि ने दोनो भिन्न लिङ्गो का समानाधिकरण रूप मे प्रयोग किया है जो अतीव सौन्दर्य को पैदा करता है । प्रकृत श्लोक मे अप्रस्तुत ने प्रशंसा के माध्यम से महान् किन्तु मूर्ख जड व्यक्ति का चित्रण किया गया है ।)

अथवा लिङ्गवैचित्र्य का दूसरा उदाहरण—

मैथिली (सीता) उनकी (धर्म) पत्नी हैं ॥ ५६ ॥

(यहाँ 'मैथिली' शब्द स्त्रीलिङ्ग एवं 'दारा' शब्द पुलिंङ्ग है, दोनों का समान अधिकरण के रूप मे प्रयोग किया गया है ।)

लिङ्गवैचित्र्यवक्रता इतर ढङ्ग से भी होती है—अनेक लिङ्गों का उपनिबन्धन सम्भव होने पर भी जहाँ 'स्त्री' नाम ही पेशल होता है (२।२२) ऐसा समझ कर कविगण स्त्रीलिङ्ग का ही प्रयोग करते है । जैसे—

सामने इस तटी—को देखो ॥ ५७ ॥

('तट , तटी, तटम्' इस प्रकार तट के तीनों लिङ्ग होते हैं, किसी का भी प्रयोग किया जा सकता था । किन्तु रमणीयता लाने के लिए कवि ने यहाँ 'तटीम्' स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग किया है) । यह श्लोक पूरा इस प्रकार है—

एता पश्य पुरस्तटीमिह किल क्रीडाकिरातोहरः
कोदण्डेन किरीटिना सरभसं चूडान्तरे ताडितः ।
इत्याकर्ण्य कथाद्भुतं हिमनिधावद्रौ सुभाद्रस्वते
मन्दं मन्दमकारियेन निजयोर्दोर्दण्डयोर्मण्डलम् ॥ ५७ ॥

गान् निबध्नन्ति कवयः। तत्र क्रियावैचित्र्यं बहुविधं विच्छित्तिविततव्यवहारं दृश्यते। यथा—

रइकेलिहिअणिअंसणकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्स
रुद्दस्स तइअणअणं पव्वइपरिचुम्बिअं जअई ॥५८॥
रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य।
रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति ॥ (इतिच्छाया)॥

अत्र समानेऽपि हि स्थगनप्रयोजने साध्ये तुल्ये च लोचनत्वे, देव्याः परिचुम्बनेन यस्य निरोधः संपाद्यते तद्भगवतस्तृतीयं नयनं जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति वाक्यार्थः अत्र जयतीति क्रियापदस्य किमपि सहृदयहृदयसंवेद्यं वैचित्र्यं परिस्फुरदेव लक्ष्यते। यथा—

(दशरूपक की वृत्ति मे 'शोभा' नामक सात्विक गुण के उदाहरण मे यह उद्धृत है)।

पहले प्रतिपादित कर चुके है कि पदपूर्वार्द्धवक्रता सुबन्त एव तिङन्त रूप पद-पूर्वार्द्ध को लेकर होती है। अब तक सुबन्त के कुछ अवान्तर भेद बताये। आगे तिङन्त का प्रदर्शन करेंगे।

(अ) पदपूर्वार्द्धरूप (तिङन्त) धातु की वक्रता दूसरा भी प्रकार क्रियावैचित्र्य वक्रता नाम का होता है— जहाँ कविगण क्रिया की रमणीयता का प्रतिपादन करने के लिए वैदग्ध्यभङ्गीभणिति से रमणीय ही (क्रिया) के प्रयोगो को निबन्धित करते है। वहाँ भी सौन्दर्य से विस्तृत प्रयोगवाला क्रियावैचित्र्य अनेक प्रकार का होता है। जैसे—

सुरत प्रसङ्ग मे (भगवान् शङ्कर के द्वारा) हटाये गये वस्त्रो के कारण निर्वसना (नङ्गी) अतएव (देवी के) कर किसलयो से बन्द कर दिये गये नेत्रोवाले (भालस्थ तीसरा नेत्र तो खुला ही रह गया है। उससे देख लेंगे बाबाजी, अतः) भगवान् रुद्र का पार्वती से पूर्णतया चुम्बित (अतएव बन्द) तीसरा नेत्र जयनशील सर्वातिशायी है ॥५८॥

यहाँ देवी पार्वती का साध्य शिवजी के तीनो नेत्रो को बन्द कर देना समान होने पर भी, देवी पार्वती के परिचुम्बन से जिसका निरोध सपादित हो रहा है, भगवान् का वह तीसरा नेत्र जयनशील है अथात् सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, यह वाक्यार्थ है। यहाँ 'जयति' इस क्रियापद का सहृदयो के हृदय से ही सवेद्य कोई अनिर्वचनीय ही वैचित्र्य स्फुरित होता हुआ ही परिलक्षित होता है। (वस्तुतः भगवान् शंकर के दो नेत्रो को स्थगित करने मे भगवती की लज्जा ही प्रधान कारण है किन्तु तृतीय नेत्र का परिचुम्बन से स्थगन महत्त्वपूर्ण है। एक तो उसी नेत्र से काम भस्मसात् हो गया दूसरे देवी की निर्वसनता भी देखी जा रही है। अतः देवी ने तृतीय नेत्र, जो काम की दाहिका है, अपने चुम्बन से इसे बुझाकर चातुरी से न केवल लज्जा का ही संवरण कर लिया प्रत्युत् काम की पूर्णता को प्राप्त करने की अभिलाषा भी पूर्ण कर ली। सौन्दर्य इस भाव मे है। इसीलिए तृतीय नेत्र सर्वोत्कृष्ट है)। इसी

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः ।
त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः ॥ ५९ ॥

अत्र नखानां सकललोकप्रसिद्धच्छेदनव्यापारव्यतिरेकि किमप्य पूर्वमेव प्रपन्नार्तिच्छेदनलक्षणं क्रियावैचित्र्यमुपनिबद्धम् । यथा—

स दहतु दुरितं शाम्भवो व शराग्निः ॥ ६० ॥

अत्र च पूर्ववदेव क्रियावैचित्र्यप्रतीतिः । यथा—

कण्णुप्पलदलमिलिअल्लोअणेहिं
हेलालोलणमणिअधणेहि ।
लीलइ लीलावईहि णिरुद्धओ
सिढ़िलिअचाओ अजई मअरद्धओ ॥ ६१ ॥

का दूसरा उदाहरण जैसे— (ध्वन्यालोक मे मङ्गलाचरण को श्लोक है)—(हिरण्यकशिपु का वध करने के लिए अपनी इच्छा से ही केसरी (नृसिह रूप धारण करनेवाले), मधुरिपु (भगवान्) विष्णु के अपनी स्वच्छकान्ति से चन्द्रमा को भी तिरस्कृत कर देने वाले तथा (शरण मे) आये लोगो की पीड़ा को तोड़नेवाले नख आप (श्रोता एव पाठक जनो) की रक्षा करे ॥ ५९ ॥

यहाँ पर नखो का सकललोकप्रसिद्ध (सामान्य) जो छेदन कार्य है उससे भिन्न कुछ अपूर्व ही शरणप्राप्त लोगो की पीडा का विनाश (छेदन) रूप क्रियावैचित्र्य उपनिबन्धित किया गया है । (इस प्रकार यहाँ क्रियावक्रता पायी जाती है ।) अथवा इसी का दूसरा उदाहरण जैसे—

भगवान् शङ्कर की वह बाणो की अग्नि आपके पाप को जला दे ॥ ६० ॥

यहाँ पर भी पूर्व की भाँति (पूर्व उदाहरण 'स्वेच्छाकेसरिण' आदि की भाँति) क्रियावैचित्र्य की प्रतीति हो रही है (सकललोकप्रसिद्ध अग्नि की दाहकता से भिन्न दुरितदहन रूप अपूर्व दाहकता सम्पादन के कारण क्रियावैचित्र्य की प्रतीति हो रही है । यह अमरुक शतक के द्वितीय श्लोक का अन्तिम पद है । पूरा श्लोक इस प्रकार है—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोऽशुकान्तं,
गृह्णन् केशेस्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण् ॥
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरपुर्नतिभिः साश्रुनेत्रो पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः सदहस्तु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥

अथवा (क्रिया वैचित्र्य का ही दूसरा उदाहरण) जैसे—कानो मे पहने गये नीलकमलदल के समान नेत्रोवाली, अनायास चपल नेत्रो से सुन्दर हाव भाव आदि विलासो से युक्त सुन्दरियो के विलास से रोका गया, अतएव 'धनुष को ढीला कर देने वाला काम सर्वोत्कृष्ट है ॥ ६१ ॥

(कर्णोत्पलदलमिलितलोचनैर्हेलालोलनमानि तनयनाभिः ।
लील यालीलावतीभिर्निरुद्धः शिथिलीकृतचाप जयति मकरध्वजः ॥
(इतिच्छाया)

अत्र लोचनैर्लीलया लीलावतीभिर्निरुद्धः स्वव्यापारपराङ्मुखीकृतः सन् शिथिलीकृतचापः कन्दर्पो जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति किमुच्यते, यतस्तास्तथाविधविजयावाप्तौ सत्यां जयन्तीति वक्तव्यम्। तदनत्राभिप्रायः—यत्तल्लोचनविलासानामेवंविधं जैत्रताप्रौढभावं पर्यालोच्य चेतनत्वेन स स्वचापारोपणायासमुपसंहृतवान्। यतस्तेनैव त्रिभुवनविजयावाजितः परिसमाप्यते ममेति मन्यमानस्य तस्य सहायत्वोत्कर्षातिशयो जयतीति क्रियापदेन कर्तृतायाः कारणत्वेन कवेश्चतसि परिस्फुरितः। तेन किमपि क्रियावैचित्र्यमत्र तद्विदाह्लादकारि प्रतीयते। यथा च—

तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥ ६२ ॥

अत्र जल्पान्ति वदन्तीत्यादि न प्रयुक्तम्, यस्मान्तानि कयापि विच्छित्या किमप्यनाख्येयं समर्पयन्तीति कवेरभिप्रेतम्।

यहाँ लीलावती सुन्दरियो के नेत्रो से अनायास निरुद्ध अपने बाण प्रहार रूप विमुख किया गया, धनुष को ढीला किये हुए कामदेव की जय हो—अर्थात् सबसे अधिक उत्कर्प से युक्त। (कामदेव सर्वोत्कर्प युक्त है) यह क्या कहना, कहना तो यह चाहिए कि उस प्रकार की विजय प्राप्त हो जाने पर (अपनी लीला से काम रोककर शिथिल चाप कर देने रूप विजय प्राप्ति से) वे सुन्दरियॉ ही विजयिनी हैं तो यहाँ अभिप्राय यह है—कि उन (लीलावतियो) के नेत्र विलासो की इस प्रकार की जयनशीलता की उत्कृष्टा की विवेचना कर चैतनता बुद्धिमत्ता के कारण उस काम ने अपने धनुषारोहण प्रयास को रोक दिया, समाप्त कर दिया। क्योकि उसी (लीलावतियों के लोचन विलास मात्र) से मेरे द्वारा प्रारम्भ किये गये त्रैलोक्य की विजय प्राप्ति समाप्त ही जाती है, ऐसा मानते हुए उसकी (काम की) सहायता के उत्कर्ष का (लीलावतियो के नेत्र-विलास मे) अतिशय 'जयति' इस क्रिया पद से कर्तता के कारण के रूप मे कवि के चित्त मे परिस्फुरित हुआ है। इसलिए यहाँ 'जयति' इस का कुछ अनिर्वचनीय ही वैचित्र्य तद्विदो को आह्लाद देने वाला है।

अथवा जैसे—(क्रियावैचित्र्य मे ही प्रस्तुत ५१वे उदाहरण 'निद्रानिमीलितदृशो' का यह अन्तिम पद है) (प्रियतमा के उच्चारित वे निरर्थक अथवा सार्थक) शब्द हृदय मे कुछ अपूर्व ही ध्वनित कर रहे है ॥६२॥

यहाँ 'जल्पन्ति' अथवा 'वदन्ति' जैसे पद प्रयुक्त नही किये गये; क्योंकि वे अक्षर किसी अनिर्वचनीय विच्छित्ति से कुछ अकथनीय ही वस्तु समर्पित करते है यह कवि का अभिप्रेत है (जो 'ध्वनन्ति' से ही सम्भव था, अन्य पदों से नही। अतः यहाँ 'ध्वनन्ति' क्रियापद की वक्रता हृदयहारिणी है।'

वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः इति । वक्रभावस्यान्योयऽपि प्रभेदो विद्यते । कीदृशः—प्रत्ययाश्रयः । प्रत्ययः सुप्तिङ च यस्याश्रयः स्थानं स तथोक्तः । तस्यापि बह्व प्रकाराः संभवन्ति-संख्यावैचित्र्यविहित , कारक-वैचित्र्यविहितः, पुरुषवैचित्र्यविहितश्च । तत्र, संख्यावैचित्र्यविहितः—यस्मिन् वचनवैचित्र्यं काव्यबन्धनशोभायै निबध्यते । यथा—

मैथिली तस्य दाराः ॥ इति ॥६३॥

यथा च—

फुल्लेन्दीवरकाननानि नयने पाणी सरोजाकरा ॥६४॥

अत्र द्विवचनबहुवचनयोः समानाधिकरण्यमतीव चमत्कारकारि । कारक-वैचित्र्यविहितः—यत्राचेतनस्यापि पदार्थस्य चेतनत्वाध्यारोपेण चेतनस्यैव क्रियासमावेशलक्षणं रसादिपरिपोषणार्थं कतृत्वादिकारकं निबध्यते । यथा—

अब आगे पुन वक्रता के प्रधान भेद पर आते है—वक्रता का एक और प्रकार है प्रत्ययाश्रय । (१९वी कारिका के उत्तरार्द्ध भाग—वक्रता य· परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रय —की व्याख्या करते है ।) वक्रभाव का और भी प्रभेद है । (वह प्रभेद) कैसा है ?—प्रत्ययाश्रय । प्रत्यय अर्थात् सुप् और तिङ् जिसके आश्रय है, स्थान है, वह उस प्रकार से कहा गया ही (प्रत्ययाश्रय वैचित्र्य है) । उसके भी अनेक प्रकार हो सकते हैं—संख्यावैच्चित्र्य से किया (प्रत्ययाश्रय वैच्चित्र्य) गया, कारकवैचित्र्य से किया गया एवं पुरुषवैच्चित्र्य से किया गया । उसमे भी संख्यावैच्चित्र्यविहित (प्रत्याश्रय वक्रता वहॉ होती है)—जहॉ काव्य-रचना की शोभा के लिए (कविगण) (एक-वचन आदि रूप) वचनसौन्दर्य का निबन्धन करते है। जैसे—मैथिली (सीता) उन (राम) की पत्नी है ॥६३॥

(यहॉ 'मैथिली' पद एकवचन का है; किन्तु 'दारा·' बहुवचन पद का प्रयोग किया गया है जो स्वय मे नित्य बहुवचन होने से अत्यन्त रमणीयता का आधायक हो गया है) ।

अथवा इसी वक्रता का दूसरा उदाहरण जैसे—(उस नायिका के) नेत्र खिले हुए (नील) कमल वन है और दोनो हाथ (रक्त) कमलवन ॥६४॥

यहॉ 'नेत्रे' एव 'पाणी' द्विवचन एवं क्रमशः 'फुल्लेन्दी वरकाननानि' एवं 'सरो-जाकरा' बहुवचन का समानाधिकरण्य (एकविभक्तिक) प्रयोग अत्यन्त चमत्कार का जनक है (अत सख्यावैचित्र्यकृत प्रत्ययाश्रितवक्रता हुई) ।

कारकवैच्चित्र्यविहित प्रत्ययवक्रता वहॉ होती है जहॉ रस आदि की परिपुष्टि के लिए अचेतन पदार्थ मे भी चेतनता का अध्यारोप कर उसके द्वारा चेतन के ही क्रिया-समावेश रूप कर्तृत्व आदि कारक का (अचेतन पदार्थ में भी) निबन्धन किया जाता है । जैसे—

स्तनद्वन्द्वं मन्दं स्नपयति बलाद्बाष्पनिवहो
हठादन्तः कण्ठं लुठति सरस पञ्चमरवः।
शरज्ज्योत्स्नापाण्डुः पतति च कपोलः करतलं
न जानीमस्तस्याः क इव हि विकारव्यतिकरः ॥६५॥

अत्र बाष्पनिवहादीनामचेतनानामपि चेतनत्वाध्यारोपेण कविना कर्तृत्वमुपनिबद्धम—यत्तस्या विवशायाः सत्यास्तेषामेवंविधो व्यवहारः, सा पुनः स्वयं न किंचिदप्याचरितुं समर्थेत्यभिप्रायः। अन्यच्च कपोलादीनां तदवयवानामेतदवस्थत्वं प्रत्यक्षतयास्मदादिगोचरतामापद्यते, तस्याः पुनर्योऽसावन्तर्विकारव्यतिकरस्तं तदनुभवैकविषयत्वाद्वयं न जानीमः। यथा च—

चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी कार्तिकेयो विजेयः
शस्त्रव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः।
अस्त्येवैतत् किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां
बद्धस्पर्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः ॥६६॥

(किसी विरहिणी का वर्णन है), अश्रुप्रवाह जबरन दोनों स्तनों को धीरे से नहला रहा है। रसयुक्त पञ्चमस्वर जबर्दस्ती गले के भीतर लुण्ठित हो रहा है। शरत्समय की चन्द्रिका के समान पीला उसका कपोल हाथों मे गिरा पड़ रहा है; किन्तु पता नहीं, उसका विकार-प्रकार किस तरह का है ॥६५॥

यहाँ अचेतन भी बाष्पसमूहों (बाष्प, पञ्चमरव एवं कपोल) का कवि ने चेतनता का उन पर आरोप कर कर्तृत्व निबन्धित किया है। वह इस प्रकार है कि (विरहवेदना से) विवश उस युवती के रहने पर उन (बाष्प, पञ्चमस्वर एवं कपोल) का इस प्रकार का (स्नान करना, कुण्ठित होना एवं गिर पडना) कार्य है और वह स्वयं कुछ भी करने मे समर्थ नहीं है—यह इसका अभिप्राय है। और दूसरा वैचित्र्य यह भी है कि उसके कपोल आदि अङ्गो की यह अवस्था है जो हम जैसों को प्रत्यक्षतः दृष्टिगत होती है। किन्तु उसकी जो वह मानसिक विकार की स्थिति है उसे हम नहीं जानते; क्योकि वह तो एकमात्र अनुभव का विषय है। (इस प्रकार यहाँ एक ओर तो कारकवक्रता है और दूसरी ओर क्रियावैचित्र्य भी)। अथवा कारकवक्रता का ही दूसरा उदाहरण जैसे—चापाचार्य.।

राजशेखरकृत 'बालरामायण' नाटक का यह श्लोक है। रावण भगवान् परशुराम से कह रहा है—त्रिपुरविजयी (भगवान् शिव) आपके धनुर्विद्या के गुरु रहे है, कार्तिकेय भी आपके विजेय रह चुके हैं (उन्हें भी आपने जीता है) शस्त्र (बाण) से दूर फेका गया समुद्र आपका घर है और यह पृथ्वी आपके द्वारा काश्यप को प्रदान कर दी गयी (षोडशग्राम रूप धरणी अतिथि-भिक्षा बनी)। यह सब तो ठीक ही है किन्तु (अपनी माँ) रेणुका के ही गले को काटनेवाले आपके कुठार के साथ स्पर्द्धा करते हुए मेरी तलवार लज्जित हो जाती है ॥६६॥

अत्र चन्द्रहासो लज्जित इति पूर्ववत् कारकवैचित्र्यप्रतीतिः । पुरुषवैचित्र्य-विहितं वक्रत्वं वि'ते—यत्र प्रत्यक्तापरभावविपर्यासं प्रयुञ्जते कवय, काव्यवैचित्र्यार्थं युष्मद्यस्मदि वा प्रयोक्तव्ये प्रातिपदिकमात्रं निबध्नन्ति । यथा—

अस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जानाति तम् ।।६७।।

अत्र त्वं न जानासीति वक्तव्ये वैचित्र्याय देवो न जानातीत्युक्तम् । एवं युष्मदादिविपर्यासः क्रियापदं विना प्रातिपदिकमात्रेऽपि दृश्यये । यथा—

अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने
न चंद्रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि ।।६८।।

अत्राहं प्रष्टुकाम इति वक्तव्ये ताटस्थ्यप्रतीत्यर्थमयं जन इत्युक्तम् यथा वा—

यहाँ 'चन्द्रहास लज्जित होता है' इस प्रकार के कथन मे पहले की भाँति (अचेतन पर चेतनता का आरोप करने के कारण) कारकवैचित्र्य की प्रतीति हो रही है ।

(उत्तम आदि) पुरुष सौन्दर्य से सम्पादित वक्रता भी होती है—जहाँ कविगण प्रत्येक (प्रथमादि पुरुषो) के अपने स्वरूप का विपर्यासपूर्वक वर्णन करते है, तात्पर्य यह कि काव्य मे सौन्दर्य-सम्पादन के लिए युष्मत् (मध्यम पुरुष) या अस्मद् (उत्तम पुरुष) का प्रयोग करने के बजाय उनके स्थान पर प्रातिपदिकमात्र (प्रथम पुरुष) का निबन्धन करते है । जैसे—

(यह विभीषण की उक्ति जो रावण से कही गयी है, पूर्व भी आ चुकी है ।) हमारे (लङ्कानिवासियो) के भाग्यविपर्यय (दुर्भाग्य से) महाराज आप (रावण) भी उस (त्रैलोक्यविश्रुतपराक्रम राम) को नही जानते ।।६७।।

यहाँ पर 'तुम जानते हो' ऐसा कहने के स्थान पर विचित्रता के लिए 'देव आप नही जानते—देवो न जानाति'—इस पद का प्रयोग किया है । (तात्पर्य यह कि युष्मद् के स्थान पर सौन्दर्य-सम्पादन के लिए 'देव' प्रातिपदिक का प्रयोग कवि ने किया है ।)

इसी प्रकार 'युष्मद्' आदि का विपर्यास क्रियापद के बिना भी प्रातिपदि मात्र मे भी देखा जाता है । जैसे—कुमारसम्भव का श्लोक है । बटु वेषधारी शिव पार्वतीजी से पूछ रहे है)—तपस्वी, आपसे यह व्यक्ति कुछ पूछने की कामना रखता है, यदि रहस्य (गोपनीय) न हो तो (मेरे प्रश्नो का) प्रत्युत्तर देने की कृपा करे ।।६८।।

यहाँ पर मै पूछने की इच्छा रखता हूँ ऐसा कहने के स्थान पर तटस्थता (औदासीन्य) की प्रतीति कराने के लिए 'यह व्यक्ति' ऐसा कहा है । (इस प्रकार यहाँ क्रियापद 'प्राष्टुमनाः' का विपर्यय किये बिना 'असद्' के स्थान पर मात्र प्रातिपदिक का प्रयोग 'अयं जन·' किया गया है जो पुरुषवक्रता को सूचित करता है । कुमार-सम्भव के इस श्लोक का उत्तरार्द्ध इस प्रकार है—

सोऽयं दम्भधृतव्रतः इति ॥६९॥

अत्र सोऽहमिति वक्तव्ये पूर्ववद् 'अयम्' इति वैचित्र्यप्रतीतिः। एते च मुख्यतया वक्रताप्रकाराः कतिचिन्निदर्शनार्थं प्रदर्शिताः। शिष्टाश्च सहस्रशः संभवन्तीति महाकविप्रवाहे सहृदयैः स्वयमेवोत्प्रेक्षणीया।

एवं वाक्यावयवानां पदानां प्रत्येकं वर्णाद्यवयवद्वारेण यथासंभवं वक्रभावं व्याख्यायेदानीं पदसमुदायभूतस्य वाक्यस्य वक्रता व्याख्यायते—

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा।
यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥२०॥

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यः। वाक्यस्य पदसमुदायभूतस्य। आख्यात साव्ययकारकविशेषणं वाक्यमिति यस्य प्रतीतिस्तस्य श्लोकादेर्वक्रभावो भङ्गीभणितिवैचित्र्यम् अन्यः पूर्वोक्तवक्रताव्यतिरेकी समुदायवैचित्र्यनिबन्धः कोऽपि संभवति। यथा—

"अतोऽत्र किञ्चिद् भवती बहुक्षमा द्विजातिभावादुपपन्नचापल· ॥"

अथवा जैसे (पुरुषवक्रता का अन्य उदाहरण)—वह यह (उदयन) दम्भमात्र के लिए (एक पत्नी) व्रत धारण किये हुए कुछ भी (अकरणीय) करने के लिए उद्यत है ॥६९॥

यहाँ पर 'वह मैं' यह कहने के स्थान हर पहले की भाँति वह 'यह' इस पद का प्रयोग किया गया है (अर्थात् अस्मद् के स्थान पर अन्य पुरुषसूचक प्रातिपदिक मात्र सर्वनाम पद 'अयम्' का प्रयोग किया गया है), जिससे अधिक सौन्दर्य की प्रतीति हो रही है।

इस प्रकार निदर्शन मात्र के लिए प्रधानतया कुछ वक्रता के प्रभेद प्रदर्शित किये गये। इस प्रकार के अवशिष्ट हजारो वक्रताप्रकार हो सकते है। इसलिए महाकवियो के प्रवाह (रचनाओ) मे सहृदयजनो को उनको स्वयं देखना चाहिए।

इस प्रकार वाक्य के अवयवभूत पदो (सुबन्त-तिङन्त) के वर्णादि अवयव के माध्यम से (वर्ण आदि) प्रत्येक का यथासम्भव बहुभाव प्रतिपादित कर अब पदो के समुदायभूत वाक्य की वक्रता की व्याख्या की जा रही है—

वाक्य का वक्रभाव (पदवक्रता से) अन्य ही है जो हजारो प्रकार के भेद को प्राप्त होता है। जिसमे (प्रसिद्ध) यह समस्त (उपमादि) अलङ्कारसमूह अन्तर्भूत हो जायगा ॥२०॥

वाक्य का वक्रभाव अन्य ही है। वाक्य का—पदसमुदायभूत वाक्य का। अव्यय, कारक, विशेषण के साथ आख्यात (क्रिया) से युक्त (पद समूह ही) वाक्य है।

इस प्रकार जिस (पद-समूह) की प्रतीति होती है उस (वाक्यरूप) श्लोक आदि का वक्रभाव अर्थात् भङ्गभणितिवैचित्र्य अन्य अर्थात् पूर्वप्रतिपादित (पद) वक्रता से व्यतिरिक्त (पद), समुदाय (वाक्य) की विचित्रता का निबन्धन (पूर्व

स च वक्रभावस्तथाविधो य सहस्रधा भिद्यते बहुप्रकारं भेदमासादयति। सहस्र शब्दोऽत्र संख्याभूयस्त्वमात्रवाची, न नियतार्थवृत्तिः, यथा—सहस्रदलमिति। यस्मात् कविप्रतिभानामानन्त्यान्नियतत्वं न संभवति। योऽसौ वाक्यस्य वक्रभावो बहुप्रकारः, न जानीमस्तं कीदृशमित्याह—यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति। यत्र यस्मिन्नसावलंकारवर्गः कविप्रवाहप्रसिद्धप्रतीतिरूपमादिरलंकरणकलापः सर्वः सकलोऽप्यन्तर्भविष्यति, अन्तर्भावं व्रजिष्यति, पृथक्त्वेन नावस्थाप्यते। तत्प्रकारभेदत्वेनैव व्यपदेशमासादयिष्यतीत्यर्थः। स चालंकारवर्गः स्वलक्षणावसरे प्रतिपदमुदाहरिष्यते।

एवं वाक्यवक्रतां व्याख्याय वाक्यसमूहरूपस्य प्रकरणस्य तत्समुदायात्मकस्य च प्रबन्धस्य वक्रता व्याख्यायते—

वक्रभावः प्रकरणे प्रबन्धे वास्ति यादृश।
उच्यते सहजाहार्यसौकुमार्यमनोहरः॥२१॥

वक्रभावो विन्यासवैचित्र्यं प्रबन्धैकदेशभूते प्रकरणे यादृशोऽस्ति यादृग् विद्यते प्रबन्धे वा नाटकादौ सोऽप्युच्यते कथ्यते। कीदृशः—सहजाहार्य-

---

व्याख्या करते है—सचेति। और वह (वाक्यगत) वक्रभाव उस प्रकार का है, जो हजारो प्रकार के भेद को प्राप्त करता है—अनेक प्रकार के भेद को प्राप्त करता है। सहस्र शब्द यहॉ संख्या की बहुलता मात्र का वाचक है, न कि नियत (सहस्र) अर्थ का वाचक। जैसे सहस्रदल (सहस्रदल कमल को कहते है) उसमे हजार पङ्खुडियॉ होती है इसलिए सहस्रदल उसे नही कहते, प्रत्युत् इसलिए कि उसमे अनेक दल होते है। उसी प्रकार यहॉ भी सहस्र सख्या का नियामक नहीं, बाहुल्य का सूचक मात्र है।) क्योकि कविप्रतिभा का अन्त नही होता, इसलिए वाक्यवक्रता की नियतता (कि हजार भेद ही होते हैं इस प्रकार की निश्चयता) सम्भव नही है। (कोई प्रश्न कर सकता है) जो यह बहु प्रकार वाक्य का वक्रभाव है, उसे हम नहीं जानते कि किस तरह का है? (उत्तर देते है)—जहॉ यह समस्त (उपमादि) अलङ्कारसमूह अन्तर्भूत हो जायगा।' यत्र जिस (वाक्यवक्रता) मे, यह अलङ्कार वर्ग—कवि परम्परा मे प्रसिद्ध प्रतीति वाला, उपमा आदि अलङ्कार समूह, सर्व-सम्पूर्ण भी अन्तर्भूत हो जायगा—अन्तर्भाव को प्राप्त हो जायेगा। (वह अलङ्कार वर्ग) अलग से अवस्थापित नहीं किया जायगा। अर्थात् उस (वाक्यवक्रता) के प्रकार भेद से ही अभिधान को प्राप्त करेगा, यह अर्थ हुआ। और वह अलङ्कारवर्ग उनके (अपने) लक्षण के समय प्रतिपद उदाहृत किया जायगा।

इस प्रकार वाक्यवक्रता की व्याख्या कर वाक्य के समुदायरूप प्रकरण और उसके समुदायरूप प्रबन्ध की वक्रता की व्याख्या की जा रही है—

प्रकरण अथवा प्रबन्ध मे जिस प्रकार का वक्रभाव पाया जाता है (उसे भी) कहा जा रहा है। (वह) सहज, आहार्य और सौकुमार्य (भेद से) मनोहारी होता है॥२१॥

सौकुमार्यमनोहरः। सहजं स्वाभाविकमाहार्यं व्युत्पत्त्युपार्जितं यत्सौकुमार्यं रामणीयकं तेन मनोहरो हृदयहारी यः स तथोक्तः। तत्र प्रकरणे वक्रभावो यथा—रामायणे मारीचमायामयमाणिक्यमृगानुसारिणो रामस्य करुणाक्रन्दाकर्णनकातरान्तःकरणया जनकराजपुत्र्या तत्प्राणपरित्राणाय स्वजीवितपरिक्षानिरपेक्षया लक्ष्मणो निर्भर्त्स्य प्रेषित। तदेतदत्यन्तमनौचित्ययुक्तम्, यस्मादनुचरसन्निधाने प्रधानस्य तथाविधव्यापारकरणमसंभावनीयम्। तस्य च सर्वातिशयचरितयुक्तत्वेन वर्ण्यमानस्य तेन कनीयसा प्राणपरित्राणसंभावने-

---

वक्रभाव-विन्यास की विचित्रता, प्रबन्ध के एक अशभूत प्रकरण मे जैसी है—जिस प्रकार की पायी जाती है अथवा नाटक आदि प्रबन्ध मे (जैसी पायी जाती है), वह भी कही जा रही है। वह किस प्रकार की है ?—'सहज, आहार्य एवं सौकुमार्य से सुन्दर'। सहज-स्वाभाविक, आहार्य-व्युत्पत्ति से उपार्जित तथा जो सौकुमार्य-रमणीय, उससे (इन तीनो से) मनोहर-हृदयहारी जो (वक्रभाव है) वही (प्रकरण-प्रबन्ध का वक्रभाव है) जैसा कि कहा गया है। उनमे भी प्रकरण मे प्राप्त वक्रभाव का उदाहरण है। जैसे—रामायण मे मारीचरूप मायाविरचित स्वर्णमृग के पीछे भागनेवाले रामचन्द्र की करुण चीत्कार को सुनने से भयत्रस्त मनवाली जनकराजपुत्री सीता ने अपने प्राणो की रक्षा से उदासीन होकर रामचन्द्रजी के प्राणो की रक्षा के लिए बहुत-कुछ भला बुरा कह कह लक्ष्मण को भेज दिया। यह तो अतिशय अनौचित्यपूर्ण है। क्योकि सेवक (लक्ष्मण) के समीप रहते प्रधान (राम का) उस प्रकार का कार्य करना (स्वर्णमृग का पीछा करना, जानकी के रक्षा के लिए लक्ष्मण को छोड़ना और पुनः करुणाक्रन्दन) असम्भव-सा ही लगता है। साथ ही सर्वोत्कृष्ट चरित के रूप मे वर्ण्यमान उन (राम) की उनसे छोटे (लक्ष्मण के द्वारा (उनके) प्राण की रक्षा की संभावना, यह तो और भी अनुचित है। ऐसा विचार कर ही 'उदात्तराघव' नामक नाटक मे कवि ने चातुरीपूर्वक मारीचमृग को मारने के लिए गये हुए लक्ष्मण की परिरक्षा के लिए सीता ने भयवश राम को प्रेषित किया ऐसा वृत्तान्त उपनिबन्धित किया है। और यहाँ (उदात्तराघव के उस वर्णन मे) काव्यज्ञ रसिक की आह्लादकारिता ही वक्रता है। और जैसे (भारविविरचित) किरातार्जुनीय महाकाव्य मे किरात (वेषधारी भगवान् शङ्कर द्वारा प्रेषित अनुचर रूप) पुरुष की उक्तियो मे अपने बाणों का अनुसंधान मात्र ही (कवि ने) वाच्य रूप मे प्रस्तुत किया है। किन्तु तात्पर्यार्थ की सम्यक् विवेचना से (स्पष्ट है) कि वस्तुतः (किरात की उक्तियो मे) अर्जुन के साथ वैर (विग्रह-युद्ध आदि) की बात ही वाक्यार्थतया उपनिबद्ध की गयी है। जैसे कि वही (किरातार्जुनीय) मे ही कही गयी है—

(किरात के प्रति अर्जुन की उक्ति है)—(प्रथमतः तो शान्तिमय उक्तियो से तुमने) साम का आचरण प्रयुक्त किया, (तदनतर अपने स्वामी से मित्रता की बात उठाकर) प्रलोभन का प्रयोग किया, (पुनः उसके शौर्य का वर्णन कर) बुद्धि मे

त्येतदत्यन्तमसमीचीनमिति पर्यालोच्य उदात्तराघवे कविना वैदग्ध्यवशेन मारीचमृगमारणाय प्रयातस्य परित्राणार्थं लक्ष्मणस्य सीतया कातरत्वेन रामः प्रेरितः इत्युपनिबद्धम्। अत्र च तद्विदाह्लादकारित्वमेव वक्रत्वम्। यथा च किरातार्जुनीये किरातपुरुषोक्तिषु वाच्यत्वेन स्वमार्गणमार्गणमात्रमेवोपक्रान्तम्। वस्तुतः पुनरर्जुनेन सह तात्पर्यार्थपर्यालोचनया विग्रहो वाक्यार्थतामुपनीतः। तथा च तत्रैवोच्यते—

प्रयुज्य सामाचरितं विलोभनं भयं विभेदाय धियः प्रदर्शितम्।
तथाभियुक्तं च शिलीमुखार्थिना यथेतरन्न्याय्यमिवावभासते॥

(अपने निश्चय से अलग हो जाने के लिए) विभेद पैदा करने के लिए भय का भी प्रदर्शन किया। इस प्रकार बाण को चाहने वाले तुमने ऐसी बाते कह डाली जो अनुचित होती हुई भी उचित-सी प्रतीत होती है॥७॥

(वस्तुतः उक्त श्लोक मे जो उक्त ग्रन्थ के १४वे सर्ग का है—अर्जुन ने सम्पूर्ण १३वे सर्ग की बात कह डाली है। कथा तो सर्वविदित ही है कि अस्त्रप्राप्ति के लिए शङ्करजी को प्रसन्न करने के लिए अर्जुन तपश्चर्या मे लीन थे। मूकदानव उनके वध के लिए शूकररूप मे आता है। भगवान् शङ्कर सगण किरात वेषधारण कर अर्जुन की रक्षा के लिए साथ ही परीक्षार्थ भी आ जाते हैं। अर्जुन तथा किरातशङ्कर दोनो ही दानव पर बाण-प्रहार करते है। अर्जुन के बाणो से उसकी मृत्यु होती है। बाण, अर्जुन शूकर के शरीर से निकाल लेते है। बाणप्राप्ति के लिए शिव का गण किरात अर्जुन के पास आता है और साम, दाम, भय का प्रदर्शन करता है बाण लेने के लिए। यद्यपि इरादा है परीक्षार्थ युद्ध का। इस प्रकार के साम आदि के कतिपय श्लोको को आचार्य विश्वेश्वर ने अपनी टीका मे 'किरातार्जुनीयन्' से प्रस्तुत कर दिया है तथापि औचित्यवश वे यहाँ भी दिये जा रहे है—

शान्तता विनययोगि मानस भूरिधाम विमलं तपः श्रुतम्।
प्राह तेनु सदृशी दिवाकसामन्ववायभवदा तमाकृतिः॥किरात, १३-१७

साम की बातकर आगे के श्लोक से लोभ प्रदर्शन करता है—

मित्रमिष्टमुपकारि सशये मेदिनीपतिरयं तथा च ते।
तं विरोध्य भवता निराक्षि मा सज्जनैकवसतिः कृतज्ञता॥ १३-५१

पुनः भय का प्रदर्शन करता है—

सज्जनोऽसि विजहीहि चापलं सर्वदा क इवा सहिष्यते।
वारिधीनिव युगान्तवायवः क्षोभयन्त्यनिभृता गुरूनपि॥ १३-६६

किरातनरेश ने आपका अपराध क्षमा कर दिया है बाण लोटा दे—

तत्तितिक्षितमिद मया मुनेरित्यवोचत वचश्चमूपतिः।
बाणमत्रभवते निजं दिशन्नाप्नुहि त्वमपि सर्वसम्पदः॥ १३।६८

इस प्रकार की उक्तियो के बाद ही १४वे सर्ग मे अर्जुन के प्रत्युत्तर है, जिनमे प्रकृत श्लोक सातवाँ है। इसमे अर्जुन ने किरात की समस्त उक्तियो का सार ही प्रस्तुत

प्रबन्धेवभावो यथा—कुत्रचिन्महाकविविरचिते रामकथोपनिबन्धे नाटकादौ पञ्चविधवक्रतासामग्रीसमुदायसुन्दरं सहृदयहृदयहारि महापुरुषवर्णनमुपक्रमे प्रतिभासते। परमार्थतस्तु विधिनिषेधात्मकधर्मोपदेशः पर्यवस्यति, रामवद्वर्तितव्यं न रावणवदिति। यथा च, तापसवत्सराजे कुसुमसुकुमारचेतसः सरसविनोदैकरसिकस्य नायकस्य चरितवर्णनमुपक्रान्तम्। वस्तुतस्तु व्यसनार्णवे निमज्जन्निजो राजा तथाविधनयव्यवहारनिपुणैरमात्यैस्तैस्तैरुपायैरुत्तारणीय इत्युपदिष्टम्। एतच्च स्वलक्षणव्याख्यानावसरे व्यक्ततामायास्यति।

एवं कविव्यापारवक्रताषट्कमुद्देशमात्रेण व्याख्यातम्। विस्तरेण तु स्वलक्षणावसरे व्याख्यास्यते।

कर दिया है। शूकर की मृत्यु तो अर्जुन के बाणों से होती है। किरातनरेश का बाण लक्ष्यच्युत् होकर कही और चला गया है। अतः अपने बाण को माँगने के बहाने भगवान् शङ्कर युद्ध की भूमिकाहेतु ही किरात वेषधारी अपने गण को अर्जुन के पास भेजते है। जिसकी उक्तियो के विरोध मे अर्जुन के उक्त कथन है। और इन सबका अर्थ लगाने पर यही लगता है कि बाण का अनुसन्धान तो मात्र भूमिका है। तात्पर्य युद्ध से है। यही इस प्रकार वृत्त की वक्रता है, विच्छित्ति है। यद्यपि वाच्य इससे भिन्न है।

प्रबन्ध मे प्राप्त वक्रभाव का उदाहरण जैसे—महाकवियो से विनिर्मित रामकथामूलक नाटक आदि कही भी, पाँच प्रकार की वक्रता की सामग्री के समुदाय से सुन्दर (पाँच विधवक्रता—(१) वर्णविन्यास, (२) पदपूर्वार्द्ध (३) प्रत्याश्रित (४) वाक्य (५) प्रकरण, छठाँ तो प्रबन्ध का है ही जो इन पाँचो के सहयोग से निष्पन्न होता है), सहृदय हृदयहारी महापुरुष का वर्णन ही प्रारम्भ मे प्रतीत होता है। वास्तव मे उसका अर्थ तो यह है कि 'राम के समान आचरण करना चाहिए—न कि रावण के समान। इस प्रकार विधि-निषेधरूप धर्म के उपदेश मे ही (उस नाटकादि के महापुरुषचरित का) पर्यवसान होता है। (प्रबन्धवक्रता का सौन्दर्य यही है।)

जैसे कि 'तापस वत्सराज' नामक नाटक मे पुष्प के समान कोमलचित्त, आनन्दपूर्ण विनोद के एकमात्र रसिक नायक (उदयन) का चरित-वर्णन ही प्रारम्भ किया गया है। किन्तु वस्तुतया उसका परमार्थ तो यह है कि, विपत्तिसागर मे डूबते हुए अपने राजा को उस प्रकार के नीति-प्रयोग मे निष्णात मन्त्रियो को उन-उन उपायो से उबारना चाहिए, यह उपदेश दिया है (नायक के चरितवर्णन से) और यह सब अपने लक्षण की व्याख्या के समय स्पष्टता को प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार काव्य की वक्रता के छः भेद उद्देश मात्र से कहे गये। (अर्थात् नाममात्र से उनका विवेचन किया गया) किन्तु विस्तार से तो उनके अपने लक्षणो की व्याख्या के समय पर ही व्याख्या की जायगी ॥२१॥

क्रमप्राप्तत्वेन बन्धोऽधुना व्याख्यायते—

वाच्यवाचकसौभाग्यलावण्यपरिपोषकः ।
व्यापारशाली वाक्यस्य विन्यासो बन्ध उच्यते ॥२२॥

विन्यासो विशिष्टं न्यसनं यः सन्निवेशः स एव व्यापारशाली बन्धउच्यते। व्यापारोऽत्र प्रस्तुतकाव्यक्रियालक्षणः । तेन शालते श्लाघते यः स तथोक्तः । कस्य—वाक्यस्य श्लोकादे । कीदृश —वाच्यवाचकसौभाग्यलावण्यपरिपोषकः। वाच्यवाचकयोर्द्वयोरपि वाच्यस्याभिधेयस्य वाचकस्य च शब्दस्य वक्ष्यमाणं सौभाग्यलावण्यलक्षणं यद्गुणद्वयं तस्य परिपोषकः पुष्टतातिशयकारी। सौभाग्यं प्रतिभासंरम्भफलभूतं चेतनचमत्कारित्वलणम्, लावण्यं सनिवेशसौन्दर्यं, तयोः परिपोषकः। यथा—

दत्वा वामकरं नितम्बफलके लीलावलन्मध्यया
प्रोत्तुङ्गस्तनमंसचुम्बिचिबुकं कृत्वा तया मां प्रति ।

क्रम से उपात्त होने के कारण अब बन्ध की व्याख्या की जा रही है—

शब्द और अर्थ के सौभाग्य एव लावण्य को पोषित करने वाला (कवि के काव्य-क्रिया रूप) व्यापार से युक्त वाक्य की रचना को बन्ध कहा जाता है ॥२२॥

विन्यास—विशेष प्रकार का (शब्द आदि का) न्यसन अर्थात् जो सन्निवेश, व्यापारशाली वही 'बन्ध' कहा जाता है। व्यापार यहाँ प्रस्तुत काव्यकरण रूप है (अर्थात् काव्यरचनारूप व्यापार से युक्त वाक्य का सन्निवेश ही 'बन्ध' है)। उस (व्यापार) से जो शालित होता है—प्रशसित होता है (उस प्रकार का वाक्यविन्यास बन्ध कहा जाता है)। किसका (विन्यास)?—वाक्य अर्थात् श्लोक आदि का। कैसा विन्यास?—वाच्य और वाचक के सौभाग्य तथा लावण्य का परिपोषक। वाच्य और वाचक दोनो का ही—वाच्य अर्थात् अभिधालभ्य अर्थ एवं वाचक शब्द का, आगे कहा जाने वाला, सौभाग्य एव लावण्य रूप जो दो गुण उसका परिपोषक-अत्यन्त पुष्टताविधायक (वाक्य-विन्यास बन्ध कहा जाता है)। सौभाग्य प्रतिभा की प्रौढता की फलभूत चेतनचमत्कारिता (को कहा जाता है)। (वर्णादि) के सन्निवेश-सौन्दर्य को लावण्य कहते है। (लावण्यं सस्थानमुग्धमा—लोचन।) उन दोनो का परिपोषक (वाक्य का विन्यास बन्ध कहा जाता है)। उदाहरण जैसे—

(रचना कवीन्द्रवचनसमुच्चय से है) सविलास कटि भाग को घुमाती हुई उस रमणी ने (अपने) बाये हाथ को नितम्बफलक पर रखकर, उत्तुङ्ग (उन्नत) स्तनों को और भी अधिक ऊपर उठाकर, कन्धे को छूते हुए ऐसे कपोल को करके, ईर्ष्या (कामेर्ष्या) सहित, कामसताप को बढ़ानेवाली, छोर पर पिरोये गये नवीन इन्द्रनील-मणि से युक्त मुक्तामाला की सौन्दर्य (विभ्रम) पैदा करनेवाली दो-तीन कटाक्ष सौन्दर्य (सुषमा) को मेरे ऊपर वारित किया ॥७२॥

प्रान्तप्रोतनवेन्द्रनीलमणिमन्मुक्तावलीविभ्रमाः
सासूयं प्रहिताः स्मरज्वरमुचो द्वित्राः कटाक्षच्छताः ॥ ६२ ॥

अत्र समग्रकविकौशलसंपाद्यस्य चेतनचमत्कारित्वलक्षणस्य सौभाग्यस्य कियन्मात्रवर्णविन्यास विच्छित्तिविहितस्य पदसंधानसम्पदुपार्जितस्य च लावण्यस्य पदः परिपोषो विद्यते ।

एवं च स्वरूपमभिधाय तद्विदाह्लादकारित्वमभिधत्ते—

वाच्यवाचकवक्रोक्तित्रितयातिशयोत्तरम् ।
तद्विदाह्लादकारित्वं किमप्यामोदसुन्दरम् ॥ २३ ॥

तद्विदाह्लादकारित्वं काव्यविदानन्दविधायित्वम् । कीदृशम्—वाच्यवाचकवक्रोक्तित्रितयानिशयोत्तरम् । वाच्यमभिधेयं वाचकं शब्दो वक्रोक्तिरलंकरणम्, एतस्य त्रितस्य योऽतिशय कोऽप्युत्कर्षस्तस्मादुत्तरमतिरिक्तम् ।

यहाँ पर कवि की समग्र कुशलता से सम्पाद्य चेतन चमत्कारिरूप सौभाग्य एवं कुछ सीमित वर्णो के विन्यास-सौन्दर्य से सम्पादित, पदरचना की सम्पत्ति से उपर्जित लावण्य का अतिशय परितोष विद्यमान है ॥ ७३ ॥

(वस्तुत कविप्रतिमाप्रौढ़ि से वर्ण्यमान विषय की हृदयहारिता है । यहाँ रमणी के कटाक्षप्रहार की बात कही गयी है । कटाक्ष फेकते समय जो भी सुन्दर स्वरूप एक युवती का हो सकता है उसका पूर्ण चित्र उक्त श्लोक मे उतार दिया गया है । रमणी अपनी कमर को बडी अदा से घुमाती है, बाये हाथ को नितम्ब पर ले जाकर कुछ ऐसी अदा से खड़ी है कि गाल कन्धे को छू गये है और इन्द्रनीलमणि के समान उसकी नीली तथा सहर्ष ताजी आँखे हैं जो शरारतवश तरल हो उठी हैं। सुन्दर आँखें प्रसन्नतातरल होने के कारण नीलमयुक्त मुक्तावली का विभ्रम पैदा करती हैं। ऐसी नीली प्रसन्न मटकती आँखों से उसने जो बाँकपन से कटाक्ष फेके तो बेचारे प्रेमी की हालत खराब हो गयी, होना ही चाहिए। यह है सौभाग्य इस रचना का और लावण्य है वर्णो के सुन्दर विन्यास में) ।

इस प्रकार (बन्ध का) स्वरूप कहकर तद्विदाह्लादकारिता का विवेचन करते है—

अर्थ (वाच्य), शब्द (वाचक) एवं वक्रोक्ति इन तीनो के अतिशय से उत्कृष्ट (लोकोत्तर), आमोद से सुन्दर कोई अनिर्वाच्य हा तत्त्व तद्विदाह्लादकारी (सहृदय हृदयानुरञ्जक—काव्यविद् की आनन्दकारिता) होता है ॥ २३ ॥

तद्विदाह्लादकारिता का अर्थ है काव्य विदों की आनन्द विधायिता। किस प्रकार की ?—वाच्य, वाचक एवं वक्रोक्ति के त्रितय के अतिशय से उत्तर। वाच्य–अभिधालभ्य अर्थ, वाचक शब्द, वक्रोक्ति अलङ्कार इन तीनो का जो अतिशय–अनिर्वाच्य उत्कर्ष, उससे उत्तर—अतिरिक्त, (इन तीनो के त्रितय के) स्वरूप और अतिशय से भिन्न स्वरूप और अतिशय से युक्त यह अनिर्वचीय कुछ अन्य ही तत्त्व है और अर्थात् (वाच्य-वाचक-वक्रोक्ति) इस त्रितय से भी लोकोत्तर है।

स्वरूपेणातिशयेन च स्वरूपेणान्यत् किमपि तत्वान्तरमेतदतिशयेनैतस्मातितया-दपि लोकोत्तरमित्यर्थ । अन्यच्च कीदृशम्—किमप्यामोदसुन्दरम् । किमप्य-व्यपदेश्यं सहृदयहृदयसंवेद्यम् आमोदः सुकुमारवस्तुधर्मो रञ्जकत्वं नाम, तेन सुन्दरं रञ्जकत्वरमणीयम् । यथा—

हंसानां निनदेषु यैः कवलितैरासज्यते कूजता-
मन्यः कोऽपि कषायकण्ठलुठनादाघर्घरो विभ्रमः ।
ते संप्रत्य कठोरवारणवधूदन्ताङ्कुरस्पर्धिनो
निर्याताः कमलाकरेषु बिसिनी कन्दाग्रिमग्रन्थयः ॥७३॥

अत्र त्रितयेऽपि वाच्यवाचकवक्रोक्ति लक्षणे प्राधान्येन कश्चिदपि कवेः संरम्भो विभाव्यते । किन्तु प्रतिभावैचित्र्यवशेन किमपि तद्विदाह्लादकारित्व-

---

और किस प्रकार का है (वहतद्विदाह्लादकारित्व)?—किसी अपूर्व आनन्द से सुन्दर। किमपि-अनभिधेय, (मात्र) सहृदय-हृदय से सबंध आमोद कहते है। सुकुमार वस्तु के धर्म को जिसको रञ्जकता की संज्ञा दी जाती है उससे सुन्दर अर्थात् रञ्जकता से रमणीय (अनिर्वचनीय रञ्जकता से रमणीय भी वह सहृदयहृदयहारित्व होता है)। उदाहरण जैसे—(कमलिनी के नवांकुरो का वर्णन)।

हस्तिवधू के कोमल दन्ताङ्कुर सरीखी कमलिनी के मूलों की वे प्रथम गॉठे अब तालाबों मे उभर आयी हैं (कमलिनी की जड़ों से वे प्रथम अँखुएँ फूट गये हैं) जिनके भक्षण से कूजन करते हुए हंसो की ध्वनियो मे कसैले कण्ठो में लुण्ठित होने के कारण घर्र-घर्र करता हुआ कोई और ही सौन्दर्य आ जाता है।

यहॉ वाच्य-वाचक वक्रोक्ति (शब्द-अर्थ-अलङ्कार) रूप त्रितय के रहते भी कवि की कोई विशेष कल्पनाप्रौढ़ि नही प्रतीत होती है। किन्तु फिर भी प्रतिमा के वैचित्र्य के कारण अपूर्व ही काव्य-मर्मज्ञो की आह्लादकारिता प्रकट हो गयी है। (प्रकृत-रचना मे शब्द का सुन्दर विन्यास तो है ही अर्थ की रमणीयता भी हो ही जाती है। अर्थ की रमणीयता अकुरो की हथिनी के कोमल अंकुर जैसे दॉतो से उपमित होने के कारण साथ ही हंसों की ध्वनि मे परिवर्तन रूप सामर्थ्य के कारण है। और उपमा-अनुप्रास तो है ही। इस प्रकार त्रितय का साम्राज्य है, किन्तु कवि बहुत सावधान नही है, अन्यथा इस रचना मे शायद और ही प्रौढता आ सकती थी।

(कोई कह सकता है कि इन उदाहरणो मे अपने लक्षण को आप पूर्णत घटित नही करते ? इसी का उत्तर देते है कि) यद्यपि सभी उदाहरणो मे (जो अब तक काव्यलक्षण के लिए दिये गये है) काव्य का लक्षण पूर्णतः घटित हो सकता है तथापि जिसकी प्रधानता दिखाने के उद्देश्य से कहा गया है उनका वही अश प्रत्येक उदाहरणो मे प्रधानतया परिस्फुरित हुआ है। इसलिए सभी उदाहरणों मे सहृदयो को स्वयमेव काव्यत्व को समझ लेना चाहिए ॥ २३ ॥

इस प्रकार काव्य का सामान्य लक्षण कह कर उस (काव्य) के विशेष स्वरूप का विषय बताने के लिए रचना के तीन प्रकार के मार्गभेद का विवेचन करते हैं—

मुन्मीलितम्। यद्यपि सर्वेषामुदाहरणानामतिकलकाव्यलक्षणपरिसमाप्तिः संभवति तथापि यत्प्राधान्येनाभिधीयते स एवांशः प्रत्येकमुद्रिक्ततया तेषां परिस्फुरतीति सहृदयैः स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयम्।

एवं काव्यसामान्यलक्षणमभिधाय तद्विशेषलक्षणविषयप्रदर्शनार्थं मार्गभेद-निबन्धनं त्रैविध्यमभिधत्ते—

सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ॥ २४ ॥

तत्र तस्मिन् काव्ये मार्गाः पन्थानस्त्रयः संभवन्ति। न द्वौ चत्वारः, स्वरादिसंख्यावत्तावतामेव वस्तुतस्तज्ज्ञैरुपलम्भात्। ते च कीदृशाः—कवि-प्रस्थानहेतवः। कवीनां प्रस्थानं प्रवर्तनं तस्य हेतवः, काव्यकरणस्य कारणभूताः। किमभिधानाः–सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चेति। कीदृशो मध्यमः–उभयात्मकः। उभयमनन्तरोक्तं मार्गद्वयमात्मा यस्येति विग्रह। छायाद्वयोपजीवीत्युक्तं भवति। तेषां च स्वलक्षणावसरे स्वरूपमाख्यास्यते।

अब (काव्यस्वरूप के प्रतिपादन के बाद) काव्य मे कवियो के प्रवृत्ति के हेतु-भूत जो सुकुमार, विचित्र एवं उभयात्मक मध्यम मार्ग है उनका विवेचन करते है) ॥ २४ ॥

वहाँ–उसमे अर्थात् काव्य मे मार्ग—राहे तीन हो सकती हैं, न दो न चार। वस्तुतः काव्यतत्त्वज्ञो के द्वारा स्वर आदि की नियत संख्या के समान (जैसे स्वर के सात भेद नियत है, न उससे कम न अधिक उसी प्रकार) उतने (तीन ही काव्यमार्गों के) ही की उपलब्धि होने के कारण (तीन मार्गो का ही मैने विवेचन किया है न उससे अधिक चार, न कम दो)। और वे कैसे है?—कवियो के प्रस्थान के कारण हैं। कवियो का प्रस्थान प्रवर्त्तन, उसके कारण, काव्य करने के कारण; काव्य करने के कारणस्वरूप। किस नाम के हैं (वे मार्ग)?—सुकुमार, विचित्र और मध्यम। मध्य का क्या स्वरूप है?—उभयात्मक। उभय का अर्थ है—अव्यवधान से (अभी-अभी) कहा गया दो मार्ग (सुकुमार और विचित्र) जिसका स्वरूप है (वह उभयात्मक है), यह विग्रह हुआ। (सुकुमार और विचित्र) दोनो की छाया का उपजीवी होता है (उभयात्मक मध्यम मार्ग) यह कथित होता है (उभयात्मक पद से)। और उन (तीनो) का स्वरूप (उनके) अपने लक्षण के समय कहा जायगा।

(यद्यपि काव्यमातृका वृत्तियॉ—वृत्तयो काव्यमातृकाः—रीतियो से भिन्न मानी गयी है। किन्तु भिन्न मानी जानेवाली कैशिकी आदि वृत्तियॉ नाटक से सम्बद्ध हैं। किन्तु मम्मटोद्भट आदि ने उपनागरिका आदि जिन वृत्तियो का विवेचन किया है वे वृत्तियॉ रीतियो से भिन्न नही है। इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र मे रीति, वृत्ति, मार्ग आदि शब्द प्रायः समान अर्थ एवं तत्त्व का बोध कराते हैं। आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा है।

अत्र च बहुविधा विप्रतिपन्तयः संभवन्ति। यस्माच्चिरन्तनैर्विदर्भादिदेशविशेषसमाश्रयणेन वैदर्भीप्रभृतयो रीतयस्तिस्रः। समाम्नाताः। तासां चोत्तमाधममध्यमत्ववैचित्र्येण त्रैविध्यम्। अन्यैश्च वैदर्भगौडीयलक्षणं मार्गद्वितयमाख्यातम्। एतच्चोभयमप्ययुक्तियुक्तम्। यस्माद्देशभेदनिबन्धनत्वे रीतिभेदानां देशानामानन्त्यादसंख्यत्वं प्रसज्यते। न च विशिष्टरीतियुक्तत्वेन काव्यकरणं मातुलेयभगिनीविवाहवद् देशधर्मतया व्यवस्थापयितुं शक्यम्। देशधर्मो हि वृद्धव्यवहारपरंपरामात्रशरणः शक्यानुष्ठानतां नातिवर्तते।

रीतिरात्मा काव्यस्य। का० सू० वृ०, १।२।६ वह रीति तीन प्रकार की होती है—वैदर्भी, गौडी एव पाञ्चाली—

सा त्रेधा वैदर्भी गौडि या पाञ्चाली चेति। वही ११२।९ पुनः उनका कहना है कि विदर्भ आदि देशो मे प्रचलित होने के कारण ही उक्त रीतियो के वैदर्भी इत्यादि नाम दिये गये है—

विदर्भादिपु दृष्टत्वात् तत्समाख्या। वही, १।२।१०, किन्तु आगे वृत्ति मे उन्होने यह स्पष्ट कर दिया है कि विदर्भ आदि देशो के कवि उन-उन रीतियो मे रचना करते हैं इसलिए वैदर्भी आदि नाम है, अन्यथा देशविशेष से काव्य का कोई सम्बन्ध नही है—'विदर्भ गाड पाञ्चालेपु तत्रत्यैः कविभिर्यथा स्वरूप मुपलब्धत्वात् तत्समाख्या। न पुनर्देशैः किञ्चिदुपक्रियते काव्यानाम्। (वही वृत्ति) और गोपेन्द्र त्रिपुरहारभूपाल की टीका भी है—'विदर्भादि पदैरुपचाराद्विदर्भादि देशस्थाः कवयो लक्ष्यन्ते।' किन्तु कुन्तक भ्रान्तिवश देशविशेष के आधार को लेकर आगे वामन की आलोचना करगे। इसी प्रकार दण्डी रीति के दो ही भेद मानते है। वैदर्भी और गौडी। और उन्हीं का विवेचन भी करते है। यद्य प अनेक मार्ग है यह भी कहते है—

अस्त्यनेको गिरा मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ॥ काव्यादर्श, १।४०

इन्ही दो मतों की आगे कुन्तक आलोचना करते है—अत्रेति से)

और यहाँ मार्गत्रितय के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की आशङ्काएँ हो सकती हैं। क्योकि प्राचीनो (वामन आदि आचार्यो ने, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है) ने विदर्भ आदि देश को आश्रय मानकर वैदर्भी आदि (गौडी-पाञ्चाली) तीन रीतियों की व्याख्या की है और उनके उत्तम, अधम एवं मध्यम वैचित्र्य से त्रैविध्य की विवेचना की है (वामन कहते है—तासा पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात्, न पुनरितरे स्तोक गुणत्वात्। वही, १,२,१४-१५। उन तीनो रीतियो मे समग्र गुणसम्पन्न होने के कारण वैदर्भी ही उत्तम एव ग्राह्य है। इतर मे गौडी अधम एव उभयात्मक पाञ्चाली मध्यम गुण होती है। कुन्तक ने भी सुकुमार, विचित्र एवं उभयात्मक मध्यम मार्ग वामन से ही प्राप्त किया है यद्यपि उत्तमाधम मध्यम के वे विरोधी भी है। इस प्रकार कुन्तक कहना चाहते है कि वामन उत्तम, अधम एवं मध्यम मानकर ही रीतियो का

तथाविधकाव्यकरणं पुनः शक्त्यादिकारणकलापसाकल्यमपेक्ष्यमाणं न शक्यते यथा—कथांचिदनुष्ठातुम्। न च दाक्षिणात्यगीतविषयसुस्वरतादिध्वनिरामणीयकवत्तस्य स्वाभाविकत्वं वक्तुं पार्यते। तस्मिन् सति तथाविधकाव्यकरणं सर्वस्य स्यात्। किंच शक्तौ विद्यमानायामपि व्युत्पत्त्यादिराहार्यकारणसम्पत्प्रतिनियतदेशविषयतया न व्यवतिष्ठते, नियमनिबन्धनाभावात् तत्रादर्शनाद् अन्यत्र च दर्शनात्। न च रीतीनामुत्तमाधममध्यमत्वभेदेन त्रैविध्यं व्यवस्तापयितुं

त्रैविध्य स्थापित करते है)। और अन्य (दण्डी आदि) ने वैदर्भ एवं गौडीय रूप दो मार्गो की विवेचना की है। यह दोनो ही विवेचन (देशसमाश्रित एव उत्तमाधम मध्यम आधार पर भेद-विवेचन वामन का तथा दण्डी का वैदर्भ-गौड दो मार्ग) युक्तियुत् नही है। क्योकि रीति के भेदो का देशविशेष के भेद के आधार पर निबन्धन किये जाने पर, देशो की अनन्तता होने के कारण रीति के भेदो मे भी अनन्तता-असख्यभेदता-प्रसक्त हो जायगी। पूर्वपक्षी (कह सकता है)—देशविशेष के धर्म (प्रथा) से ममेरी बहन के साथ होनेवाले विवाह की भॉति देशविशेष के धर्म के आधार पर विशेष रीति से युक्त होने के कारण काव्यक्रिया (के भेदो की) अवस्थापना की जा सकती है (अर्थात् किसी देशविशेष मे जैसे ममेरी बहन के साथ वहॉ की प्रथा होने के कारण विवाह हो जाता है, वैसे ही यदि किसी देशविशेष मे वह रीति पायी जाती है तो वहॉ की विशिष्ट परम्परा के कारण उसका स्वरूप भी काव्यजगत् मे उसके नाम से व्यवस्थित किया जा सकता है ?) (कुन्तक उत्तर देते है)—नही (ऐसी व्यवस्था नही की जा सकती)। क्योकि देशधर्म वृद्धो (श्रेष्ठजनो) की व्यवहार-परम्परा मात्र पर आधृत होता है, इसलिए सम्भव अनुष्ठानो का वहॉ अतिक्रमण नहीं हो पाता (अर्थात् वृद्ध व्यवहार परम्पराश्रित होने के कारण ममेरी बहन से विवाह तो हो सकता है। किन्तु उस प्रकार की काव्यक्रिया तो उस प्रकार से (मातुलेय भगिनी विवाह की भॉति देशधर्म के आधार पर) किसी भी प्रकार से नहीं की जा सकती। क्योकि काव्यक्रिया शक्ति आदि (काव्य के) कारणसमूहो की परिपूर्णता की अपेक्षा रखती है (जबकि देशधर्म वृद्धों की व्यवहार-परम्परा मात्र की अपेक्षा रखता है)। पूर्वपक्षदाक्षिणात्यो के सगीतविपयक सुन्दर स्वर आदि रूप ध्वनि की रमणीयता के समान उस (प्रकार की वैदर्भ देशआश्रित रचना) को स्वाभाविक कहा जा सकता है ? उत्तर—ऐसा नही कहा जा सकता। क्योकि (यदि यह मान लिया जाय कि वैदर्भ देश समाश्रित रचना मे उस प्रकार की स्वाभाविकता होती है इसलिए उस काव्य को उस रीति से युक्त मानते है तो ऐसा मानने पर तो वहॉ के) सभी लोगो मे उस प्रकार की काव्यरचना सम्भव हो जायगी लेकिन ऐसा होता नहीं)। (कोई कहे कि उस रीति के कवि मे शक्ति विद्यमान रहती है इसलिए वह ऐसी रचना कर लेता है तो ?—कहते है)—यदि यह भी मान लिया जाय कि (उस प्रकार की काव्य-क्रिया करनेवाले सभी मे) शक्ति विद्यमान है तो भी, (काव्य का

न्याय्यम्। यस्मात् सहृदयाह्लादकारिकाव्यलक्षणप्रस्तावे वैदर्भीसदृशसौन्दर्यासंभवान्मध्यमाधमयोरुपदेशवैयर्थ्यमायाति। परिहार्यत्वेनाप्युपदेशो न युक्ततामालम्बते, तैरेवानभ्युपगतत्वात्। न चागतिकगतिन्यायेन यथाशक्ति दरिद्रदानादिवत् काव्यं करणीयतामर्हति। तदेवं निर्वचनसमाख्यामात्रकरणकारणत्वे देशविशेषाश्रणयस्य वयं न विवदामहे। मार्गद्वितयवादिनामप्येतान्येव दूषणानि। तदलमनेन निःसारवस्तुपरिमलनव्यसनेन।

कारण केवल शक्ति ही तो नहीं है, उसमे अभ्यासप्राप्त) व्युत्पत्ति आदि रूप आहार्य (काव्य की) कारण-सामग्री प्रत्येक नियत देश के विषय के रूप मे तो व्यवस्थित नही होती (अर्थात् ऐसा तो कोई नियम नहीं है कि विदर्भ देश मे आहार्य सामग्री इतनी मात्रा मे पायी जायगी और गौड मे इतना ही। और काव्यक्रिया मे शक्ति के साथ-साथ अभ्यासादि आहार्य कारणो की भी आवश्यकता होती है। यदि मान ले कि वैदर्भी रचना मे स्वाभाविक रूप से सुन्दरता पायी जाती है; क्योकि तत्स्थ कवि मे शक्ति विद्यमान रहती है तो कठिनाई यह है कि केवल शक्ति मात्र से तो काव्य बनता नहीं। व्युत्पत्ति भी उसके लिए आवश्यक तत्त्व है और विदर्भ आदि देशो के लिए व्युत्पत्ति की इयत्ता निश्चित नही है)। क्योकि इस प्रकार के किसी नियम की व्यवस्था का अभाव पाया जाता है (कि इस देश मे इतनी ही आहार्य कारण सामग्री पायी जायगी)। उस (विदर्भ देश) मे (उस आहार्य सम्पत्ति का) दर्शन नही पाया जाता (यह भी नहीं कहा जा सकता, और न यही कहा जा सकता है विदर्भ देश से इतर) अन्य देश मे (आहार्य सम्पत्ति) का दर्शन पाया जाता है (इसलिए देश-भेद के आधार पर रीतियो की नाम-व्यवस्था अयुक्तियुक्त है)।

और रीतियों की त्रिविधता (उनकी) उत्तमता, अधमता एवं मध्यमता के आधार पर व्यवस्थित करना भी उपयुक्त नही है। क्योकि (उत्तमता आदि के आधार पर तो) सहृदयो के हृदय को आनन्दित करनेवाले काव्यस्वरूप के प्रसङ्ग मे मध्यम और अधम काव्य-रचनाओ का तो उपदेश ही व्यर्थ हो जायगा। इसलिए कि (सामग्री गुणोपेता) वैदर्भी के समान उनमे सौन्दर्य मिलना असम्भव है। (यदि कोई कहे कि उत्तमाधममध्यम की व्यवस्था इसलिए की गयी है कि अन्तिम दो) परिहार्य है अतः उस प्रकार की रचना का उपदेश न्याय्य हो सकता है ? तो यह भी उचित नही है; क्योकि उन्हीं (वामन ने ही ऐसा स्वीकार नही किया है (वस्तुतः यहाँ वामन तो पूर्ण स्पष्ट है। वह कहते है—तासां पूर्वा ग्राह्या, गुणसाकल्यात्, नेतरे स्तोकगुणत्वात्—अर्थात् उन तीनो रीतियो मे समग्र गुणयुक्त होने के कारण कवि को वैदर्भी का ही आश्रय लेना चाहिए न कि कम गुणयुक्त गौडी और पाञ्चाली। किन्तु वामन का यह भी अभिमत नही है कि अन्त की दो का परित्याग किया जाय। दूसरी बात ध्यान देने की है कि वामन स्पष्टतः कही भी नही कहते कि रीतियो की यह त्रिधा व्यवस्था उनकी उत्तमता, अधमता एवं मध्यमता को लेकर है। कुन्तकाचार्य सम्भावना पर

कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वेन काव्यप्रस्थानभेदः समञ्जसतां गाहते। सुकुमारस्वभावस्य कवेस्तथाविधैव सहजा शक्तिः समुद्भवति, शक्तिशक्तिमतोरभेदात्। तया च तथाविधसौकुमार्यरमणीयां व्युत्पत्तिमाबध्नाति। ताभ्यां च सुकुमारवर्त्मनाभ्यासतत्परः क्रियते। तथैव चैतस्माद् विचित्रः स्वभावो यस्य कवेस्तद्विदाह्लादकारिकाव्यलक्षणकरणप्रस्तावात् सौकुमार्यव्यतिरेकिणा वैचित्र्येण रमणीय एव, तस्य च काचिद्विचित्रैव तदनुरूपा शक्तिः समुल्लसति। तया च तथाविधवैदग्ध्यबन्धुरां व्युत्पत्तिमाबध्नाति। ताभ्यां च वैचित्र्यवासनाधि-

---

ही यह आलोचना करते प्रतीत होते है)। और यदि कोई कहे यथाशक्ति दरिद्र के दान की भॉति अगतिकगति न्याय से (जाने मे असमर्थ जो थोड़ा भी चल लेने की रीति से) जिस कवि की कही कोई गति नही है अपनी सामर्थ्य के अनुसार वह (अधम मध्यम मार्गो को लेकर) काव्यक्रिया कर सकता है (यह समझ कर ही आचार्य वामन ने वैसे भेद किये है तो) यह भी उचित नही है क्योकि उस प्रकार के (अधम मध्यम) काव्यों की रचना ठीक नहीं (जब कि उत्तम वर्तमान हो। इस प्रकार उत्तम, अधम एव मध्यमत्व को लेकर रीतियो का त्रैविध्य स्थापित नही किया जा सकता)। उपसहार करते है—तो इस प्रकार देशविशेष के आश्रय को लेकर किये गये रीतियो के निर्वचन एव अभिधान मात्र की कारणता मे ही हमारा विवाद नही है अपितु (उनके उत्तमादि को लेकर निर्धारित स्वरूपभेद पर भी है)। (काव्य मे) दो ही (वैदर्भगौड) मार्ग हो सकते है ऐसा कहनेवाले (दण्डी आदि) के लिए भी (हमारे पक्ष से) ये ही उक्त दोष है। तो (पुनः उनका पिष्टपेषण व्यर्थ है) इस प्रकार नि.सार वस्तु को बार-बार मीजने का व्यसन व्यर्थ है (पुनः पुनः आलोचना निरर्थक है, इसलिए इस विषय को छोड़ा जाता है)।

अब पुनः प्रकृत पर आते हैं—कवीत्यादि से। कविस्वभाव के भेद के आधार पर निबधित काव्य के आधार पर ही काव्य-मार्ग का किया गया भेद सम्यक् उचित हो सकता है, (न कि देशविशेष के आधार पर)। सुकुमार स्वभाववाले कवि को उस प्रकार की ही (सुकुमार रचनापरायणा) सहज शक्ति पैदा हो जाती है (क्योकि) शक्तिमान् मे अभेद सम्बन्ध पाया जाता है। और उस (सहज सुकुमार शक्ति) के द्वारा वह कवि उस प्रकार की स्वाभाविकता-समान्वित सुकुमारता से रमणीय व्युत्पत्ति को प्राप्त करता है (चतुर्दिक् से ग्रहण करता है, बटोरता है)। और उन दोनों (सहज सुकुमार शक्ति एव सहज सुकुमार व्युत्पत्ति) की सहायता से (कवि) सुकुमार मार्ग के माध्यम से ही (काव्यरचना के अभ्यास मे तत्पर किया जाता है। और उसी तरह जिस कवि का स्वभाव इस सुकुमार स्वभाव से (भिन्न) विचित्र (प्रकार का) होता है तद्विद् आह्लादकारी काव्यस्वरूप के निर्माण के प्रसग मे वह सौकुमार्य से भिन्न वैचित्र्य से युक्त होने के कारण रमणीय (विचित्र स्वभाव युक्त ही) होता है। और उसे उसके (विचित्र स्वभाव के) अनुरूप कोई विचित्र ही शक्ति समुत्पन्न होती

वासितमानसो विचित्रवर्त्मनाभ्यासभाग् भवति । एवमेतदुभयकविनिबन्धन-संवलितस्वभावस्य कवेस्तदुचितैव शबलशोभातिशयशालिनी शक्तिः समुदेति । तया च तदुभयपरिस्पन्दसुन्दरव्युत्पत्त्युपार्जनमाचरति । ततस्तच्छायाद्वितय-परिपोषपेशलाभ्यासपरवशः संपद्यते ।

तदेवमेते कवयः सकलकाव्यकरणकलापकाष्ठाधिरूढिरमणीयं किमपि काव्यमारभन्ते, सुकुमारं विचित्रमुभयात्मकं च । त एव तत्प्रवर्तननिमित्तभूता मार्गा इत्युच्यन्ते । यद्यपि कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वादनन्तभेदभिन्नत्वमनिवार्यं, तथापि परिसंख्यातुमशक्यत्वात् सामान्येन त्रैविध्यमेवोपपद्यते । तथा च

है । और उस (विचित्र शक्ति एव स्वभाव) से वह उस प्रकार की (विचित्रता से युक्त) विदग्धता से कोमल व्युत्पत्ति) को धारण करता है । और उन दोनो (विचित्र शक्ति एवं व्युत्पत्ति) के द्वारा वैचित्र्य की वासना से अधिवासित (सस्कृत) बुद्धि वह कवि विचित्र मार्ग से (काव्यक्रिया का) अभ्यास करने का भागी होता है । इसी प्रकार इन दोनो प्रकार (सुकुमार एव विचित्र) के कवियो से मय-संबधित (दोनो के) मिश्रित स्वभाववाले कवि को उसके (सुकुमार एवं विचित्र-स्वभाव के) अनुरूप ही (सुकुमारता एव वैचित्र्य से) मिश्रित अतिशय शोभाशालिनी (उभयात्मिका) शक्ति समुदित होती है । और वह उस (उभयात्मिका) शक्ति से उन दोनो (सौकुमार्य एव वैचित्र्य) शक्ति के स्वभाव से सुन्दर व्युत्पत्ति के उपार्जन का प्रयास करता है । और उसके बाद यह उन दोनो (सौकुमार्य एवं वैचित्र्य) की कान्ति के परिपोष से रमणीय (रचना) के अभ्यास मे तत्पर कर दिया जाता है ।

पुनः तीनो मार्गो को और भी स्पष्ट करते है—तदेवमेते आदि से । इस प्रकार ये तीनो प्रकार के ही कवि काव्यरचना के समग्र असाधारण कारणो के द्वारा रमणीयता की चरम सीमा को प्राप्त किसी अपूर्व ही काव्य की रचना का सूत्रपात करते हैं जो सुकुमार, विचित्र और उभयात्मक होता है । वे ही (तीनो प्रकार के सुकुमार, विचित्र एवं उभयात्मक काव्य) उन कवियों की (काव्य-रचना मे) प्रवृत्ति के करण होने के कारण मार्ग ऐसा कहे जाते हैं । (पूर्व पक्ष से कहा जा सकता है कि संसार मे कविस्वभाव के अनन्त भेद हो सकते है फिर कविस्वभाव के आधार पर ही काव्य-मार्ग का त्रिधा विभाग तो उपयुक्त नही लगता ? इसी का उत्तर देते हैं) । कविस्वभाव के भेद से निबन्धित होने के कारण यद्यपि मार्ग के (कविस्वभाव की अनन्ता संभव होने के कारण अनन्त भेद होने अनिवार्य हैं, किन्तु (स्वभाव एवं तदाश्रित मार्ग की) परिगणना करना अशक्य होने के कारण सामान्यतया मार्ग की विविधता ही ठीक है । और इस प्रकार (मार्ग की त्रिविधता ही ठीक है, निश्चित हो जाने के बाद) रमणीय काव्य को स्वीकार करने के प्रसङ्ग मे तो प्रथम वर्ग है—सुकुमार स्वभाव (काव्य) । क्योंकि उससे व्यतिरिक्त अन्य काव्य असुन्दर होने के कारण उपादेय नही होता । और उस सुकुमार काव्य से व्यतिरिक्त, भिन्न रमणीयता-

रमणीयकाव्यपरिग्रहप्रस्तावे स्वभावसुकुमारस्तावदेकोराशिः, तद्व्यतिरिक्तस्या-रमणीयस्यानुपादेयत्वात्। तद्व्यतिरेकी रामणीयकविशिष्टो विचित्र इत्युच्यते। तदेतयोर्द्वयोरपि रमणीयत्वादेतदीयच्छायाद्वितयोपजीविनोऽन्यस्य रमणीयत्व-मेव न्यायोपपन्नं पर्यवस्यति। तस्मादेषां प्रत्येकमस्खलितस्वपरिस्पन्दमहिम्ना तद्विदाह्लादकारित्वपरिसमाप्तेर्न कस्यचिन्न्यूनता।

ननु च शक्त्योरान्तरतम्यात् स्वाभाविकत्वं वक्तुं युज्यते, व्युत्पत्त्यभ्या-सयोः पुनराहार्ययोः कथमेतद् घटते ? नैषः दोषः, यस्मादास्तां तावत् काव्य-करणम्, विषयान्तरेऽपि सर्वस्य कस्यचिदनादिवासनाभ्यासाधिवासितचेतसः स्वभावानुसारिणावेव व्युत्पत्त्यभ्यासौ प्रवर्तेते। तौ च स्वभावाभिव्यञ्जनेनैव साफल्यं भजतः। स्वभावस्य तयोश्च परस्परमुपकार्योपकारकभावेनावस्था-

---

विशिष्ट (दूसरा काव्य है) जो विचित्र कहा जाता है। इस प्रकार इन दोनो के ही रमणीय होने के कारण, इन दोनो (सुकुमार एवं विचित्र) की उभयात्मक कान्ति के उपजीवी इतर (माध्यम मार्गाश्रित काव्य) की रमणीयता युक्तियुक्त ही है यह अपने आप व्यक्त हो जाता है। इसलिए इन तीनो मे किसी की भी (एक-दूसरे की अपेक्षा) हीनता नही है (जैसा कि वामन मानते हैं) क्योकि इनमे से प्रत्येक की अपने पूर्ण स्वभाव के माहात्म्य से सहृदय-हृदय काव्यमर्मज्ञो की आह्लादकारिता मे परिपूर्णता है, उपादेयता है।

(प्रकारान्तर से ऊपर कुन्तक ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि काव्य हेतु शक्ति एवं व्युत्पत्ति दोनों ही है। पूर्ववर्ती काव्याचार्यो ने) शक्ति को ही काव्य के प्रति प्रधान हेतु माना है। ऐसी स्थिति मे जब कि शक्ति कवित्व का बीज होने के कारण स्वाभाविक तत्त्व है काव्य के लिए और व्युत्पत्ति अभ्यासजन्य होने के आहार्य तो फिर सन्देह पैदा हो सकता है कि)।

(सुकुमार एवं विचित्र काव्य की सुकुमार एवं विचित्र) शक्तियो के अन्तरतम होने के कारण उनकी स्वाभाविकता तो कही जा सकती है, किन्तु व्युत्पत्ति एवं अभ्यास दोनो आहार्य होते है। इन दोनो के लिए यह (स्वाभाविकता जैसे कि पहले आपने कही है) कैसे उचित हो सकती है ? उत्तर देते है—यह कोई दोष नही है, काव्य करने की बात तो रहने दे, इतर विषयो मे भी अनादि वासना के अभ्यास से अधिवासित अन्त करणवाले सब किसी को भी स्वभाव के अनुकूल ही व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रवर्तित होते है। वे दोनो (व्युत्पत्ति और अभ्यास स्वभाव की अभिव्यजना से ही सफलता को प्राप्त होते है। स्वभाव और उन दोनो (व्युत्पत्ति एव अभ्यास) के परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव से अवस्थित होने के कारण, स्वभाव तो प्रारम्भ किया जाता है (काव्य मे वर्णना रूप से उपस्थित किया जाता है) और वे दोनो (व्युत्पत्ति एवं अभ्यास) उस (स्वभाव) का परितोष करते हैं। और इस प्रकार से अचेतन वस्तुओ के भी स्वभाव अपने भाव के समान अन्य भावो के साहचर्य के प्रभाव से

नात् स्वभावस्तावदारभते, तौ च तत्परिपोषमातनुतः। तथा चाचेतनानामपि भावः स्वभावसंवादिभ वान्तररूं निधानमाहात्म्यादभिव्यक्तिमासादयति, यथा चन्द्रकान्तमणयश्चन्द्रमसः करपरामार्शवशेन स्पन्दमानसहजरसप्रसराः संपद्यन्ते।

तदेवं मार्गानुद्दिश्य तानेव क्रमेण लक्षयति—

अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः।
अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः ॥ २५ ॥
भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्यकौशलः।
रसादिपरमार्थशमनः संवादसुन्दरः ॥ २६ ॥
अविभावितसंस्थानरामणीयकरञ्जकः।
विधिवैदग्ध्यनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपमः ॥ २७ ॥
यत्किंचनापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम्।
सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि यत्र विराजते ॥ २८ ॥

अभिव्यक्ति को प्राप्त करते है। जैसे चन्द्रकान्तमणियाँ चन्द्रमा की किरणो के सम्पर्क मात्र से चूते हुए स्वाभाविक जलप्रवाहवाली हो जाती है। (अतः कविस्वभाव को लेकर मार्ग-भेद का निरूपण उचित है, कोई दोष नही है। और यद्यपि व्युत्पत्ति एवं अभ्यास आहार्य होने के कारण सामान्यतः स्वाभाविक नही है फिर भी स्वभाव के अनुसार ही व्युत्पत्ति-अभ्यास सभी को पैदा होते है। अचेतन विषयो मे भी जैसे चन्द्रकान्तमणि को ही लिया जाय—यह बात देखी जाती है। चन्द्रकिरणो का स्पर्श मात्र पाकर वह रिसने लगती है। क्योकि उसका स्वभाव यही है। कवि को भी व्युत्पत्ति एवं अभ्यास उसके स्वभावानुसार ही पैदा होते है और तदनुरूप वह काव्य-रचना मे प्रवृत्त भी होता है। अतः प्रकारान्तर से व्युत्पत्ति-अभ्यास भी स्वाभाविक ही कहे जा सकते है।)

इस प्रकार मार्गो का उल्लेख कर अब उन्ही क्रम से लक्षण करते है। (उनमे भी क्रमप्राप्त सुकुमार मार्ग का ही प्रथमतः लक्षण किया जा रहा है)—

कवि की अम्लान प्रतिभा से उद्भिन्न, नूतन शब्द और अर्थ से कोमल, अयत्न सम्पादित किन्तु स्वल्प एवं मनोहारी अलङ्कारो से युक्त ॥ २५ ॥

भावो के स्वभाव की प्रधानता से आहार्य कौशल को कुछ हीन करनेवाला तथा रस (भावादि) रूप परमार्थ के जानकर (सहृदयो) के मन का सवादी होने के कारण सुन्दर ॥ २६ ॥

अव्यक्त अनालोचित वर्णना की रमणीयता से आनन्द पैदा करनेवाला तथा विधाता की कुशलता से सम्पन्न सृष्टि के अतिशय (लावण्यादि) के समान ॥ २७ ॥

सौकुमार्य स्वभाव से प्रवाहित होनेवाला जहाँ जो भी वैचित्र्य है वह सम्पूर्ण (अम्लान-कवि) प्रतिभाजन्य होकर ही सुशोभित होता है ॥ २८ ॥

सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः ।
मार्गेणोत्फुल्लकुसुमकाननेनेव षट्पदाः ॥२९॥

सुकुमाराभिधः सोऽयम्, सोऽयं पूर्वोक्तलक्षणः सुकुमारशब्दाभिधानः । येन मार्गेण सत्कवयः कालिदासप्रभृतयो गताः प्रयाताः, तदाश्रयेण काव्यानि कृतवन्तः । कथम्—उत्फुल्लकुसुमकाननेनेव षट्पदाः । उत्फुल्लानि विकसितानि कुसुमानि पुष्पाणि यस्मिन् कानने वने तेन षट्पदा इव भ्रमरा यथा । विकसितकुसुमकाननसाम्येन तस्य कुसुमसौकुमार्यसदृशमाभिजात्यं द्योत्यते । तेषां च भ्रमरसादृश्येन कुसुममकरन्दकल्पसारसंग्रहव्यसनिता । स च कीदृशः—यत्र यस्मिन् किंचनापि कियन्मात्रमपि वैचित्र्यं विचित्रभावो वक्रोक्तियुक्तत्वम् । तत्सर्वमलंकारादिप्रतिभोद्भवं कविशक्तिसमुल्लसतिमेव, न पुनराहार्यं यथाकथंचित्प्रयत्नेन निष्पाद्यम् । कीदृशम्—सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि । सौकुमार्यमाभिजात्यं तस्य परिस्पन्दस्तद्विदाह्लादकारित्वलक्षणं राम-

---

(इस प्रकार का) सुकुमार नाम का यह वह मार्ग है, जिस मार्ग से प्रयुक्त पुष्पवन (मार्ग से जानेवाले) भ्रमरो की भॉति सत्कवियो ने अपनी यात्रा की है ॥ २९ ॥

(उपर्युक्त कारिकाओ की व्याख्या करते समय कुन्तक ने अन्तिम से प्रारम्भ की है ।)—

सुकुमार अभिधान (नाम) वाला वह यह—पूर्व कथित लक्षणवाला (२५–२९ तक कहा गया) सुकुमार शब्द से कहा जानेवाला (मार्ग है)। जिस मार्ग से सत्कविगण कालिदास आदि गये है, प्रयाण किये है। उस (सुकुमार मार्ग) का आश्रय लेकर काव्यो की रचना की है । कैसे (गये है) ?—खिले हुए फूलवनो से युक्त (मार्गो से) भ्रमरावलियो की भॉति । उत्फुल्ल—विकसित, कुसुम-फूल, जिस कानन-वन मे हो, उस (मार्ग) से भ्रमरो की भॉति— भ्रमर जैसे । खिले हुए पुष्प वन के साम्य से उस (सुकुमार मार्ग) की फूल की सुकुमारता के समान रमणीयता (आभिजात्यता) प्रकट होती है । और उन (सत्कवियो) का भ्रमर से साम्य होने से फूलो के पराग सदृश (भावो के) सार-सग्रह की (उनकी) वासना प्रकट होती है । और वह किस प्रकार का है ?—जहॉ जिस (मार्ग की रचना) मे, कुछ भी (जितनी) कितनी मात्रा मे भी, वैचित्र्य-विचित्रभाव अर्थात् वक्रोक्ति से युक्तता है, वह सम्पूर्ण अलङ्कारादिरूप वैचित्र्य कवि की प्रतिभा से ही उत्पन्न होता है । अर्थात् कवि की शक्ति से ही समुल्लसित होता है न कि आहार्य, जिस किसी तरह से आयास-पूर्वक (निष्पाद्य) होता है । किस तरह का है (वह कविप्रतिभोद्भूत वैचित्र्य) ?—सुकुमारता-अभिजातता, उसका परिस्पन्द—काव्यमर्मज्ञ की आह्लादकारिता रूप सुन्दरता, उससे प्रवाहित होता है—जो रसमय हो जाता है उस प्रकार का वह (वैचित्र्य होता है) । जहॉ विराजित होता है—अतिशय शोभा को पुष्ट करता है, यह वाक्यसम्बन्ध है । उदाहरण जैसे—

णीयत्वं तेन स्यन्दते रसमयं संपद्यते यत्तथोक्तम्। यत्र विराजते शोभातिशयं पुष्णातीति संबंधः। यथा—

प्रवृत्ततापो दिवसोऽतिमात्र-
मत्यर्थमेव क्षणदा च तन्वी।
उभौ विरोधक्रियाया विभिन्नौ
जायापती सानुशयाविवास्ताम् ॥७४॥

अत्र श्लेषच्छायाच्छुरितं कविशक्तिमात्रसमुल्लसितमलंकरणमनाहार्यं कामपि कमनीयतां पुष्णाति। तथा च 'प्रवृत्ततापः' 'तन्वी' इति वाचकौ सुन्दरस्वभावमात्रसमर्पणपरत्वेन वर्तमानावर्थान्तरप्रतीत्यनुरोधपरत्वेन प्रवृत्ति न संमन्येते, कविव्यक्तकौशलमुल्लससितस्य पुनः प्रकारान्तरस्य प्रतीतावानुगुण्यमात्रेण तद्विदाह्लादकारितां प्रतिपद्येते। किं तत्प्रकारान्तरं नाम ?—विरोधविभिन्नयोः शब्दयोरर्थान्तरप्रतीतिकारिणोरूपनिबन्धः। तथा चोपमेययोः

महाकवि कालिदास के रघुवश (१६।४५) का श्लोक है। ग्रीष्म ऋतु का वर्णन किया गया है– (ग्रीष्म काल मे) तापयुक्त दिन अत्यन्त भारी हो गया एव रात्रि अतिशय क्षीण हो गयी। (वृद्धि एव क्षीणता रूप) विरोधी कार्य से विपरीत दोनो, (प्रणय-कलह आदि रूप विरोधी कार्य से अलग-अलग हुए) पश्चात्तापयुक्त (पश्चात्ताप से प्रवृद्धताप दिन एवं क्षीण क्षणदा) पति पत्नी के समान हो गये थे ॥७४॥

यहाँ पर कवि की शक्तिमात्र से समुल्लसित श्लेष की छाया से युक्त, अनाहार्य (अय त्नज उपमा) अलङ्कार किसी अपूर्व कमनीयता को परिपुष्ट कर रहा है। जैसे कि 'प्रवृत्त ताप ' एवं 'तन्वी' ये दोनो ही वाचक शब्द (दिन और रात के) सुन्दर स्वभाव मात्र के समर्पणपरक के रूप मे वर्तमान है (किन्तु यद्यपि पति-पत्नी के प्रवृत्तताप एवं क्षीणतारूप अर्थान्तर की प्रतीति यद्यपि करा सकते है तथापि) दूसरे अर्थ की प्रतीति अनुरोधपरक के रूप मे प्रवृत्ति को सम्यक् नहीं सहन कर पाते (क्योकि प्रकरणतया ग्रीष्म का वर्णन होने से अभिधेयार्थ हो जाने पर अभिधा वही नियन्त्रित हो जाती है) फिर भी कवि के स्पष्ट कौशल से समुल्लसित दूसरे प्रकार के अर्थ की प्रतीति मे अनुकूल होने मात्र से (दोनो–प्रवृत्ततापः एवं तन्वी-पद) तद्विद् की आह्लादकारिता को प्राप्त हो जाते है। वह दूसरा प्रकार है क्या ? दूसरे अर्थ की प्रतीति कराने वाले विरोध और विभिन्न शब्दों का निबंधन। जैसे कि उपमेयो (दिन एवं रात) का सहानवस्थान रूप विरोध है (दोनो एक साथ नही रह सकते) और स्वभाव भेदरूप विभिन्नता है और उपमानो (पति-पत्नी) मे ईर्ष्या (प्रणय कोप रूप) कलहस्वरूप विरोध है एव क्रोध के कारण अलग-अलग अवस्थिति रूप विभिन्नता है। यहाँ 'अतिमात्र' एवं 'अत्यर्थ' दोनो ही विशेषण दोनो ही पक्षो (दिन-रात एवं पति-पत्नी) मे अतिशयता सहित (अनुशय का) प्रतीतकारी होने से अत्यन्त रमणीय है। (वस्तुतः वृत्ति से 'सातिशयता' के स्थान पर 'सानुशयता' पाठ अधिक समीचीन

सहानवस्थानलक्षणो विरोधः, स्वभावभेदलक्षणं च विभिन्नत्वम् । उपमानयोः पुनरीर्ष्याकलहलक्षणो विरोधः, कोपात् पृथगवस्थानलक्षणं विभिन्नत्वम् । 'अतिमात्रम्' 'अत्यर्थ' चेति विशेषणद्वितयं पक्षद्वयेऽपि सातिशयताप्रतीतिकारित्वेनातितरां रमणीयम् । श्लेषच्छायोत्क्लेश संपाद्याप्ययत्नघटितत्वेनात्र मनोहारिणी ।

यश्च कीदृशः—अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः । अम्लाना यासावदोपोपहता प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः, तत उद्भिन्नौ नूतनाङ्कुरन्यायेन स्वयमेव समुल्लसितौ, न पुनः कदर्थनाकृष्टौ नवौ प्रत्यग्रौ तद्विदाह्लादकारित्वसामर्थ्ययुक्तौ शब्दार्थावभिधानाभिधेयो ताभ्यां बन्धुरो हृदयहारी । अन्यच्च कीदृशः—अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः । अयत्नेनाक्लेशेन विहितं कृतं यत् स्वल्पं मनाङ्मात्रं मनोहारि हृदयाह्लादकं विभूषणमलंकरणं यत्र स तथोक्तः । 'स्वल्प'—शब्दोऽत्रप्रकरणाद्यपेक्षः, न वाक्यमात्रपरः । उदाहरणं यथा—

जान पडता है क्योकि 'अतिमात्र' एवं 'अत्यर्थ' दोनो ही विशेषण उनके पश्चात्ताप दु ख को अत्यधिक बढाते हुए चित्रित किये गये हैं । पश्चात्ताप के कारण ही तो वह दिवस ताप मे प्रवृत्त है और क्षणदा बेचारी क्षीण होती जा रही है । (पति मे ताप बढ़ गया है तन्वी वेचारी क्षीण हुई जा रही है ।) श्लेष का सौन्दर्य, यहाँ कुछ उठते हुए क्लेश (कठिनता) से संपाद्य होने पर भी क्योकि अयत्न निर्मित है, मनोहारी बन गया है ।

और जो (सुकुमार मार्ग है वह) कैसा है—अम्लान प्रतिभा से उद्भूत नूतन शब्द एवं अर्थ से बन्धुर । अम्लाना—दोषो से अनुपहत, पूर्वजन्म एवं इहजन्म के संस्कारो की परिपक्वता से प्रौढ यह प्रतिभा जो कुछ अपूर्व ही कोई कविशक्ति है, उससे उद्भिन्ननूतनाङ्कुर न्यास से (जैसे नया अङ्कुर स्वय ही फूट पड़ता है उसी प्रकार) स्वय ही समुत्पन्न, न कि आयास से लाये गये, नवीन एकदम ताजे (अभिनव) अर्थात् सहृदय काव्यज्ञ की आह्लादकारित्व रूप शक्ति से युक्त, शब्द और अर्थ, अभिधान और अभिधेय, उन दोनो से बधुर हृदयावर्जक (होता है सुकुमार मार्ग) । और फिर कैसा है ?—अयत्न निष्पाद्य स्वल्पमनोहारी अलङ्कार युक्त । अयत्न बिना प्रयास के कष्ट के, विहित—निर्मित, जो स्वल्प—मामूली मात्र, मनोहारी हृदय को आह्लादित करने वाला, विभूषण-अलङ्कार (वह) जिसमे हो वह तथोक्त (सुकुमार मार्ग है) । स्वल्प शब्द यहाँ प्रकरण आदि की अपेक्षा से प्रयुक्त किया गया है न कि वाक्यमात्र परक है (अर्थात् पूरे प्रकरण-प्रबन्ध मे स्वल्प अलङ्कारो का विधान ही एकाश मे नहीं) । उदाहरण जैसे—

'यह रचना भी कालिदास की है । कुमारसम्भव (३।२९) मे भगवान् शङ्कर को जीतने के लिए काम द्वारा आविर्भूत बसन्त का वर्णन किया गया है—(पूर्णतया)

बालेन्दुवक्राण्यविकाशभावाद्
बभुः पलाशान्यतिलोहितानि ।
सद्यो बसन्तेन समागतानां
नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥७५॥

'अत्र 'बालेन्दुवक्राणि' 'अतिलोहितानि' 'सद्यो बसन्तेन समागतानाम्' इति पदानि सौकुमार्यात् स्वभाववर्णनामात्रपरत्वेनोपात्तान्यपि 'नखक्षतानवि' इत्यलंकरणस्य मनोहारिणः क्लेशं विना स्वभावोद्भिन्नत्वेन योजनां भजमानानि चमत्कारितामापद्यन्ते ।

यश्चान्यच्च कीदृश·—भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्य—कौशलः । भावाः पदार्थास्तेषां स्वभावस्तत्त्वं, तस्य प्राधान्यं मुख्यभावस्तेन न्यक्कृतं तिरस्कृतमाहार्य व्युत्पत्तिविहितं कौशलं नैपुण्यं यत्र स तथोक्तः । तदयमभिप्राय·—पदार्थपरमार्थ महिमैव कविशक्तसमुन्मीलितः, तथाविधो यत्र विजृम्भते । येन विविधमपि व्युत्पत्तिविलसितं काव्यान्तरगतं तिरस्कारास्पदं संपद्यते । अत्रोदाहरणं रघुवंशे मृगयावर्णनपरं प्रकरणम्, यथा—

विकसित न होने के कारण बालचन्द्र (द्वितीया के चॉद) के समान टेढ़े तथा अत्यन्त लाल वर्ण पलाश (ढाक) के फूल बसन्त (रूप नायक) से तत्काल समागम किये हुई वनस्थलियो (रूप नायिकाओ) के नखक्षतो की भॅाति दमक उठे ॥७५॥

यहॉ पर 'बालेन्दुवक्राणि' 'अतिलोहितानि' एव 'सद्योवसन्तेन समागतानाम्' ये सभी पद सौकुमार्य के कारण मात्र स्वभाव के वर्णन के लिए प्रस्तुत किये गये है, फिर भी 'नखक्षतानीव नखक्षतो के समान—इस प्रकार के (उपमारूप) मनोहारी अलकार की आयास के बिना ही स्वभावत प्रकट होने कारण योजना को प्राप्तकर सौन्दर्यभाव को धारण कर रहे है ।

और जो यह सुकुमार मार्ग वह किस प्रकार का है ?—भावो के स्वाभाविक वर्णन की प्रधानता से आहार्य कौशल को तिरस्कृत करनेवाला । भाव-पदार्थ, उनका स्वभाव-तत्त्व (वास्तविकता), उसका प्राधान्य— मुख्य भाव, उससे न्यक्कृत, आहार्य व्युत्पत्ति विनिर्मित, कौशल–निपुणता जहॉ पायी जाती है वह तथोक्त (भाव-स्वभाव प्राधान न्यक्कृताहार्य कौशल मार्ग) । तो इसका अभिप्राय हुआ—कि कवि की शक्ति से समुन्मीलित पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का प्रभाव ही जहॉ उस प्रकार से विजृम्भत होता है जिससे काव्य मे निबद्ध कवि की व्युत्पत्ति विराजित विभिन्न प्रकार के भी (निबन्धन) तिरस्कार की प्रतिष्ठा को प्राप्त हो जाते है । इसका उदाहरण (कालिदास के) रघुवंश (९।५) मे आखेट-वर्णन से सम्बद्ध प्रकरण है; जैसे—

मृगया के समय उन राजा दशरथ के सामने मृगो का समूह प्रकट जिसमे (दूध पीने के लिए मॉ के) स्तनों के प्रणयी मृगशावको से हरिणियो के गमन मे रुकावट पैदा की जा रही थी । जिनके मुखो के बीच कुश विराज रहे थे, और जिसके आगे-आगे गर्वयुक्त कृष्णसार मृग चल रहा था ॥ ७६ ॥

तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावै-
व्यहिन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात् ।
आविर्बभूव कुशगर्भमुखं मृगाणां
यूथं तदग्रसरगर्वित कृष्णसारम् ॥ ७६ ॥

यथा च कुमारसम्भवे (३।३५)

द्वन्द्वानि भावं क्रियया विवव्रुः ॥ ७७ ॥

इतः परं प्राणिधर्मवर्णनम्, यथा

शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं
मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥ ७८ ॥

अन्यच्च कीदृशः—रसादिपरमार्थज्ञमनः संवादसुन्दरः। रसाः शृंगारादयः। तदादिग्रहणेन रत्यादयोऽपि गृह्यन्ते। तेषां परमार्थः परमरहस्यं तज्जानन्तीति तज्ज्ञास्तद्विदस्तेषां मनः संवादो हृदयसंवेदनं स्वानुभवगोचरतया प्रतिभासः, तेन सुन्दरः सुकुमारः सहृदयहृदयाह्लादकारी वाक्यस्योपनिबन्ध इत्यर्थः। अत्रोदाहरणानि रघौ रावणं निहत्य पुष्पकेणगच्छतो रामस्य सीताया-

---

यहाँ पर मृग-दूध का स्वाभाविक वर्णन ही अतिशय मनोहारी एवं हृदयावर्जक है, आहार्य व्युत्पत्ति विनिर्मित न होकर यहाँ कवि की प्रतिभा का ही विसाल है।

और जैसे कुमारसभव (३।३५) के इस श्लोक मे। श्लोक पूरा इस प्रकार है—

त देशमारोपितपुष्पचापे रतिद्वितीये मदने प्रपन्ने ।
काष्ठागत स्नेह रसानुविद्धं द्वन्द्वानिभावं क्रियया विवव्रुः ॥ ३।३५

वसन्तागमन के समय पुष्प धनुष चढ़ाये हुए रतिसनाथ काम से युक्त उस प्रदेश मे (जहाँ भगवान् शिव तपस्यारत थे) प्राणियो के जोड़ो ने चरम सीमा को प्राप्त शृगार-रस से परिपूर्ण अपने भावो को क्रियाओं द्वारा विशेष प्रकार से व्यक्त किया ॥ ७७ ॥

और इसी के बाद (बसन्त विह्वल) प्राणियो के क्रियाधर्म का (श्लोक ४२ तक) वर्णन है। उदाहरण जैसे आगे का ३६वाँ श्लोक, जो पूर्णतया इस प्रकार है—

मधुद्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रिया स्वामनुवर्तमानः ।
शृङ्गेण च स्पर्श निमीलिताक्षी मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥४३।३६

अपनी प्रियतमा का अनुवर्तन करता हुआ भ्रमर कुसुमरूप एक ही पात्र मे (प्रिया के साथ) मधुपान करने लगा और (स्पर्श सुख से) निमीलित नेत्र हरिणी को कृष्णसार मृग ने अपनी सीगो से खुजलाना प्रारम्भ कर दिया ॥ ७८ ॥

(यहाँ भी बसन्तागमन मे प्राणियो की जो स्वाभाविक दशा हो जाती है—उसी का कविप्रतिभा से निबन्धन अत्यन्त मनोहारी बन गया है, आहार्यता का कोई नाम नही है)।

और फिर वह सुकुमार मार्ग कैसा है ?— रस (भाव आदि) के परम रहस्य को जानने वालो के मनःसंवाद से सुन्दर। रस–शृङ्गार आदि नौ (रस)। उस

स्तद्विरहविधुरहृदयेन मयास्मिन्नस्मिन् समुद्देशे किमप्येवंविधं वैशसमनुभूतमिति वर्णयतः सर्वाण्येव वाक्यानि । यथा—

पूर्वानुभूतं स्मरता च रात्रौ
कम्पोत्तरं भीरु तवोपगूढम् ।
गुहाविसारीण्यतिवाहितानि
मया कथंचिद् घनगर्जितानि ॥

अत्र राशिद्वयकरणस्यायमभिप्रायो यद् विभावादिरूपेण रसाङ्गभूताः शकुनिरुततरुसलिलकुसुमसमयप्रभृतयः पदार्थाः सातिशयस्वभाववर्णनप्राधान्येनैव रसाङ्गतां प्रतिपद्यन्ते । तद्व्यतिरिक्ताः सुरगन्धर्वप्रभृतयः सोत्कर्षचेतनायोगिनः शृङ्गारादिरसनिर्भरतया वर्ण्यमानाः सरसहृदयाह्लादकारितामायान्ततीति कविभिरभ्युपगतम् । तथाविधमेव लक्ष्ये दृश्यते ।

(रस पद) मे आदि ग्रहण से रति आदि (भाव, रसाभास, भावाभास, सन्धि-शबता आदि) भी ग्रहण हो जाते है । उनका परमार्थ-परमरहस्य, उसको जो जानते है (वे है) तज्ज्ञ (रसादि के परमार्थ को जानकर), उनके मनः सवाद—हृदय की अनुभूति अर्थात् अपने स्वभाव से साक्षात्कृत होने के कारण (रसादि) की प्रतीति, उससे सुन्दर सुकुमार अर्थात् सहृदयो के हृदय को आह्लादित करनेवाले वाक्यो की रचना, यह अर्थ हुआ । इसके उदाहरण–रघुवश मे रावण को मार कर पुष्पक से लौटते हुए राम के वे सभी कथन हैं जिसमें सीता से बताते हुए उन्होने कहा है कि उन (सीता) के वियोग से व्यथित हृदय मैने इन-इन प्रदेशो मे कुछ इस प्रकार के अकथनीय कष्टो का अनुभव किया है । जैसे—श्लोक रघुवश १३।२८ का है । लङ्का से लौटते राम सीता से कहा जा रहा है—भीरु स्वभाववाली सीते ! (इस स्थल पर मैने) (वर्षा ऋतु की) गतो मे (बादलो की गड़गडाहट से भयत्रस्त) कम्पन के बाद तुम्हारे द्वारा किये गये आलिङ्गन जन्म पूर्वानुभूत (सुख) का स्मरण करते हुए (पर्वत की) गुफाओ मे फैलने वाली बादलो की गर्जनाओ को (तुम्हारे बिना वर्षात के समय मे) मैने किसी-किसी प्रकार से सहन करते हुए झेला था ॥ ७९ ॥

यहाँ (सुकुमार मार्ग के इस लक्षण मे) दो विभाग (भावो की स्वभावगत से आहार्य कौशल को तिरस्कृत करने वाला एव रसादि के परम रहस्य के ज्ञाता के मन सवादी होने से सुन्दर रूप) करने का अभिप्राय यह है कि, रसादि के अङ्गभूत (सहकारी) पक्षियो के कलरव, वृक्ष, जल, पुष्प एव समय (ऋतु आदि) पदार्थ (काव्य मे) विमान आदि के रूप मे निबद्ध किये जाते है। ऑखे वैचित्र्य या सौन्दर्ययुक्त स्वभाव के वर्णन की प्रधानता से ही रस की अङ्गता को प्राप्त होते है (ध्वनिकार ने भी यह बात कही है) । और उनसे भिन्न उत्कर्षयुक्त चेतना समन्वित सुर-गन्धर्व आदि शृङ्गार आदि रसों से अतिशय बोझिल रूप मे वर्णित होकर रसिक हृदय-सहृदयो आह्लादिकारिता को प्राप्त करते है, ऐसा कवियो ने स्वीकार किया है । उसी

अन्यच्च कीदृशः—अविभावितसंस्थानरामणीयकरञ्जकः। अभिभावित-मनालोचितं संस्थानं संस्थितिर्यत्र तेन रामणीयकेन रमणीयत्वेन रञ्जकः सहृदयाह्लादक। तेनायमार्थः—यदि तथाविधं कविकौशलमय संभवति तद् व्यपदेष्टुमियत्तया न कथंचिदपि पार्यते, केवलं सर्वातिशायितया चेतसि परिस्फुरति। यश्च कीदृश—विधिवैदग्ध्यनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपमः। विधि-र्विधाता तस्य वैदग्ध्यं कौशलं तेन निष्पन्नः परिसमाप्तो योऽसौ निर्माणा-तिशयः सुन्दरः सर्गोल्लेखो रमणीयरमणीलावण्यादिः स उपमा निदर्शनं यस्य स तथोक्तः। तेन विधातुरिव कवेः कौशलं यत्र विवेक्तुमशक्यम्। यथा—

ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य
विनिः श्वसद्वक्त्रपरंपरेण।
कारागृहे निर्जितवासवेन
दशाननेनोषितमा प्रसादात्॥८०॥

प्रकार का निबन्ध भी कवियो के काव्यो मे देखा जाता है। (इस प्रकार प्रथम विभाग भाव स्वभाव प्राधान्ययक्कृताहार्य कौशलः—का प्रयोजन है तिर्यञ्च आदि का स्वाभा-विक वर्णन एवं—रसादि परमार्थज्ञ मनः संवादिसुन्दरः—का प्रायोजन है उत्कृष्ट चेतना का सरस निबन्धन।)

और कैसा है (वह सुकुमार मार्ग)?—अविभावित संस्थानो की रमणीयता से सुन्दर। अविभावित—अनालोचित है, सस्थान-संस्थिति, जहाँ उस रामणीयक से—रमणीयता से, रञ्जक-सहृदयो के हृदय को आकृष्ट करनेवाला। इससे यह अर्थ होता है—यहाँ उस प्रकार का कवि कौशल हो सकता कि यदि उसे कहा जाय कि, 'वह इतना ही है, ऐसा (कहना) किसी प्रकार से सम्भव नही, मात्र सर्वातिशायी रूप से वह चित्त मे ही परिस्फुरित होता है। और जो कैसा है?—विधाता की विदग्धता से निष्पन्न रचना के अतिशय सदृश। विधि-विधाता स्रष्टा, उसका वैदग्ध्य-कौशल उसके द्वारा निष्पन्न-सम्यक् पूर्ण किया गया जो यह (जागतिक) निर्माण का अतिशय-सुन्दर सृष्टि की रचना अर्थात् रमणीय रमणी के लावण्य आदि, वह उपमा-निदर्शन उदाहरण है जिसका वह उस प्रकार का (विधि वैदग्ध्य निष्पन्न निर्माणातिशयोपम मार्ग सुकुमार कहा जाता है)। इससे (यह अर्थ हुआ कि), विधाता के कौशल की भाँति जिस रचना में कवि कौशल का विवेचन अशक्य हो (वह सुकुमार मार्ग की रचना है)। जैसे—यह रचना भी रघुवंश (६।४०) की है। इन्दुमती स्वयम्बर मे सुनन्दा नाम की सखी प्रतीप नामक राजा के परिचय मे उसके पूर्वज कार्तवीय का महत्त्व प्रस्तुत करती कह रही है—जिस (कार्तवीर्य अर्जुन) के कारागृह मे (उसकी) प्रसन्नता पर्यन्त (जब तक प्रसन्न होकर उसने स्वयं नही छोड़ दिया), धनुष की डोर के बन्धन से असमर्थ भुजाओं वाले, मुखो की पॉतो (दसो मुखों) से लम्बी-लम्बी आहे लेनेवाले, इन्द्र को भी जीतने वाले रावण ने निवास किया था (उसी कार्तवीर्य नृपति का वंशधर है यह राजा प्रतीप)॥८०॥

अत्र व्यपदेशप्रकारान्तरनिरपेक्षः कविशक्तिपरिणामः परं परिपाकमधिरूढः।

एतस्मिन् कुलके—प्रथमश्लोके प्राधान्येन शब्दार्थालंकरणयो सौन्दर्यं प्रतिपादितम्। द्वितीये वर्णनीयस्य वस्तुनः सौकुमार्यम्। तृतीये प्रकारान्तरनिरपेक्षस्य संनिवेशस्य सौकुमार्यम्। चतुर्थे वैचित्र्यमपि सौकुमार्याविसंवादि विधेयमित्युक्तम्। पञ्चमो विपयविषयिसौकुमार्यप्रतिपादनपरः ॥२५–२९॥

एव सुकुमाराभिधानस्य मार्गस्य लक्षणं विधाय तस्यैव गुणान् लक्षयति—

असमस्तमनोहारिपदविन्यासजीवितम्।
माधुर्यं सुकुमारस्य मार्गस्य प्रथमो गुणः ॥३०॥

असमस्तानि समासवर्जितानि मनोहारीणि हृदयाह्लादकानि श्रुतिरम्यत्वेनार्थरमणीयत्वेन च यानि पदानि सुप्तिङन्तानि तेषां विन्यासः संनिवेशवैचित्र्यं

यहाँ पर (जितना अच्छा कथन है उतना अच्छा रावण के विषय मे) अन्य प्रकार से अभिधान अपेक्षित नही है (जो) कवि की सहज शक्ति का ही परिणाम है और जो यहाँ) अतिशय परिपाक को प्राप्त हो रहा है। (तात्पर्य यह कि, इन्द्र को भी जीतने वाले किन्तु धनुप की डोर से ही बँधकर जिसकी भुजाएँ व्यर्थ हो गयी हैं और दसो मुखो से निरन्तर आहे भर रहा है, अपनी महिमा से छूट भी नही सकता, कार्तवीर्य की कृपा से ही मुक्त हो पाता है, कितनी विवशता है रावण की इन अभिधानो मे और कितना प्रभाव वर्णित है इस कार्तवीर्य का कि जो रावण को भी यथेच्छ कारागृह मे डाले रहा वह भी धनुष की डोरी से बाँधकर। अतः अन्य अभिधान यहाँ इतना अच्छा न बन पाता।)

सुकुमार मार्ग के लक्षण का अवसान करते हैं—एतस्मिन् आदि से। इस कुलक मे (२५–२९ कारिकाओ मे—चार या चार से अधिक श्लोको एकान्वित होने पर कुलक होता है) प्रथम श्लोक मे प्रधानतया शब्द और अर्थ के अलङ्कारो का सौन्दर्य प्रतिपादित किया गया है। दूसरे श्लाक मे वर्णनीय वस्तु की सुकुमारता का विवेचन है। तीसरे श्लोक मे अन्य प्रकार से निरपेक्ष सघटना की सुकुमारता वर्णित है। चौथे मे सुकुमारता का अविसंवादी (अनुकूल) सौन्दर्य भी निर्मित होना चाहिए ऐसा कहा गया है। और पाँचवाँ श्लोक विषय और विषयी के सौकुमार्य के प्रतिपादन से सम्बन्धित है।

इस प्रकार से सुकुमार (नाम वाले मार्ग का लक्षण करके अब उसी के गुणों का लक्षण करते है—

समासरहित मनोहारी पदविन्यास प्राण माधुर्य सुकुमार मार्ग का पहला गुण है ॥३०॥

असमास्त-समास वर्जित, मनोहारी-सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाले अर्थात् श्रवण मे रमणीय अथवा अर्थ मे रमणीय होने के कारण सुबन्त या तिङन्तरूप

जीवितं सर्वस्वं यस्य तत्तथोक्तं माधुर्यं नाम सुकुमारलक्षणस्य मार्गस्य प्रथमः प्रधानभूतो गुणः। असमस्तशब्दोऽत्र प्राचुर्यार्थः, न समासाभावनिपमार्थः। उदाहरणं यथा

क्रीडारसेन रहसि स्मितपूर्वामिन्दो-
र्लेखां विकृष्य विनिबध्य च मूर्ध्नि गौर्या।
किं शोभिताहमनयेति शशाङ्कमौलेः
पृष्टस्य पातु परिचुम्बनमुत्तरं वः ॥८१॥

अत्र पदानामसमस्तत्वं शब्दार्थरमणीयता विन्यासवैचित्र्यं च त्रितयमपि चकास्ति।

तदेवं माधुर्यमभिधाय प्रसादमभिधन्ते—

अक्लेशव्यञ्जिताकूतं झगित्यर्थसमर्पणम्।
रसवक्रोक्तिविषयं यत्प्रसादः स कथ्यते ॥३१॥

झगिति प्रथमतरमेवार्थसमर्पणं वस्तुप्रतिपादनम्। कीदृशम्—अक्लेशव्यञ्जिताकूतम् अकदर्थनाप्रकटिताभिप्रायम्। किंविषयम्–रसवक्रोक्तिविषयम्।

जो पद (हृदयाह्लादक होते है), उनका विन्यास-सन्निवेश वैचित्र्य ही जीवन सर्वस्व है जिसका तथोक्त, माधुर्य नाम वाला (गुण) सुकुमार रूप मार्ग का प्रथम-प्रधानभूत गुण है। असमस्त पद यहाँ प्राचुर्य अर्थ को द्योतित करता है (अर्थात् समासों की अधिकता को निषिद्ध करता है) न कि समासो के सर्वथा अभाव के नियम के लिए ग्रहण किया गया है। (माधुर्य गुण का) उदाहरण जैसे—

एकान्त मे प्रणय क्रीडा के आनन्द से (शङ्कर के सिर पर वर्तमान) चन्द्रकला को खीचकर (स्वयं) अपने सिर पर लगाकर 'क्या मैं इससे सुन्दर लग रही हूँ' इस प्रकार गौरी पार्वती से मुस्कानपूर्वक पूछे गये चन्द्रशेखर भगवान् का (पार्वती को दिया गया) परिचुम्बन रूप उत्तर आपकी रक्षा करे ॥८१॥

यहाँ पदों की असमासता रूप (स्वल्प समासता), शब्द और अर्थ की रमणीयता एवं पदो का विन्यास वैचित्र्य तीनों ही शोभायमान हो रहा है। (अतः माधुर्य गुण है) ॥३०॥

तो इस प्रकार माधुर्य का लक्षण कहकर प्रसाद को कहते हैं—

रस एवं वक्रोक्ति विषयक अभिप्राय को अनायास ही व्यञ्जित करने वाले अर्थ को शीघ्र प्रकाशित करने वाला जो गुण है वह प्रसाद कहा जाता है ॥३१॥

झगिति (सुनने या पढ़ने पर) सर्वप्रथम, अर्थ का समर्पण-वस्तु का प्रतिपादन (करने वाला)। किस प्रकार के अर्थ का ?—अक्लेश से ही अभिप्राय को व्यञ्जित करने वाला—बिना आयास के ही अभिप्राय को प्रकटित करने वाला। किस विषयक अभिप्राय को ?—रस और वक्रोक्ति विषयक। रस-शृङ्गार आदि (भाव, भावाभास-प्रभृति), वक्रोक्ति—सकल अलङ्कार सामान्य भूत तत्त्व ही विषय-गोचर हैं जिसका

रसाः शृङ्गारादयः, वक्रोक्तिः सकलालंकारसामान्यं विषयो गोचरो यस्य तत्तथोक्तम्। स एव प्रसादाख्यो गुणो कथ्यते भण्यते। अत्र पदानामसमस्तत्वं प्रसिद्धाभिधानत्वम् अव्यवहितसंबन्धत्वं समाससद्भावेऽपि गमकसमासयुक्तता च परमार्थः। 'आकूत'— शब्दस्तात्पर्यविच्छितौ च वर्तते। उदाहरणं यथा—

हिमव्यपायाद्विशदाधराणा-
मापाण्डुरीभूतमुखच्छवीनाम्।
स्वेदोद्गमः किंपुरुषाङ्गनानां
चक्रे पदं पत्रविशेषकेषु ॥८२॥

अत्रासमस्तत्वादिसामग्री विद्यते। यदपि विविधपत्रविशेषकवैचित्र्यविहितं किमपि वदनसौन्दर्यं मुक्ताकणाकारस्वेदलवोबृंहितं तदपि सुव्यक्तमेव। यथा वा—

अनेन सार्धं विहराम्बुराशे-
स्तीरेषु ताडीवनमर्मरेषु।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पै-
रपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ॥८३॥

उस तथोक्त अभिप्राय को (शीघ्र समर्पित करने वाला)। वही प्रसाद नाम का गुण कहा जाता है—भणित होता है। यहाँ पर पदो की असमासता (स्वल्प समासता), प्रसिद्ध की अभिधानता (अर्थ आदि के साथ व्यवधानरहित सम्बन्ध स्थापना तथा समास होने पर भी (अर्थादिका) सहजतया बोध करने वाले समासो से युक्त होना इस गुण का परम तत्त्व है। (कारिका मे उपात्त) 'आकूत' शब्द तात्पर्य की शोभा के अर्थ मे गृहीत है। उदाहरण जैसे—

कुमारसंभव (३।३३) का ही श्लोक है। बसन्तागमन का वर्णन है—शीतकाल के चले जाने (एवं बसन्त के आगमन के कारण) प्रशस्त अधरो वाली, सर्वतः पीत (गौर) हुए मुख की शोभा युक्त किन्नर नारियो के पत्राकार तिलक रचनाओं (आभूषणों) मे पसीने के आविर्भाव ने अपना स्थान जमा लिया ॥८२॥

यहाँ पर असमसता आदि रूप (प्रसाद गुण की सभी) सामग्री प्रस्तुत है। और जो अनेक प्रकार की पत्र रचनाओं के सौन्दर्य से विनिर्मित तथा मुक्तागण जैसे पसीनो की बूदो से परिवृंहित मुख का कुछ अपूर्व सौन्दर्य है, वह भी अत्यन्त स्पष्ट ही है। (अतः प्रसाद गुण है)।

अथवा जैसे (द्वितीय) उदाहरण। रघुवंश का ही (६।५३) श्लोक है। स्वयम्वर मे सुनन्दा कलिङ्गाधिपति हेमाङ्गद का इन्दुमति से परिचय दे रही है—

ताड़वनो की मर्म,(ध्वनि से गुञ्जायमान समुद्र के तटो पर अन्य द्वीपो से लाये गये लवङ्ग के फूलो की सुगन्धियुक्त वायु से स्वेदकणो को विलग करती हुई इस (हेमाङ्गद के साथ) विहार करो ॥ ८३ ॥

अलंकारव्यक्तिर्यथा—

बालेन्दुवक्राणि इति ॥ ८४ ॥

एवं प्रसादमभिधाय लावण्यं लक्षयति—

वर्णविन्यासविच्छित्तिपदसंधानसंपदा ।
स्वल्पया बन्धसौन्दर्यं लावण्यमभिधीयते ॥ ३२ ॥

'बन्धो' वाक्येविन्यासस्तस्य 'सौन्दर्यं' रामणीयकं, लावण्यमभिधीयते लावण्यमित्युच्यते । कीदृशम्—वर्णनामक्षराणां, विन्यासो विचित्रं न्यसनं, तस्य विच्छित्तिः शोभा वैदग्ध्यभङ्गी, तया लक्षितं, पदानां सुप्तिङन्तानां, संधानं संयोजनं, तस्य सम्पत्, सापि शोभैव, तया लक्षितम् । कीदृश्या—उभयरूपयापि स्वल्पया मनाङ्मात्रया नातिनिर्बन्धनिर्मितया । तदयमत्रार्थः—शब्दार्थसौकुमार्यसुभग- संनिवेशमहिमा लावण्याख्यो गुणः कथ्यते । यथा—

वक्रोक्ति रूप अलङ्कार की स्पष्टता जैसे—

बालेन्दुवक्राण्यविकास भावाद्बभुः पलाशान्मति लोहितानि ।
सद्यो बसन्तेन समागताना नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥ कु०सं० ३।२९

यह श्लोक सुकुमार मार्ग के उदाहरण मे भी आया है । इस श्लोक मे प्रसाद गुण की समस्त सामग्री के साथ उपमा अलकार अनायास ही स्पष्ट हो जाता है । अतः प्रसाद गुण है ।

इस प्रकार प्रसाद का अभिधान कर अब लावण्य गुण का लक्षण करते हैं—

स्वल्पमात्र वर्ण विन्यास की शोभा के द्वारा विहित पदरचना की स्वल्पचमत्कृति से निष्पन्न रचना की सुन्दरता को लावण्य गुण कहा जाता है ॥ ३२ ॥

बन्ध—वाक्य विन्यास, उसका सौन्दर्य–(उसकी) रमणीयता लावण्य गुण कही जाती है—लावण्य ऐसा माना जाता है । कैसे (बन्ध का सौन्दर्य) ?—वर्णों—अक्षरो का, विन्यास विचित्र प्रकार से अवस्थापन, उसकी विच्छित्ति—शोभा, अर्थात् वैदग्ध्य भङ्गिमा, उससे लक्षित, पदो का—सुप् तिङ् रूप पदो का, सधान–संयोजन, उसकी सम्पत्ति—वह भी शोभा ही है, उससे लक्षित होता है (बन्ध सौन्दर्य जहाँ लावण्य गुण कहा जाता है) । किस प्रकार की सम्पत्ति से (लक्षित बन्ध सौन्दर्य) ?—दोनो ही प्रकार (वर्ण संघटना एवं पद सघटना) की, स्वल्प—एकदम न्यून अर्थात् (वर्ण एवं पद संघटना के) अतिशय आयास के बिना विनिर्मित (शोभा से लक्षित वाक्य रचना को लावण्य कहते है) । तो यहाँ इसका यह अर्थ हुआ—शब्द और अर्थ की सुकुमारता से सुन्दर (वर्णो-पदो के) विन्यास की सुन्दरता लावण्य नामक गुण कही जाती है । उदाहरण जैसे—

श्लोक रघुवश (१६।५०) का है । अयोध्या मे कुश के आगमन पर कुमुद्वती के साथ उसके विहार की भूमिका मे बसना की समाप्ति पर आये ग्रीष्म ऋतु मे वनिता-वृन्द का वर्णन है—

स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवासं विन्यस्तसायन्तनमल्लिकेषु ।
कामो बसन्तात्ययमन्दवीर्य । केशेषु लेभे बलमङ्गनानाम् ॥ ८५॥

अत्र सन्निवेशसौन्दर्यमहिमा सहृदयसंवेद्यो न व्यपदेष्टुं पार्यते । यथा वा—

चकार बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः ॥ ८६ ॥

अत्रापि वर्णविन्यासविच्छित्तिः पदसंधानसम्पच्च संनिवेशसौन्दर्यनिबन्धन-स्फुटावभासैव ॥ ३२ ॥

एवं लावण्यमभिधाय आधिजात्यमभिधत्ते—

श्रुतिपेशलताशालि सुस्पर्शमिव चेतसा ।
स्वभावमसृणच्छायमाभिजात्यं प्रचक्षते ॥ ३३ ॥

एवंविधं वस्तु आभिजात्यं प्रचक्षते आभिजात्याभिधानं गुणं वर्णयन्ति । श्रुतिः श्रवणेन्द्रियम् तत्र पेशलता रामणीयकं तेन शालते श्लाघते यत्तथोक्तम् ।

अपने सहायक मित्र बसन्त के चले जाने से (ग्रीष्म के आगमन पर) अतिशय दुर्बल काम स्नान करने के कारण गीले और खोले गये तथा (सूख जाने पर) धूप-वास से सुगन्धित किये जाने के बाद सायकाल मे गूँथे गये मल्लिका के फूलो से युक्त सुन्दर अङ्गोवाली रमणीजनो के कचकलापो मे (पुन) बल प्राप्त किया ॥ ८५ ॥

यहाँ पर (वर्णो एवं पदो के सुन्दर) सन्निवेश की शोभा का माहात्म्य सहृदयों से सम्बन्ध ही है, शब्दो से नही कहा जा सकता ।

इसी का दूसरा उदाहरण जैसे नीचे के श्लोक मे है । यह भी रघुवंश का ही श्लोक है (६।७२) । इन्दुमती स्वयंवर के समय 'कुत्स्थ' राजा का वर्णन करते सुनन्दा इन्दुमती को उसका महत्त्व बता रही है । पूरा श्लोक इस प्रकार है—

महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूप यः संयति प्राप्य पिनाकिलील ।
चकार बाणै रसुराङ्गनाना गण्डस्थलीः प्रोषित पत्रलेखा ॥ र० वं० ६।७२

वृषभ रूपधारी इन्द्र पर आरूढ होकर भगवान् शङ्कर की लीला को प्राप्त कर जिस राजा कुत्स्थ ने युद्ध मे बाणो से असुरो की सुन्दरियो के कपोलमण्डल को पत्ररचना से शून्य कर दिया (वही यह नरेश है) ॥ ८६ ॥

यहाँ भी वर्ण विन्यास की विच्छित्ति एवं पदसंधान की शोभा संघटना के सौन्दर्य निबन्धित होने के कारण स्पष्टतः प्रतीत ही हो रही है ।

इस प्रकार लावण्य गुण का विवेचन कर अब (सुकुमार मार्ग के) ही आभि-जात्य गुण का उल्लेख करते हैं—

सुनने मे रमणीयता से युक्त, चित्त से सुख स्पर्श-सा (प्रतीत होने वाला) एवं स्वभावत· मनोहर सौन्दर्यशाली (गुण) आभिजात्य कहा जाता है ॥ ३३ ॥

इस प्रकार की वस्तु आभिजात्य कही जाती है—आभिजात्य नामक गुण कही जाती है । श्रुति—श्रवणेन्द्रिय (कर्ण), उसमे जो प्रतीत पेशलता—रमणीयता, उससे

सुस्पर्शमिव चेतसा मनसा सुस्पर्शमिव। सुखेन स्पृश्यत इवेत्यतिशयोक्तिरियम्। यस्मादुभयमपि स्पर्शयोग्यत्वे सति सौकुमार्यात् किमपि चेतसि स्पर्शसुखमर्पयतीव। यतः स्वभावमसृणच्छायम् अहार्यश्लक्ष्णकान्ति यत्तद् आभिजात्यं कथयन्तीत्यर्थः। यथा—

ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी।
पुत्रप्रीत्या कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति॥ ८७॥

अत्र श्रुतिपेशलतादि स्वभावमसृणच्छायत्वं किमपि सहृदयसंवेद्यं परिस्फुरति।

ननु च लावण्यमाभिजात्यं च लोकोत्तर तरुणीरूपलक्षणवस्तुधर्मतया यत् प्रसिद्धं तत कथं काव्यस्य भवितुमर्हतीति चेत्तन्न।

यस्मादनेन न्यायेन पूर्वप्रसिद्धयोरपि माधुर्यप्रसादयोः काव्यधर्मत्वं विघटते। माधुर्यं हि गुडादिमधुरद्रव्यधर्मतया प्रसिद्धं तथाविधाह्लादकारित्व-

---

जो शालित होता है—प्रशंसित होता है, तथोक्त (उस प्रकार का श्रुति पेशलताशाली)। चित्त से सुस्पर्श की भाँति—मनसे सुखकर स्पर्श-सा लगनेवाला। सुख से स्पृष्ट सा किया जाता है, इस प्रकार कथन (असम्बन्धे सम्बन्धरूपा) अतिशयोक्ति रूप है। क्योकि स्पर्श की योग्यता विद्यमान रहने पर दोनों ही सुकुमारता के कारण चित्त मे किसी अपूर्व सुख-स्पर्श को समर्पित-सा करते है। इसलिए कि स्वभावतः मसृण कान्ति एवं व्युत्पत्तिजन्य कोमलकान्तिरहित जो रचना होती है वह आभिजात्य कही जाती है। जैसे यह श्लोक मेघदूत से लिया गया है। पूरा श्लोक इस प्रकार है—

ज्योतिर्लेखावलयिगलितं यस्य बर्हं भवानी।
पुत्रप्रीत्या कुवलयदल प्रापि कर्णे करोति।
धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं
पश्चादद्रिग्रहण गुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः॥ पूर्वमेघ, ४८।

मण्डलाकार चमकती रेखाओं से गिरे युक्त गिरे हुए (कार्तिकेय के) जिस मयूर के पिच्छ को भवानी पार्वती पुत्र-प्रेम के कारण कुवलय पत्र लगाये जाने वाले अपने कानों मे लगाती है। (स्वामि कार्तिकेय के अभिषेक के) बाद भगवान् शिव के शिरस्थ चन्द्र की प्रभा से शुभ्र कनखियों वाले कार्तिकेय भगवान् के उस मयूर को तुम पर्वत की टकराहट से गम्भीर अपनी गर्जनाओ से नचाना॥ ८७॥

यहाँ श्रुति पेशलता आदि स्वभावतः मसृण सौन्दर्यत्व कुछ अपूर्व ही सहृदय संवेद्य होकर परिस्फुरित हो रहा है।

प्रश्न हो सकता है कि लावण्य और आभिजात्य जो अलौकिक युवतीजन के सौन्दर्य रूप वस्तु धर्म के रूप से प्रसिद्ध हैं वे काव्य के गुण कैसे हो सकते है? (उत्तर है कि ऐसा कहना) ठीक नही है। क्योकि इस रीति से प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य, अथवा पूर्व प्रतिपादित माधुर्य और प्रसाद गुणों की भी काव्यधर्मता विघटित हो जायगी।

सामान्योपचारात् काव्ये व्यपदिश्यते। तथैव च प्रसादः स्वच्छसलिलस्फटिकादिधर्मतया प्रसिद्धः स्फुटावभासित्वसामान्योपचाराज्झगिति प्रतीतिपेशलतां प्रतिपद्यते। तद्वदेव च काव्ये कविशक्तिकौशलोल्लिखितकान्तिकमनीयं बन्धसौन्दर्यं चेतनचमत्कारकारित्वसामान्योपचाराल्लावण्यशब्दव्यतिरेकेण शब्दान्तराभिधेयतां नोत्सहते। तथैव च काव्ये स्वभावमसृणच्छायत्वमाभिजात्य शब्देनाभिधीयते।

ननु च कैश्चित्प्रतीयमानं वस्तु ललनालावण्यसाम्याल्लावण्यमित्युपपादित मिति—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तमाभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥८८॥

तत्कथं बन्धसौन्दर्यमात्रं लावण्यमित्यभिधीयते ? नैष दोषः, यस्मादनेन दृष्टान्तेन वाच्यवाचकलक्षणप्रसिद्धावयवव्यतिरिक्तत्वेनास्तित्वमात्रं साध्यते प्रतीयमानस्य, न पुनः सकललोकलोचनसंवेद्यस्य ललनालावण्यस्य। सहृदय-

---

लोक मे मधुरता गुडादि मधुर द्रव्यो के धर्म के रूप मे प्रसिद्ध है। उसी (गुड आदि) के समान आह्लादकारी होने से, (आह्लादकारित्व रूप) सामान्य धर्म के कारण उपचार (लक्षण), से (माधुर्य आदि तत्त्व भी) काव्य मे माधुर्य आदि के गुण के रूप व्यपदिष्ट होते है। और उसी प्रकार प्रसाद भी स्वच्छ जल एवं (स्वच्छ निर्मल) स्फटिक मणि आदि के धर्म के रूप से प्रसिद्ध है (किन्तु) उपचार से प्रसाद गुण भी) तुरन्त (अर्थ) प्रतीति की रमणीयता को प्राप्त हो जाता है। और उसी प्रकार काव्य मे कवि के वैदग्ध्य से निष्पादित कान्ति से सुन्दर (लावण्यादि) रचना के सौन्दर्य सहृदय-हृदय मे चमत्कार सम्पादन रूप साधारण धर्म के कारण उपचार से लावण्य शब्द से व्यतिरिक अन्य शब्दो की अभिधेयता को प्राप्त नही हो पाते। और उसी प्रकार काव्य मे स्वभावतः मसृण कान्ति रूप तत्त्व अभिलाष्या शब्द से कहा जाता है।

(प्रश्न होता है कि), किन्ही (आनन्द-वर्धन) ने प्रतीयमान वस्तु को रमणी के लावण्य साम्य से लावण्य ऐसा कहा है—

अङ्गनाओ मे उनके प्रसिद्ध अवयवो से व्यतिरिक्त प्रतीयमान सौन्दर्य लावण्य की भाँति महाकवियो की वाणी मे विलसित होने वाला प्रतीयमान अर्थ प्रसिद्ध वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त अन्य ही वस्तु है ॥८८॥

तो फिर बन्ध के सौन्दर्यमात्र को लावण्य कैसे कहा जा सकता है ? उत्तर देते हैं—यह कोई दोष नहीं हुआ। क्योकि इस (ध्वनि का रोक्तं प्रतीयमान अर्थ के समर्थन मे ललनालावण्य का उनके अवयवों से व्यतिरिक्त बताने रूप) दृष्टान्त से वाच्यवाचक रूप प्रसिद्ध अवयवो से व्यतिरिक्त होने के कारण प्रतीयमान अर्थ का

हृदयानामेव संवेद्यं सत् प्रतीयमानं समीकर्तुं पार्यते। तस्य बन्धसौन्दर्यमेवाव्युत्पन्नपदपदार्थानामपि श्रवणमात्रेणैव हृदयहारित्वस्पर्धया व्यपदिश्यते। प्रतीयमानं पुनः काव्यपरमार्थज्ञानामेवानुभवगोचरतां प्रतिपद्यते। यथा कामिनीनां किमपि सौभाग्यं तदुपभोगोचितानां नायकानामेव संवेद्यतामर्हति, लावण्यं पुनस्तासामेव सत्कविगिरामिव सौन्दर्यं सकललोकगोचरतामायातीत्युक्तमेवेत्यलमतिप्रसङ्गेन।

एवं सुकुमारस्य लक्षणमभिधाय। विचित्रं लक्षयति—

प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता।
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते ॥३४॥

अलंकारस्य कवयो यत्रालंकरणान्तरम्।
असंतुष्टा निबध्नन्ति हारादेर्मणिबन्धवत् ॥३५॥

रत्नरश्मिच्छटोत्सेकभासुरैर्भूषणैर्यथा।
कान्ताशरीरमाच्छाद्य भूषायै परिकल्प्यते ॥३६॥

अस्तित्वमात्र सिद्ध किया जा रहा है, न कि सभी लोगो से संवेद्य ललनालावण्य का सहृदय-हृदय लोगों मात्र से सवेद्य प्रतीयमान को उससे समीकृत किया जा सकता है। उस काव्य का बन्ध सौन्दर्य ही, जिन्हे पद और पदार्थ की व्युत्पत्ति नही है उन सामान्य लोगो को भी श्रवणमात्र से ही हृदयहारि होने के, कारण (ललना लावण्य की) स्पर्द्धा से (लावण्य) कहा जाता है, (ललना लावण्य सहृदय एवं अव्युत्पन्न सामान्य जनों को भी आकृष्ट करता है तद्वत् काव्य का सामान्य सौन्दर्य लावण्य भी दोनो को श्रवणमात्र से ही आकृष्ट कर लेता है)। किन्तु प्रतीयमान (अर्थ तो) काव्य के परमार्थ को जाननेवालों की ही अनुभव गोचरता को प्राप्त करता है। जैसे कामिनी वृद्धो का अनिर्वचनीय सौन्दर्य उनके उपयोग के योग्य नायको की ही अनुभवगम्यता के योग्य होता है, किन्तु उन्ही का लावण्य सौन्दर्य उत्तम कवियों की वाणी की भाँति समस्त लोगो की प्रतीति का पात्र बनता है। यह तो कही चुके है। प्रसङ्ग को छोडकर कहना व्यर्थ है। अत अब इस विषय को छोडते है ॥३३॥

इस प्रकार सुकुमार मार्ग का लक्षण (एवं उसके गुणो का) प्रतिपादन कर विचित्र मार्ग का लक्षण करते हैं—

जहाँ कवि की प्रतिभा के प्रथम आविर्भाव के समय शब्द और अर्थ के बीच वक्रता परिस्फुरित होती हुई सी प्रतीत होती है ॥३४॥

जहाँ एक ही अलङ्कार से सन्तोष न होने के कारण कविगण हार आदि आभूषणो में जटित विभिन्न मणियो की भाँति दूसरे अलङ्कारो का गुम्फन करते है ॥३५॥

(हारादि आभूषणो मे विन्यस्त विभिन्न) मणियो से छिटकती किरणप्रभा के बाहुल्य से दीप्यमान अलङ्कारो से ढँककर जैसे युवती के शरीर को भूषण भूषित किया

यत्र तद्वदलंकारैर्भ्राजमानैर्निजात्मना ।
स्वशोभातिशयान्तःस्थमलंकार्यं प्रकाश्यते ॥३७॥
यदप्यनूतनोल्लेखं वस्तु यत्र तदप्यलम् ।
उक्तिवैचित्र्यमात्रेण काष्ठां कामपि नीयते ॥३८॥
यत्रान्यथाभवत् सर्वमन्यथैव यथारुचि ।
भाव्यते प्रतिभोल्लेखमहत्वेन महाकवेः ॥३९॥

जाता है। उसी प्रकार जहाँ अपने-आप प्रकाशमान (उपमादि) अलङ्कारो से स्वाभाविक शोभातिशय मे अवस्थित अलङ्कार्य प्रकाशित किया जाता है ॥ ३६–३७ ॥

(ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्द्धन ने भी अलङ्कारो के विषय मे उनकी स्वाभाविकता का समर्थन किया है—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्य क्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्न निर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मत ॥
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशित ।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम् ॥
विवक्षातत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन ।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम् ।
रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥ ध्वन्यालोक २।१६–१९ ।

अर्थात् अलङ्कार्य की अपेक्षा से ही अलङ्कारो का विनिवेश अच्छा होता है। उनका आहार्य रूप काव्य के सौष्ठव को विकृत कर देता है। अतः कुन्तक ने भी उक्त कारिकाओ मे अलङ्कारो की अलङ्कार्यपरता एवं स्वाभाविकता का समर्थन किया है।)

जिस वस्तु का वर्णन नही है (प्राचीन आचार्यों ने भी जिसका प्रतिपादन कर दिया है) वह वस्तु भी जहाँ कवि के प्रतिपादन के सौन्दर्यमात्र से किसी अपूर्व अवस्था को ले जायी जाती है। (अपूर्वतया वर्णित की जाती है) ॥३८॥ (यहाँ भी कुन्तक ध्वनिकार से ही तत्त्व ग्रहण करते है। ध्वनिकार आनन्द ने भी कहा है—

यद्यपि तदपि रम्य यत्र लोकस्य किञ्चित्-
स्फुरितमिदमितीय बुद्धिरभ्युज्जिहीते ।
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक
सुकविरुपनिबध्नन्निन्धता नोपयाति ॥ ध्व०, ४।१६ ।

जहाँ कोई वस्तु अन्य प्रकार की होती हुई भी महाकवि की प्रतिभा के उन्मेष के माहात्म्य से उसकी अपनी रुचि के अनुसार पूर्णतया अन्य रूप मे (नवीनतया) ही प्रस्तुत होती है ॥३९॥ (यहाँ भी ध्वनिकार की उक्ति द्रष्टव्य है—

अक्षरादिरचनेव योज्यते यत्र वस्तु रचना पुरातनी ।
नूतने स्फुरति काव्यवस्तूनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति ॥४।१५)

प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां व्यतिरिक्तस्य कस्यचित् ॥४०॥
स्वभावः सरसाकूतो भावानां यत्र बध्यते ।
केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपबृंहितः ॥४१॥
विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते ।
परिस्फुरति यस्यान्तः सा काप्यतिशयाभिधा ॥४२॥
सोऽतिदुःसंचरो येन विदग्धकवयो गताः ।
खड्गधारापथेनेव सुभटानां मनोरथाः ॥४३॥

स विचित्राभिधानः पन्थ कीदृक्—अतिदुःसंचरः, यत्रातिदुःखेन संचरते । किं बहुना, येन विदग्धकवयः केचिदेव व्युत्पन्नाः केवलं गताः प्रयाताः, तदाश्रयेण काव्यानि चक्रुरित्यर्थः । कथम्—खड्गधारापथेनेव सुभटानां मनोरथाः । निस्त्रिंशधारामार्गेण यथा सुभटानां महावीराणां मनोरथाः

शब्द और अर्थ के व्यापार से व्यतिरिक्त जहाँ किसी अनिर्वचनीय वाक्यार्थ को प्रतीयमानता ही निबद्ध की जाती है ॥४०॥ (ध्यान देने की बात है कि वाक्यार्थ की प्रतीयमानता से यह नहीं समझना चाहिए कि कुन्तक ध्वनि-सिद्धान्त को स्वीकार करते है । उनका तात्पर्य अर्थ की सपाटबयानी से नही प्रत्युत् उसकी व्यङ्ग्यतया प्रतीति मे है) ।

किसी अपूर्व कमनीयता से युक्त वैचित्र्य से अतिशयित जहाँ भावो का रसवाही अभिप्राय समन्वित स्वभाव निबन्धित किया जाता है ॥४२॥

जहाँ वक्रोक्ति का वैचित्र्य ही प्राण के समान प्रतीत होता है और जिसमे कोई अपूर्व ही यह अतिशय अभिधा परिस्फुरित होती है । तलवार की धार के पथ से चलने वाले महान शूर-वीरो के मनोरथ की भाँति जिस कठिन मार्ग से विदग्ध कवियो ने अपनी यात्रा की है । अतिशय कठिनाई से गमनीय वह मार्ग विचित्र मार्ग कहा जाता है ॥४२-४३॥

वृत्तिकार अन्तिम कारिका से प्रारम्भ करते हैं—सेति से । वह विचित्र नाम का मार्ग कैसा है ?—अतिशय कठिनाई से गमन योग्य, जहाँ अत्यन्त कष्ट से चला जाता है । अधिक कहने से क्या (लाभ), जिस मार्ग से विदग्ध कविगण अर्थात् कतिपय व्युत्पन्न कवि ही केवल गये है—गमन किये है, उस (विचित्रमार्ग) के आश्रय से काव्यो का निर्माण किया है, यह अर्थ है । कैसे (गये है)—तलवार की धारपथ से सुभटो मनोरथ की भाँति । तलवार की धार के मार्ग से जैसे सुभटो—महावीरो के मनोरथ-संकल्प विशेष (जाते है) । तो यहाँ यह अभिप्राय है—औचित्य के अनुसार रुचि का तिरस्कार किये बिना तलवार की धार के मार्ग पर चलने मे प्रवर्तमान मनोरथो की स्वल्पमात्र भी मलिनता (हानि) सम्भव नही है । साक्षात् युद्ध की भीड़-भाड़ मे आचरण करने पर तो फिर कदाचित् कुछ म्लानता भी सम्भावित हो

सकलपविशेषाः । तदयमत्राभिप्रायः यदसिधारामार्गगमने मनोरथानामौचित्यानुसारेण यथारुचि प्रवर्तमानानां मनाङ्मात्रमपि म्लानता न संभाव्यते। साक्षात्समरसमर्दसमाचरणे पुनः कदाचित् किमपि म्लानत्वमपि संभाव्येत। तदनेन मार्गस्य दुर्गमत्वं तत्प्रस्थितानां च विहरणप्रौढ़िः प्रतिपाद्यते। कीदृक् स मार्गः-यत्र यस्मिन् शब्दाभिधेययोरभिधानाभिधीयमानयोरन्तः स्वरूपानुप्रवेशिनी वक्रता भणितिविच्छित्तिः स्फुरतीव प्रस्यन्द-मानेव विभाव्यते लक्ष्यते। कदा-प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये। प्रतिभायाः कविशक्तेरचरमोल्लेखावसरे। तदयमत्र परमार्थः—यत् कविप्रयत्न-निरपेक्षयोरेव शब्दार्थयोः स्वाभाविकः कोऽपि वक्रताप्रकारः परिस्फुरन् परिदृश्यते। यथा—

कोऽयं भाति प्रकारस्तव पवन पदं लोकपादाहतीनां
तेजस्विव्रातसेव्ये नभसि नयसि यत्पांसुपूरं प्रतिष्ठाम्।
यस्मिन्नुत्थाप्यमाने जननयनपथोपद्रवस्तावदास्तां
केनोपायेन सह्यो वपुषि कलुषतादोष एष त्वयैव ॥८९॥

सकती है। इसलिए इस उदाहरण से (विचित्र) मार्ग की दुर्गमता और उस पर चलने वालो—गमन करने वालें की गमन परिपक्वता प्रतिपादित होती है। और कैसा है वह मार्ग ?—जहॉ जिस मार्ग में, शब्द और अर्थ—अभिधान एव अभिधीयमान के मध्य—स्वरूप मे अनुप्रवेश करने वाली, वक्रोक्ति—कथन की शोभा, स्फुरित होती हुई सी—प्रवाहित होती हुई सी विभावित होती है—लक्षित होती है। कब ?—प्रतिभा के प्रथम उद्भेद के समय। प्रतिभा—कविशक्ति के प्रथम उल्लेख के अवसर पर। इसलिए यहॉ वास्तव रूप यह हुआ—कि, कवि से प्रयत्न से निरपेक्ष (आहार्य व्युत्पत्ति की अपेक्षा बिना स्वाभाविक कविशक्ति समुल्लसित) ही शब्द और अर्थ का स्वाभाविक अपूर्व ही कोई वक्रता प्रकार जहॉ सर्वतः प्रवाहित होता हुआ परिदृष्टि होता है (वह है विचित्र मार्ग)। जैसे—सुभाषितावली का श्लोक है। वायु को लेकर अप्रस्तुत प्रशंसा (अन्योक्तिमय) कथन है—हे पवन, तुम्हारा यह कौन-सा तरीका है कि जो लोगो के पाद-प्रहार के पात्र धूलिप्रवाह को तेजस्विसर्ग (सूर्य आदि ग्रहो) से सेवनीय आकाश मे प्रतिष्ठा प्रदान करते है (दुष्टो को भी सद्गति देने वाले ! तुम्हारी यह कौन सी कृपा है कि उपेक्षा के पात्र व्यक्ति को भी सिर पर चढ़ा देते हैं)। जिसके ऊपर उठाये जाने से लोगो के नेत्रपथ मे होने वाले उपद्रव तो रहे (जिस व्यक्ति का ऊपर उठाया जाना लोग देख नही पाते उनकी ऑखो को भी कष्ट होता है फिर भी यदि उसकी बात छोड भी दी जाय तो), (जिसको उठाने से लगा हुआ) तुम्हारे शरीर मे जो यह कलुषतारूप दोष है, तुम्हारे ही द्वारा वह कैसे सहा जाता है। (ऐसे व्यक्ति को ऊपर उठाने से तुम्हारे ऊपर लगा हुआ जो कलङ्क है उसे तुम सहन कैसे कर लेते हो !) ॥८९॥

अमाप्रस्तुतप्रशंसात्नक्षणोऽलंकारः प्राधान्येन वाक्यार्थः। प्रतीयमानपदार्थान्तरत्वेन प्रयुक्तत्वात्तत्र विचित्रकविशक्तिसमुल्लिखितवक्रशब्दार्थोपनिबन्धमाहात्म्यात् प्रतीयमानमप्यभिधेयतामिव प्रापितम्। प्रक्रम एव प्रतिभासमानत्वान्न चार्थान्तरप्रतीतिकारित्वेऽपि पदानां श्लेषव्यपदेशः शक्यते कर्तुम्, वाच्यस्य समप्रधानभावेनानवस्थानात्। अर्थान्तरप्रतीतिकारित्वं च प्रतीयमानार्थस्फुटत्वावभासनार्थमुपनिबध्यमानमतीवचमत्कारकारितां प्रतिपद्यते।

तमेव विचित्रं प्रकारान्तरेण लक्षयति-अलंकारस्येत्यादि। यत्र यस्मिन्मार्गे कवयो निबध्नन्ति विचरयन्ति, अलंकारस्य विभूषणस्यालंकरणान्तरं विभूषणान्तरम् असंतुष्टाः सन्तः। कथम्—हारादेर्मणिबन्धवत्। मुक्ताकलापप्रभृतेर्यथा पदकादिमणिबन्धं रत्नविशेष—विन्यासं वैकटिकाः। यथा—

यहाँ अप्रस्तुत प्रशसा रूप अलङ्कार प्रधानत. वाक्यार्थ है। (अप्रस्तुत वर्णन से प्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना मे अप्रस्तुत प्रशसा अलङ्कार होता है। यहाँ प्रस्तुत अर्थ है किसी परोपकारी व्यक्ति द्वारा सर्वथा उपेक्षित व्यक्ति का उद्धार कर उसे उच्च प्रतिष्ठा प्रदान करना जिसे अप्रस्तुत पवन के वर्णन से व्यञ्जित किया गया है। इस प्रकार यहाँ अप्रस्तुत पवन वृत्ति के वर्णन से) प्रतीयमान अन्य पदार्थ (परोपकारी व्यक्ति के आचरण) के रूप मे (वाक्यार्थ पवन-वर्णन के) प्रयुक्त होने के कारण विचित्र (मार्ग मण्डित) कवि की स्वाभाविक शक्ति से निबन्धित वक्र शब्द और अर्थ के प्रभाव से प्रतीयमान भी (परोपकारि वर्णन रूप वृत्त) वाच्यार्थता को प्राप्त-सा करा दिया गया है। (प्रश्न हो सकता है कि यहाँ अप्रस्तुत प्रशसा से नहीं, श्लेष के माध्यम से द्वितीय अर्थ की प्रतीति हो रही है तो उत्तर है) यहाँ प्रयुक्त पदो मे दूसरे अर्थ (उपकारी व्यक्ति) की प्रतीति कारिता रहने पर भी क्योकि प्रारम्भ मे ही (पढ़ते ही) (द्वितीय अर्थ की) प्रतीति हो जाती है इसलिए इस रचना के पदो मे श्लेष का व्यपदेश नही किया जा सकता। क्योकि श्लेष मे दोनो ही अर्थ वाच्य एवं समप्रधान होते है किन्तु यहाँ तो प्रतीयमान अर्थ) वाच्यार्थ के समप्रधान रूप मे अवस्थित नही है (प्रत्युत् प्रतीयमान अर्थ मे चमत्कार अधिक है और इस प्रकार यहाँ पदों की) अर्थान्तर प्रतीतिकारिता प्रतीयमान अर्थ की स्पष्टतः प्रतीति कराने के लिए उपनिबन्धित की गयी है जिससे वह अत्यन्त ही चमत्कारकारिता को पहुँच गयी है।

उसी विचित्र मार्ग को प्रकारान्तर से लक्षित करते हैं—'अलङ्कारस्य' इत्यादि कथन से। जहाँ-जिस मार्ग मे कविगण निबन्धन करते हैं—विचार करते है, अलङ्कार का—विभूषण का (उपकारी) दूसरे अलङ्कार—दूसरे विभूषण का (एक ही अलङ्कार से सन्तुष्ट न हो पाने के कारण। कैसे?—हारादि मे मणियो आदि के विन्यास की भाँति। जैसे जौहरी लोग मुक्ताहार आदि लौकिक अलङ्कारो मे पदक आदि मणिबन्ध—रत्न विशेष का विन्यास करते है। जैसे—(यह श्लोक वाक्यपदीय की पुञ्ज-

हे हेलाजितबोधिसत्व वचसां किं विस्तरैस्तोयधे
नास्ति त्वत्सदृशः परः परहिताधाने गृहीतव्रतः।
तृष्यत्पान्थजनोपकारघटनावैमुख्यलब्धायशो-
भारप्रोद्वहने करोषि कृपया साहायकं यन्मरोः ॥९०॥

अत्रात्यन्तगर्हणीयचरितं पदार्थान्तरं प्रतीयमानतया चेतसि निधाय तथाविधविलसितः सलिलनिधिर्वाच्यतयोपक्रान्तः। तदेतावदेवालंकृतेर-प्रस्तुतप्रशंसायाः स्वरूपम् गर्हणीयप्रतीयमानपदार्थान्तरपर्यवसानमपि वाक्यं [व]स्तुन्युपक्रमरमणीयतयोपनिबध्यमानं तद्विदाह्लादकारितामायाति। तदेवद्

राज की टीका मे २।२९ कारिका की व्याख्या मे प्रस्तुत है। बाद मे काव्यप्रकाश, अलङ्कार सर्वस्व एव काव्यानुशासन मे भी प्रयुक्त किया गया है)—

बोधिसत्व भगवान् बुद्ध को भी अनायास जीत लेने वाले हे जलनिधि समुद्र, (तुम्हारी प्रशसापरक) वाणी के विस्तार से क्या (लाभ?)। परोपकार का व्रत धारण करने वाला तुम्हारे समान (इस जगत् मे) कोई भी दूसरा व्यक्ति नहीं है। जो तुम कृपापूर्वक, प्यासे पथिकजनो की (जल प्रदान रूप) उपकार क्रिया से विमुखता के कारण प्राप्त अपकीर्ति के भार को सम्यक् वहन करने मे मरुस्थल की सहायता करते है ॥९०॥

(यहॉ पर काव्य-प्रकाशकार मम्मट एव अलकार सर्वस्वकृत् रुय्यक् दोनो ही आलकारिक समुद्र की स्तुति के बहाने निन्दाव्यञ्जित होने से व्याज स्तुति अलङ्कार मानते है। व्याजस्तुति का लक्षण सर्वस्वकार ने किया है—स्तुति निन्दाभ्या निन्दास्तुत्योर्गम्यत्वे व्याजस्तुतिः। कुन्तक के अनुसार यहॉ व्याजस्तुति तो है किन्तु वह अप्रस्तुतप्रशसा को अलङ्कृत कर रहा है। अप्रस्तुत समुद्र-वर्णन से प्रस्तुत ऐसे धनवान् का वृत्त व्यञ्जित-हो रहा है जो भूखे-प्यासो की सहायता नही करता। तो मरुस्थल स्वभावतः जल शून्य है, निर्धन के पास वैसे भी धन कहॉ? किन्तु जो अपार जल (धन) राशि से परिपूर्ण हो वही दीन दुखियो की सहायता न करे तो इससे बढ़कर उसका अपश क्या हो सकता है? इस प्रकार अप्रस्तुत समुद्र-वर्णन से प्रस्तुत धनवान् की प्रतीयमानता होने के कारण अप्रस्तुत प्रशसा है। इसी का आगे की पंक्तियो मे विवेचन है।)

यहॉ पर अत्यन्त निन्दनीय चरित अन्य पदार्थ (धनवान्) प्रतीयमान अर्थ है। इस प्रतीयमान अर्थ को ही चित्त मे रख कर कवि ने उस प्रकार के व्यापार (प्यासे पथिक को जल प्रदान न करने रूप अयश भारोद्वहन-रूप कार्य से युक्त) वाले समुद्र को वाच्यार्थ के रूप मे प्रस्तुत किया है। यहॉ पर अप्रस्तुत प्रशसा अलङ्कार का इतना ही स्वरूप है। और वस्तुत वर्णन के प्रारम्भ मे रमणी रूप मे उपनिबध्यमान यह वाक्य (रचना) निन्दनीय प्रतीयमान दूसरे पदार्थ (धनवान् की निन्दा) मे पर्यवसित होता हुआ भी सहृदय-हृदय की आह्लादकारिता को प्राप्त होता है। तो यह (वाच्यार्थ समुद्र की स्तुति से प्रतीयमान धनाढ्य की निन्दा की प्रतीति होने के कारण)

व्याजस्तुतिप्रतिरूपकप्रायमलंकरणान्तरमप्रस्तुतप्रशंसाया भूषणत्वेनोपात्तम् । न चात्र संकरालंकारव्यवहारो भवितुमर्हति, पृथगतिपरिस्फुटत्वेनावभासनात् । न चापि संसृष्टिसंभवः समप्रधानभावेनानवस्थितेः । न च द्वयोरपि वाच्यालंकारत्वम्, विभिन्नविषयत्वात् । यथा वा—

नामाप्यन्यतरोर्निमीलितमभूत्तत्तावदुन्मीलितं
प्रस्थाने स्खलतः स्ववर्त्मनि विधेरन्यद् गृहीतः करः ।
लोकश्चायमदृष्टदर्शनकृता दृग्वैशसादुद्धृतो
युक्तं काष्ठिक लूनवान् यदसि तामाम्रालिमाकालिकीम् ॥९१॥

व्याजस्तुति रूप दूसरा अलङ्कार अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार के अलङ्करण के रूप मे ग्रहण किया गया है (एक ही वाक्य मे दो अलङ्कारो की अवस्थिति से त्रिविध—एकाश्रयानुप्रवेश, अङ्गाङ्गि एवं सन्देह रूप सङ्कर तथा संसृष्टि हो सकती है ? इस सन्देह को दूर करते है । `यहाँ सङ्कर अलङ्कार का व्यवहार नही हो सकता, क्योकि–दोनो ही अलङ्कार यहाँ अलग-अलग एव अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रतिभासित हो रहे है (इसीलिए न उनमे अङ्गाङ्गि भाव है, न सन्देह और न एकाश्रयानुप्रवेशत्व) । परस्पर अनपेक्षित रूप मे अवस्थित समप्रधान भावो वाले अलङ्कारो की दशा मे संसृष्टिहोती है, यहाँ वह भी नही है क्योकि दोनों की समप्रधानभाव से अवस्थित नही है । एक वाच्य है और (दूसरा प्रतीयमान) क्योकि दोनो का विषय भिन्न-भिन्न है, इस लिए यहाँ दोनो ही अलङ्कारो की वाच्यता भी नही है (अप्रस्तुत प्रशंसा व्यग्य है और वाच्य है व्याजस्तुति, इस प्रकार दोनो का विषय भी भिन्न है । उक्त रीति से यहाँ कवि ने अप्रस्तुत प्रशंसा मात्र से सन्तुष्ट न होकर उसकी शोभाहेतु हारादि मे न्यस्त माणिक्य आदि की भाँति व्याजस्तुति-रूप अन्य अलङ्कार का विनिवेश कर सहृदय हृदयहारिता प्रस्तुत की है अतः यहाँ विचित्र मार्ग है) ।

अथवा जैसे—(रचना भल्लटशतक की है । यह उदाहरण भी व्याजस्तुति से परिपोषित अप्रस्तुतप्रशंसा का समर्थक है ।)—काष्ठकर्मिक असमय मे ही फलने वाली उस आम्राली को जो तुमने छिन्न कर दिया है उचित ही किया, क्योकि इस प्रकार तुमने जिसके कारण अन्य वृक्षो का नाम भी छिप गया था (उस आम्राली को काटकर तुमने) पहले तो उन्हे ही प्रकाशित किया । सृष्टि-यात्रा मे अपने मार्ग से (आकालिक आम्राली के निर्माणरूप अनुचित सृष्टि क्रिया से) स्खलित होते हुए विधि (स्रष्टा) को अपना हाथ (सहारा) दिया, यह दूसरा उपकार हुआ । और (आम्राली जैसी) पूर्व अदृष्ट वस्तु के दर्शन से होने वाले नेत्र कष्ट से इस ससार का उद्धार कर दिया (यह तीसरा उपकार हुआ) ॥९१॥

यहाँ भी आम्राली के उच्छेदरूप कार्य की स्तुति रूप वाच्यार्थ से उस प्रकार की असमय मे पक कर फल देनेवाली मधुर वस्तु के विनाश रूप कार्य की निन्दा रूप प्रतीयमान अर्थ मे पर्यवसान होने के कारण व्याजस्तुति अलङ्कार है, जो वाच्य है ।

अत्रायमेव न्यायोऽनुसन्धेयः। यथा वा—

किं तारुण्य तरोरियं रसभरोद्भिन्ना न वा वल्लरी
लीला प्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारांनिधेः।
उद्गाढोत्कलिकावतां स्वसमयोपन्यासविस्रम्भिणः
किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृङ्गारिणः ॥९२॥

अत्र रूपक लक्षणो योऽयं वाक्यालङ्कारः तस्य सन्देहोक्तिरियं छायान्तरातिशयोत्पादनायोपनिबद्धा चेतनचमत्कारितामावहति। शिष्टं पूर्वोदाहरणद्वयोक्तमनुसर्तव्यम्।

यह वाच्यालङ्कार व्याज्यमान अप्रस्तुत प्रशसा का पोषक है। यहॉ अप्रस्तुत काष्ठिक के आम्राली उच्छेद रूप वाच्य से किसी नृशस व्यक्ति की प्रतीति हो रही है। जो असमय मे भी लोगो को उदारतया सहायता करता था, जिसकी कीर्ति से औरो का लुकाव हो गया था जिसने कितनो के भाग्य पलट दिये थे और जिसे अपूर्व अदृष्ट होने के कारण देख लोग सन्तुष्ट होते थे उसका नृशस तूने उच्छेद कर जगत् का महान् उपकार कर दिया। वस्तुतः तो यहॉ 'आकालिकी' पद से इसका सम्बन्ध किसी असमय तारुण्य प्राप्त युवती के वृत्तान्त से प्रतीत होता है।

नृशंस, निठुर काष्ठप्राय तुमने जो असमय प्राप्त तारुण्य उसको नखादि से क्षत किया अच्छा नहीं किया, जिसके सौन्दर्य से अन्यो का सौन्दर्य छिप-सा गया था। आदि-आदि। इस तरह वहॉ अप्रस्तुत प्रशसा व्यञ्जित हो रही है।

अथवा जैसे—(श्लोक सुभाषितावली का है। आचार्य रुय्यक ने इसे 'अलङ्कार सर्वस्व' मे शुद्धसन्देह अलङ्कार के उदाहरण के रूप मे उपन्यस्त किया है। किसी रमणी के प्रति प्रेमी की उक्ति है)—यह युवती क्या यौवनवृक्ष की रसाधिक्य से खिली हुई कोई नयी लतिका है? अथवा विलास (अनायास ही) के कारण तट से छलके हुए लावण्यसमुद्र का कोई प्रवाह है क्या? या अतिशय गहरी प्रेम की उत्कण्ठायुक्त प्रेमी जनो के लिए अपने आचार को प्रस्तुत करने मे विश्वस्त शृङ्गार रस के देव काम की साक्षात् उपदेश यष्टिका है ॥९२॥

(यहॉ वाच्य सन्देहालङ्कार से रूपक की प्रतीयमानता स्पष्ट हो रही है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है रुय्यक ने इसमें शुद्ध सन्देह अलङ्कार माना है, यहॉ उक्त रचना मे (नायिका पर वल्लरी, लहरिका एवं उपदेशयष्टि रूप उपमानो का आरोप होने के कारण) रूपकस्वरूप जो यह वाक्य का अलङ्कार है उसके सौन्दर्यान्तर के अतिशय की वृद्धि के लिए यह सन्देह अलङ्कार वाच्यरूप मे उपनिबद्ध किया गया है, जो सहृदय-हृदय मे चमत्कार का आधान करता है। शेषर सङ्कर-ससृष्टिका निराकरण रूपकार्य, पूर्व के दो उदाहरणो के विषय मे कही गयी बात के अनुसार समझ लेना चाहिए

भूयिष्ठेष्वपि का भवत्सु गणनात्यर्थं किमुत्ताम्यते
तस्योदारभुजोष्मणोऽन वसिता नाचारसंपत्तय ॥९३॥

अत्राजेर्महोत्सवव्यतिकरत्वेन तथाविधं रूपणं विहितं यत्रालंकार्यम् "आर्यः स्वशौर्येण युष्मान् सर्वानेव मारयति" इत्यलङ्कार शोभातिशयान्तर्गतत्वेन भ्राजते। तथा च कश्चित्सामान्योऽपि क्वापि दवीयस्यपि देशे नामंविभक्तो युष्माकमवशिष्यते। तस्मात् समरमहोत्सवसंविभागलम्पटतया प्रत्येकं यूयं संभ्रमं त्यजत। गणनया वयं भूयिष्ठा इत्यशक्यानुष्ठानतां यदि मन्यध्वे तदप्ययुक्तम्। यस्मादसंख्यसंविभागा शक्यता कदाचिदसंपत्त्या कार्पण्येन वा संभाव्यते। तदेतदुभयमपि नास्तीत्युक्तम्—'तस्योदार भुजोष्मणोऽनवसिता नाचारसंपत्तयः' इति। यथा च—

कतमः प्रविजृम्भित विरह व्यथः शून्यतां नीतो देशः ॥९४॥ इति।

तुम्हारा कोई महत्त्व नही है)। इसलिए क्यो बहुत उतावले हो रहे हो। उनके उदार भुजाओ की गर्मी की आचार सम्पत्तियाँ (प्रयोग विधाएँ) समाप्त नही हुई है (तुम्हारा विनाश करने के लिए उनकी भुजाओ मे पर्याप्त गर्मी वर्तमान है) ॥९३॥

यहाँ पर युद्ध का महोत्सव से सम्बन्ध प्रतिपादित होने के कारण (युद्ध पर महोत्सव का आरोप कर) उस प्रकार का अपूर्व रूपण किया गया है कि जिसमे अलङ्करणीय वाक्य 'पूज्य राम अपने पराक्रम से तुम सबको मार डालेगें' यह भाव (रूपक) अलङ्कार की रमणीयतातिशय के अन्तर्गत होने के कारण शोभायुक्त हो गया है, दीप्यमान है। (और वह अलङ्कार्य रूप वाक्य ऐसे हो सकता है) तुममे से कोई सामान्य भी व्यक्ति कही किसी दूर प्रदेश में भी असविभक्त (विभाग पाये बिना, अकर्तित) नही बचेगा। इसलिए समर रूप महोत्सव मे प्राप्त होने वाले अपने भाग की लालसा के कारण (क्योकि आप सबकी बल लालसा पूर्ण हो जायगी अतः) तुममे से प्रत्येक घबराहट को छोड़ दो। यदि यह मानते हो कि संख्या मे हम बहुत हैं इसलिए (सबके भाग प्रदान रूप कार्य का) अनुष्ठान होना असंभव है, तो यह सोचना भी ठीक नही है। क्योकि असख्य लोगो को भाग देने की अशक्यता कदाचित् संपत्ति के अभाव से अथवा कृपणता से ही संभव हो सकती है। किन्तु यह दोनो ही श्रीरामचन्द्रजी मे नही है। इसीलिए कहा है—"उदार बाहु की ऊष्मा से युक्त उन रामचन्द्रजी की आचार सम्पत्तियाँ समाप्त नहीं हुई है।"

अथवा जैसे अन्य उदाहरण—(नीचे के दोनों उदाहरण 'हर्षचरित' से लिये गये हैं। दोनो मे ही सावित्री दधीचि के विषय मे उनके सेवक विकुक्षि से पूछ रही है)—'अत्यन्त प्रवृद्ध विरह की व्यथा से युक्त किस देश को (अपने आगमन से) शून्य कर दिया है ॥९४॥

यथा च—

कानि च पुण्यभाञ्जि भजन्त्यभिख्यामक्षराणि ॥९५॥ इति ।

अत्र 'कस्मादागताःस्थ', 'किञ्चास्य नाम' इत्यलङ्कार्यमप्रस्तुतप्रशंसा लक्षणालङ्कारच्छायाच्छुरित त्वेनैतदीय शोभान्तर्गतत्वे न सहृदय-हृदयाह्लादकारितां प्रापितम्। एतच्च व्याजस्तुतिपर्यायोक्त प्रभृतीनां भूयसा विभाव्यते। ननु रूपकादीनां स्वलक्षणावसर एव स्वरूपं निर्णेष्यते तत्किंप्रयोजनतेषामिहोदाहरणस्य? सत्यमेतत्, किन्त्वे तदेव विचित्रस्य वैचित्र्यं नाम यदलौकिकच्छायातिशय योगित्वेन भूषणोपनिबन्धः कामपि वाक्यवक्रतामुन्मीलयति।

विचित्रमेव रूपान्तरेण लक्षयति—यदपीत्यादि। यदपि वस्तु वाच्यम्नूतनोल्लेखमनभिनवत्वेनोल्लिखितं तदपि यत्र यस्मिन्नलं कामपि काष्ठां नीयते लोकोत्तरातिशयकोटि मधिरोप्यते। कथम्—उक्तिवैचित्र्यमात्रेण, भणिति वैदग्ध्येनैवेत्यर्थः। यथा—

अथवा जैसे—'कौन से पुण्यशाली अक्षर आपकी अभिधेयता (नाम) का सेवन करते है?' ॥९५॥

यहाँ (उपर्युक्त दोनो उदाहरणो मे क्रमशः) 'कहाँ आये है' और 'इस (युवा) का नाम क्या है?' इस प्रकार का अलङ्कार्य, अप्रस्तुत प्रशंसा रूप अलङ्कार (अप्रस्तुत-देश की विरह-व्यथा रूप वर्णन एवं अक्षरो का नाम सेवन रूप वर्णन से प्रस्तुत, 'किस देश से आये है, 'नाम क्या है?' की प्रतीति होने के कारण दोनो मे अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार है) के सौन्दर्य से व्याप्त होने के कारण, इस अलङ्कार की शोभा के अन्तर्गत होने से सहृदय की हृदयहारिता को प्राप्त करा दिया गया है। और यह वैचित्र्य (अलङ्कार की अपनी छाया के अन्तर्गत भ्राजमान वस्तु रूप स्वभाव या अलङ्कार कार्य का अवस्थान) व्याजस्तुति, पर्यायोक्त आदि अलङ्कारो मे विशेषकर प्रतीत होता है। (प्रश्न हो सकता है कि) रूपक आदि अलङ्कारो का स्वरूप निर्णय उनके लक्षण करने के समय आगे किया ही जाने वाला है जो फिर इनके यहाँ उदाहरण प्रस्तुत करने के क्या उद्देश्य है? (उत्तर है)—सत्य है (कि इसके स्वरूप विवेचन के समय इनका लक्षणोदाहरण दिया जायगा), किन्तु विचित्र मार्ग की तो यही विचित्रिता है कि अलौकिक शोभा के अतिशय का सम्पादक होने के कारण (विचित्र मार्ग मे) (रूपक आदि) भूषणो का उपनिबन्ध किसी अपूर्व ही वाक्यवक्रता को जन्म देता (तदर्थ ही यहाँ रूपक आदि अलङ्कारो के उदाहरण प्रस्तुत किये गये है)।

विचित्र (मार्ग) को ही दूसरे रूप मे लक्षित करते है—यदपीत्यादि से। जो भी वस्तु अर्थात् वाच्य, नवीन कथन न होने पर भी—अभिनव रूप मे वर्णित न हो, वह भी जहाँ जिस (मार्ग), मे अलम्—किसी अनिर्वचनीय सीमा को पहुँचायी जाती है अर्थात् अलौकिक अतिशय की पराकाष्ठा पर विराजित होती है (वहाँ भी विचित्र मार्ग पाया जाता है) कैसे?—कथन की सुन्दरता मात्र से। अर्थात् भणिति की

अण्णं लडहत्तणअं अण्णंच्चि अ काइवत्तणच्छाया।
सामा सामण्ण प आवइणो रेहच्चि अण होई ॥९६॥
(अन्यल्लट भत्वमन्यैव कापि वर्तनच्छाया।
श्यामा सामान्यप्रजापते रेखैव न भवति॥ इतिच्छाया)

यथा वा—

उद्देशोऽयं सरसकदली श्रेणिशोभातिशायी
कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरित हरिणी विभ्रमो नर्मदायाः।
किञ्चैतस्मिन्सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाता
येषामग्रे सरित कलिताकाण्डकोपो मनोभूः॥९७॥

भणितिवै चित्र्यमात्रमेवात्र काव्यार्थः, न तु नूतनोल्लेखशालि वाच्य-विजृम्भितम्। एतच्च भणिति वैचित्र्यं सहस्रप्रकारं संभवतीति स्वय-मेवोत्प्रेक्षणीयम्।

पुनर्विचित्रमेव प्रकारान्तरेण लक्षयति—यत्रान्यथेत्यादि। यत्र यस्मिन्न-न्यथा भवदन्येन प्रकारेण सत् सर्वमेव पदार्थजातम् अन्यथैव प्रकारान्तरेणैव

विदग्धता से ही (ऐसा हो पाता है)। जैसे—यह गाथा प्राकृति रचना 'गाहासत्तमई' की है। मम्मट, रुय्यक ने इसे अतियोक्ति अलङ्कार के उदाहरण मे प्रस्तुत किया है। किसी युवती का वर्णन है—

'सुकुमारता कुछ और ही ˋ, शरीर की कान्ति कुछ अपूर्व ही है (इस प्रकार) वह श्यामा (षोडशी युवती) साधारण प्रजापति का सृष्टि ही नही है ॥९६॥

अथवा जैसे—(काव्य प्रकाशकार ने 'काव्यप्रकाश' के तृतीय उल्लास में वाच्य व्यञ्जकता के उदाहरण के रूप म इस श्लोक को प्रस्तुत किया है? सम्भोग चाहने वाले कामुक की नायिका के प्रति उक्ति है—कृशाङ्गि: स्निग्ध कदली वनो की शोभा से अतिशय मनोरम एवं लतागृहो की पुष्पादि समृद्धि से न रहने पर भी विलासिनी वनिताओ मे हाव-भाव आदि विभ्रम पैदा करने वाला यह नर्मदा का उन्नत प्रदेश है। और यहाँ रति के पुनःपुनः प्रवर्तक वे हवाएँ बहती है जिनके आगे मनोभाव काम अनवसर भी कोपयुक्त होकर विचरण करने लगता है ॥९७॥

उक्त दोनो उदाहरणो मे वणन की विचित्रता (सौन्दर्य) मात्र ही वाक्यार्थ है (काव्यार्थ है) न कि नवीन वर्णन से सुन्दर अर्थ का विजृम्भण। और यह भणिति वैचित्र्य हजारो प्रकार का हो सकता है। इसलिए विद्वानो को उसे स्वयं जान लेना चाहिए (कहाँ तक उनका उल्लेख किया जाय।)

विचित्र मार्ग को ही पुन अन्य प्रकार से लक्षित करते हैं—यत्रान्यथेत्यादि से। जहाँ—जिस (मार्ग) मे, अन्य प्रकार का होता है हुआ—अन्य प्रकार से विद्यमान सभी पदार्थ समूह, यथा रुचि। (कवि के) अपने प्रतिभास के अनुसार उत्पन्न होता है। किसके द्वारा?—महाकवि की प्रतिभा के उल्लेख के महत्त्व से—कवि की अनु-

भाव्यते । कथम्—यथारुचि । स्वप्रतिभानुरूपेणोत्पद्यते । के न—प्रतिभोल्लेख-महत्त्वेन महाकवेः, प्रतिभासोन्मेषातिशयत्वेन कवेः। यत्किल वर्ण्यमानस्य वस्तुनः प्रस्तावसमुचितं किमपि सहृदय-हृदयहारि रूपान्तरं निर्मिमीते कविः। यथा—

तापः स्वात्मनि संश्रितद्रुमलताशोषोऽध्यगैर्वर्जनं
सख्यं दुःशमया तृषा तव मरो कोऽसावनर्थो न यः।
एकोऽर्थस्तु महानयं जललवस्वाम्यस्मयोद्‌गर्जिनः
संनह्यन्ति न यत्तवोपकृतये धाराधराः प्राकृताः ॥९८॥

यथा वा—विशति यदि नो कंचित्कालं किलाम्बुनिधिं विधेः
कृतिपु सकला स्वेको लोके प्रकाशकतां गतः।
कथमितरथा धाम्नां धाता तमांसि निशाकरं
स्फुरदिदमियांताराचक्रं प्रकाशयति स्फुटम् ॥९९॥

अत्र जगद्‌गर्हितस्यापि मरोः कवि प्रतिभोल्लिखितेन लोकोत्तरोदार्य धुराधिरोपणेन तादृक् स्वरूपान्तरमुन्मीलितं यत्प्रतीयमानत्वेनोदार चरितस्य कस्यापि सत्स्वप्यु चित परिस्पन्दसुन्दरेषु पदार्थ सहस्रेषु तदेव व्यपदेशपात्र-

---

भूति के उन्मेप के अतिशयत्व से। भाव यह कि, वर्ण्यमान वस्तु का प्रकरणानुरूप कुछ अपूर्व ही सहृदय-हृदयहारी दूसरा रूप कविजन निर्मित करते है। जैसे—(श्लोक सुभाषितावली का है। अप्रस्तुत प्रशसा अलङ्कार के माध्यम से मरुस्थल का वर्णन करते हुए स्वाभिमानी निर्धन को प्रस्तुत किया गया है)—अपने ही अन्दर सन्ताप, आश्रित वृक्ष लताओ का सूखना, पथिक-जनो द्वारा परित्याग, कष्ट से शान्त की जाने वाली प्यास से तुम्हारी मित्रता (इस प्रकार) हे मरु ! वह कौन-सा अनर्थ है जो तुम्हे नही है (सभी अनर्थ विद्यमान है) किन्तु तुम्हारा एक ही महान अर्थ (गुण) है कि जल के लेशमात्र की स्वामिता के अहंकार से गर्जने वाले प्राकृत मेघ तुम्हारे उपकार के तत्पर नही होते ॥ ९८॥

अथवा जैसे दूसरा उदाहरण—स्रष्टा की समस्त रचनाओ मे अद्वितीय एवं जगत् मे प्रकाशता (प्रसिद्धि) को प्राप्त (सूर्य) यदि कुछ समय के लिए समुद्र मे प्रवेश न करे तो तेज को धारण करने वाला (वह सूर्य) अन्धकार, चन्द्रमा और दीप्यमान इतने नक्षत्र-मण्डल को अन्यथा कैसे स्पष्टतया प्रकाशित कर पाये ॥ ९९॥

(यहाँ भी अप्रस्तुत सूर्यास्त से लोकोत्तर व्यक्ति का जगत की सेवा-हेतु विश्राम करना व्यञ्जित हो रहा है, अतः अप्रस्तुत प्रशंसा है)।

यहाँ (प्रथम श्लोको मे) संसार मे निन्दित भी मरुस्थल का कवि की प्रतिभा से उल्लिखित, अलौकिक औदार्य की चरम सीमा पर अधिरोपण द्वारा कवि ने उस प्रकार दूसरा स्वरूप उन्मीलित किया है जो प्रतीयमान होने के कारण (उक्त श्लोक मे अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार है। अप्रस्तुत वाच्य मरु से प्रस्तुत किसी सत्पुरुष की

तामर्हतीति तात्पर्यम्। अवयवार्थस्तु—दुःशमयेति 'तृड्'-विशेषणेन प्रतीयमानस्य त्रैलोक्यराज्येनाप्यपरितोषः पर्यवस्यति। अध्वगैर्वर्जनमित्यौदार्येऽपि तस्य समुचित संविभागासंभवादर्थिभिर्लज्जमानैरपि स्वयमेवानभिसरणं प्रतीयते। संश्रित द्रुमलताशोष इति तदाश्रितानां तथाविधेऽपि संकटे तदेकनिष्ठताप्रतिपत्तिः। तस्य च पूर्वोक्तस्वपरिकर परितोषाक्षमतया तापः स्वात्मनि न भोग लवलौल्लेनेति प्रतिपद्यते। उत्तरार्द्धेन—तादृशे दुर्विलसिततेऽपि परोपकार विषयत्वेन श्लाघास्पदत्वमुन्मीलितम्।

अपरत्रापि विधिविहित समुचितसमयसंभवं सलिलनिधिमज्जनं निजोदयन्यक्कृतनिखिलस्वपरपक्षः प्रजापतिप्रणीतसकलपदार्थप्रकाशन व्रताभ्युपगमनिर्वहणाय विवस्वान् स्वयमेव समाचरतीत्यन्यथा कदाचिदपि शशाङ्क

प्रतीति होने से यहाँ यह अलङ्कार योजना बनाती है कि जो व्यक्ति अपने सन्ताप को मन मे छिपाये रहता है. आश्रित नर-नारियो को सब कुछ निछावर कर स्वयं नि स्व हो गया है, दूर तक हाँकने वालो से जिसकी निभती नहीं। कभी भी शान्त न होने वाली प्रेम अथवा ज्ञान की पिपासा से युक्त सभी कुछ तो उसके लिए कष्ट का विषय (सुख का कारण) है, किन्तु सबसे बड़ा कष्ट तो उसे यह होता है कि ज्ञान के लेशमात्र से फूले हुए कुछ मूर्ख छोटे-मं टे प्रदाता कठिनाई मे भी उसके काम नहीं आते) उदारचित्त किसी भी व्यक्ति के लिए, समुचित स्वभाव से सुन्दर अनेक पदार्थों के रहते भी, वह मरु ही अभिधान पात्रता के योग्य है। यह इसका तात्पर्य है।

इसका अवयवभूत प्रतीयमान अर्थ तो इस प्रकार है—दु शम इस तृषा के विशेषण से प्रतीयमान (व्यक्ति) को त्रैलोक्य की राज्य प्राप्ति से भी परितोष नहो है, इसमे पर्यवसित होता है। 'पथिक जनो से परित्याग' इस कथन से उदारता विद्यमान रहने पर भी उसका विधिवत् विभाग न हो पाने के कारण लज्जित होते हुए भी याचको का उसके पास स्वयं आगमन प्रतीत होता है। 'आश्रित वृक्ष एवं लताओ के शोष' से उसके आश्रित लोगो का उस प्रकार की विपत्ति मे भी एकमात्र उसी मे निष्ठाभाव की प्रतीति होती है। उसके अपने हृदय मे होने वाला संतापपूर्वक अपने आश्रितादिजन-समूहो को परितुष्टि करने मे असमर्थ होने के कारण है न कि भोग के लेशमाश के के लौल्य के कारण (यह ताप स्वात्मनि) आदि से प्रतिपन्न होता है। और उत्तरार्द्ध 'एकोऽर्थस्तु' इत्यादि से वैसी दुरवस्था मे भी उसकी परोपकारिता व्यक्त होने के कारण वही प्रशंसा का पात्र है, यह परिस्फुट किया गया है।

अन्यत्र (दूसरे उदाहरण मे) भी विधाता से किये गये समुचित समय पर होने वाले जलनिधि मे (सूर्य के) डूबने की बात को (कुछ अन्य प्रकार से ही व्यक्त किया गया है कि) विधात से निर्मित जगत् के समग्र पदार्थों को प्रकाशित करने रूप अङ्गीकृत व्रत पालन के निर्वाह के लिए सूर्य अपने उदय से समस्त स्वपक्ष एवं परपक्ष को तिरस्कृत कर अपने ही (समुद्र मज्जन कार्य का) आचरण करता है, अन्यथा

तमस्तारादीनामभिव्यक्तिर्मनागपि न संभवतीति कविना नूतनत्वेन यदुल्लिखितं तदतीवप्रतीयमानमहत्त्वव्यक्तिपरत्वेन चमत्कारकारिताभापद्यते ।

विचित्रमेव प्रकारान्तरेणोन्मीलयति–प्रतीयमानतेत्यादि । यत्र यस्मिन् प्रतीयमानता गम्यमानता काव्यार्थस्य मुख्यतया विवक्षितस्य वस्तुनः कस्यचिदनाख्येयस्य निबध्यते । कया युक्त्या—वाच्य वा चकवृत्तिभ्यां शब्दार्थशक्तिभ्याम्, व्यतिरिक्तस्य तदतिरिक्त वृत्तेरन्यस्य व्यंग्यभूतस्याभिव्यक्तिः क्रियते । 'वृत्ति–'शब्दोऽत्र शब्दार्थयोस्तत्प्रकाशन सामर्थ्यममिधत्ते । एष च 'प्रतीयमान-व्यवहारो वाक्यवक्रता व्याख्यानावसरे सुतरां समुन्मील्यते । अनन्तरोक्तमुदाहरणद्वयमत्र योजनीयम् । यथा वा—

वक्त्रेन्दोर्न हरन्ति वाष्पपयसां धारामनोज्ञां श्रियं
निश्वासा न कदर्थयन्ति मधुरां बिम्बाधरस्य द्युतिम् ।

चन्द्रमा, अन्धकार एवं तारागणो आदि को स्वल्पमात्र की कभी अभिव्यक्ति नही हो सकती, इस प्रकार कवि ने जो नवीनतया बात कही है, वह अत्यन्त प्रतीयमान महत्त्वपूर्ण व्यक्तिपरक होने के कारण सौन्दर्योत्पादकत्व को प्राप्त हो गया है । (सर्वातिशायी महिमामण्डित व्यक्ति यदि स्वयं मार्ग से हटकर औरों को अवसर प्रदान न करे तो अन्य लोगो की अभिवृद्धि सभव ही नही । इस प्रकार ऐसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति की महत्ता यहाँ सूर्य के वृत्त से व्यक्त होती है) ।

विचित्र (मार्ग को ही) अन्य प्रकार से प्रकाशित करते है—'प्रतीयमानता' इत्यादि (४०वी कारिका) से । जहाँ जिस (मार्ग) मे, काव्यार्थ का—प्रधानतया प्रतिपाद्य किसी (वाच्य रूप मे) अनाख्येय पदार्थ की प्रतीयमानता-गम्यमानता निबन्धित की जाती है (उसे भी विचित्र मार्ग कहते है) । किस युक्ति से (प्रतिपादन किया जाता है) ?—वाच्य और वाचक वृत्तियो से—शब्द और अर्थ की शक्तियो से, व्यतिरिक्त—उन (शब्दार्थ की अभिधा शक्ति) से अतिरिक्त अन्य वृत्ति (व्यञ्जना) के द्वारा व्यंग्यभूत अर्थ की जाती है । यहाँ इस कारिका मे आया 'वृत्ति' शब्द और अर्थ की (व्यञ्जना के द्वारा) उनके प्रकाशन की सामर्थ्य को व्यक्त करता है । और यह प्रतीयमान (अर्थ) का व्यवहार वाक्यवक्रता के व्याख्यान के समय विधिवत् प्रकाशित किया जायगा । इस । कारिका मे प्रोक्त मार्ग लक्षण के उदाहरण) मे इसके पूर्व कहे गये दोनो उदाहरणो—'ताप· स्वात्मनि' आदि ' एवं 'विशतियदि' आदि—को योजित करना चाहिए । अथवा जैसे (तीसरा भी उदाहरण)—'कवीन्द्र वचनामृतम्' एव 'सदुक्तिकर्णामृतम्' मे यह श्लोक आया है । नायिका की दूसी नायक से उसकी विरहावस्था का वर्णन कर रही है)—

'उस तन्वङ्गी के चन्द्रमुख की रमणीय शोभा को (तुम्हारे वियोग मे निरन्तर) बहती ऑसुओं की धाराएँ विलीन नही कर पाती और उच्छ्वास मरुत् उसके बिम्बाफल जैसे होठो की हृद्य कान्ति को मलिन नही कर पाते, किन्तु तुम्हारे वियोग में

तस्यास्त्वद्विरहे विपक्वलवलीलावण्य संवादिनी
च्छाया कापि कपोलयो रनुदिनं तन्व्याः परं पुष्यति ॥१००॥

अत्र त्वद्विरह वैधुर्यसंवरण कदर्थनामनुभवन्त्यास्तस्यास्तथाविधे महति गुरुसङ्कटे वर्तमानायाः—किं बहुना–बाष्प निश्वासमोक्षावसरोऽपि न संभवति। केवलं परिणत लवलीलावण्यसंवादसुभगा कापि कपोलयोः कान्तिरशक्यसंवरणा प्रतिदिन 'पर' परिपोषमासादयति इति वाच्यव्यतिरिक्तवृत्तिदूत्युक्तितात्पर्यं प्रतीयते। उक्त प्रकार कान्तिमत्त्वकथनं च कान्तिकौतुकोत्कलिक कारणतां प्रतिपद्यते।

विचित्रमेव स्वरूपान्तरेण प्रतिपादयति—स्वभाव इत्यादि। यत्र यस्मिन् भावानां स्वभावः स्वपरिस्पन्दः सरसाकूतो रसनिर्भराभिप्रायः पदार्थानां निबध्यते निवेद्यते। कीदृशः—'केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपबृंहितः' लोकोत्तरेण हृदयहारिणा वैदग्ध्येनोत्तेजितः। 'भाव' शब्देनात्र सर्वपदार्थोऽभिधीयते, न रत्यादिरेव।

उसके कपोलो पर निरन्तर पकी हुई लवली लता (की पीली) कान्ति के समान कोई अपूर्व ही कान्ति परिपुष्ट होती जा रही है ॥१००॥

यहाँ पर–तुम्हारे विरह की विधुरता को गोपन करने की व्यथा का अनुभव करती हुई, उस प्रकार के अनिर्वाच्य महान् विशाल सङ्कट मे वर्तमान उस बेचारी को—अधिक क्या कहे—ऑसू गिराने एवं निश्वास छोड़ने का अवसर भी नहीं मिल पाता। केवल परिपक्व लवली लता के लावण्य के समान सुन्दर कपोलो की कोई अपूर्व ही कान्ति, जिसे छिपा सकना संभव नही है (ऑसू गिराती नही, निश्वास छोडती नहीं कि कही कोई यह जान न ले कि वह तुम्हारे प्रेम से पगी हुई है अत· रुदन और आहो को छिपाती फिरती है किन्तु कपोलो की कान्ति तो छिपायी नही जा सकती जो निरन्तर पीली पड़ती जा रही है)—निरन्तर अतिशय परिपोष को प्राप्त हो रही है। इस प्रकार वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त प्रतीयमान वृत्ति रूप दूती के कथन का तात्पर्य प्रतीत हो रहा है। और (दूती के द्वारा नायिका के कपोलो की) उस प्रकार की (पीत) कान्तिमत्ता का प्रतिपादन (नायिका से मिलने की) प्रियतम की उत्कण्ठा के आविर्भाव की कारणता को प्राप्त होता है।

विचित्र (मार्ग) को ही दूसरे स्वरूप से प्रतिपादित करते हैं—स्वभाव इत्यादि से। जहॉ जिस (मार्ग) मे भावो का स्वभाव अपना परिस्पन्द, सरसाकूत-रसातिशय से युक्त अभिप्राय पदार्थों का निबद्ध किया जाता है। कैसा (स्वभाव)?—किसी अपूर्व कमनीय वैचित्र्य से उपवृहित–लोकोत्तर सहृदय हृदयहारी वैदग्ध्य से उत्कर्षयुक्त किया गया। भाव शब्द से यहॉ सभी पदार्थों का अभिधान किया गया है, न कि केवल रति आदि भावो का ही (अभिधान किया गया है)। उदाहरण जैसे—(किसी रमणी के स्मितपूर्वक भावों का वर्णन है,—अभिनव (थोड़े-थोड़े) काम से युक्त

उदाहरणम्—

क्रीडासु 'बाल कुसुमायुधसंगताया
यत्तत्स्मितं न खलु तत् स्मितमात्रमेव ।
आलोक्यते स्मितपटान्तरितं मृगाक्ष्या-
स्तस्या परिस्फुरदिवापरमेव किंचित् ॥१०१॥

अत्र न खलु तत्स्मितमात्र मेवेति प्रथमार्धेऽभिलाषसुभगं सरसाभिप्रायत्व मुक्तम् । अपरार्धे तु—हसितांशुकतिरोहितमन्यदेव किमपि परिस्फुरेदालोक्यत इति कमनीय वैचित्र्यविच्छित्तिः ।

इदानीं विचित्रमेवोपसंहरति--विचित्रो यत्रेत्यादि । एवं विधो विचित्रो मार्गो, यत्र यस्मिन् वक्रोक्तिवैचित्र्यम् अलङ्कार विचित्रभावो जीवितायते जीवितवदाचरति । वैचित्र्यादेव विचित्रे 'विचित्रः-' शब्दः प्रवर्तते । तस्मात्तदेव तस्य जीवितम् , किंतद्वैचित्र्यं नामेत्याह—परिस्फुरति यस्यान्तः सा काप्यतिशयाभिधा । यस्यान्तः स्वरूपानुप्रवेशेन सा काव्यलौकिकातिशयोक्तिः परिस्फुरति भ्राजते यथा—

(जिसमे अभी काम का आविर्भाव हो ही रहा है, तरुणाई आ ही रही है) उस मृगनयनी का (रत्यादि) क्रीडाओ मे जो वहाँ स्मित था वह स्मित मात्र ही नही था प्रत्युत् स्मित् रूप वस्त्र से ढँका हुआ कोई अपर ही पदार्थ परिस्फुरित होता हुआ प्रतीत हो रहा था ॥१०१॥

यहाँ वह केवल स्मितमात्र नही था इस पूर्वार्द्ध के वर्णन से (उस मृगाक्षी के संभोग आदि) अभिलाष से रमणीय सरस अभिप्राय को कहा गया है । और उत्तरार्द्ध भाग से हसित रूपी अंशुक से छिपा हुआ कोई अकथनीय अन्य ही (रति आदि रूप भाव) अभिलाष परिस्फुरित होता हुआ दिखाई पड़ता था, इस प्रकार कमनीय कान्ति का निर्माण किया है ।

अब विचित्र (मार्ग का) ही (४२वी कारिका से) उपसंहार करते है—विचित्रो यत्रेत्यादि से । इस प्रकार का (३४वी कारिका से लेकर ४१वीं तक प्रतिपादित विधि से युक्त) वैचित्र्य मार्ग होता है । यत्र जिस मार्ग मे वक्रोक्ति का वैचित्र्य-अलंकार का विचित्रभाव, जीवितामित होता है—प्राण के समान आचरण करता है (अलंकारादि विषयक) विचित्र भाव के कारण विचित्र मार्ग मे 'विचित्र' शब्द का प्रवर्त्तन होता है । इसलिए वही (विचित्र भाव-अलङ्कार का वैचित्र्य) उस (विचित्र मार्ग) का प्राण है । वह वैचित्र्य है क्या ?—कहते हैं, जिसके अन्तर्गत वह कोई अपूर्व ही अतिशय अभिधा परिस्फुरित होती है— जिसके अन्तर्गत स्वरूप के अनुप्रवेश द्वारा वह कोई अपूर्व ही अलौकिक अतिशयोक्ति परिस्फुरित होती है—शोभायमान होती है । जैसे—बालरामायण (७।६६) का श्लोक है—

यत्सेनारजसामुदञ्चति चयेद्वाभ्यां दवीयोऽन्तरान्
पणिभ्यां युगपद्विलोचनपुटानष्टाक्षमो रक्षितुम्।
एकैकं दलमुन्नमय्य गमयन् वासाम्बुजं कोशतां
धाता संवरणा कुलरिचरमभूत् स्वाध्यायवद्धानन ॥१०२॥

एवं वैचित्र्य संभावनानुमान प्रवृत्तायाः प्रतीयमानत्वमुत्प्रेक्षायाः। तच्च धाराधिरोहणरमणीयतयातिशयोक्तिपरिस्पन्दि संदृश्यते ॥३४-४३॥

तदेवं वैचित्र्यं व्याख्याय तस्यैव गुणान् व्याचष्टे—

वैदग्ध्यस्पन्दि माधुर्यं पदानामत्र बध्यते।
याति यत्त्यक्तशैथिल्यं बन्धबन्धुरताङ्गताम् ॥४४॥

अत्रास्मिन् माधुर्यं वैदग्ध्यस्पन्दि वैचित्र्य समर्पकं पदानां बध्यते वाक्यैक देशानां निवेश्यते। यत्त्यक्तशैथिल्यमुज्झित कोमलभावं भवद्बन्धबन्धुरताङ्गतां याति सन्निवेश सौन्दर्योपकरणतां गच्छति। यथा—

(प्रयोग के समय) जिसकी सेना से (समुत्थित) धूलिसमूह के ऊपर की ओर उठने पर, स्वाध्याय मे लगे हुए मुखो वाले ब्रह्माजी अत्यन्त दूर अन्तर पर अवस्थित अपने आठो नेत्रपुटो की एक साथ दोनो हाथो से रक्षा करने मे असमर्थ होकर अपने निवासास्पद कमल को उसकी एक एक पङ्खुड़ियो को ऊपर की ओर उठाकर कलिका का रूप प्रदान करते हुए बहुत देर तक उसे बन्द करने मे व्यस्त रहे ॥१०२॥

(अपने ऑखो की रक्षा मे असमर्थ विधाता मानो अपने आवासभूत कमलो को बन्द करने मे व्यस्त हो गये इस प्रकार यहॉ) संभावना के अनुमान से प्रवृत्त होने वाली प्रतीयमान उत्प्रेक्षा का (इवादिक पदाभावे गूढोत्प्रेक्षां प्रचक्षते—चन्द्रलोक) इस प्रकार का सौन्दर्य निबन्ध है। और वह उत्प्रेक्षा वैचित्र्य अतिशय उत्कर्ष प्राप्त रमणीय अतिशयोक्ति के स्वभाव का प्रवाहक प्रतीत हो रहा है। (तो इस प्रकार ३४-४३ कारिका तक वैचित्र्य मार्ग का स्वरूप प्रतिपादित किया गया)।

इस प्रकार वैचित्र मार्ग की व्याख्या करके उसी के गुणो की विवेचना करते है—

इस (विचित्र मार्ग) मे पदो का वैदग्ध्य प्रवाहित करने वाला माधुर्य निबन्धित किया जाता है जो शिथिलता का परित्याग कर रचना की बन्धुरता की अङ्गता को प्राप्त करता है ॥४४॥

यहॉ इस (विचित्र मार्ग) मे, वैदग्ध्यस्पन्दी विचित्रता का समर्पक (माधुर्य गुण) पदों का निबन्धित किया जाता है—अर्थात् वाक्य के एकाश का (वैदग्ध्य प्रवर्त्तक माधुर्य) निविष्ट किया जाता है। जो त्यक्तशैथिल्य—कोमल भाव को छोड़ते हुए बन्ध की बन्धुरता की अङ्गता को प्राप्त हो जाता है—सन्निवेश की सुन्दरता के उपकरण भाव को प्राप्त कर लेता है। जैसे—

'किं तारुण्यतरोः' इत्यादि उदाहरणार्थ ९२ मे प्रस्तुत श्लोक के पूर्वार्द्ध मे माधुर्य का निबन्धन है। जो इस प्रकार है—

'किं तारुण्य तरोः' इत्यत्र पूर्वार्द्धे ॥१०३॥

एवं माधुर्यमभिधाय प्रसादमभिधत्ते—

असमस्त पदन्यासः प्रसिद्धः कविवर्त्मनि ।
किञ्चिदोजः स्पृशन् प्रायः प्रसादोऽप्यत्र दृश्यते ॥४५॥

असमस्तानां समासरहितानां पदानां न्यासो निबन्धः कविवर्त्मनि विपश्चिन्मार्गे यसः प्रसिद्धः प्रख्यातः। सोऽप्यस्मिन् विचित्राख्ये प्रसादभिधानो गुणः किञ्चित् कियन्मात्रं ओजः स्पृशन्, उत्तानतया व्यवस्थितः प्रायो दृश्यते प्राचुर्येणलक्ष्यते। बन्धसौन्दर्य निबन्धनत्वात् तथाविधस्यौजस समासवती वृत्तिः 'ओजः' शब्देन चिरन्तनैरुच्यते। तदयमत्र परमार्थः—पूर्वस्मिन् प्रसाद-लक्षणे सति ओजः स्पशमात्रमिह विधीयते। यथा—

अपाङ्गगततारकाः स्तिमितपक्ष्मपालीभृतः
स्फुरत्सुभग कान्तयः स्मित समुद्गतिद्योतिताः।

कि तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा वल्लरी
लीलाप्रोच्छलितस्य कि लहरिका लावण्यवारानिधेः ॥१०३॥

यहाँ प्रत्येक पदो मे प्रायः माधुर्य व्यञ्जक सौन्दर्य पाया जाता है ॥४४॥

इस प्रकार माधुर्य का अभिधान कर प्रसाद गुण का विवेचन करते है—

समासरहित पदविन्यास से युक्त, कुछ-कुछ ओज गुण का स्पर्श करता हुआ कविपरम्परा मे प्रसिद्ध प्रायः प्रसाद गुण भी यहाँ (विचित्र मार्ग मे) देखा जाता है ॥४५॥

असमस्त—समासरहित पदों का न्यास—निबन्धन, कवियो के मार्ग—विद्वानो की रचना विधि मे जो प्रसिद्ध—प्रख्यात है। वह (प्रसाद गुण) भी विचित्र नामक (मार्ग मे) प्रसाद नाम का गुण, कुछ-कुछ मात्रा तक, ओज का स्पर्श करता हुआ—प्रौढ़ रूप मे व्यवस्थित हुआ प्रायः देखा जाता है—अधिकतया लक्षित होता है। रचना के सौन्दर्य निबन्धन का कारण होने के कारण उस प्रकार के ओज की समास-युक्त वृत्ति को प्राचीन आचार्यों ने 'ओज' शब्द से कहा है। तो यहाँ इसका वस्तु अर्थ तो यह है कि—इसके पूर्व सुकुमार मार्ग के प्रसाद गुण के विद्यमान रहने पर यहाँ ओज का स्पर्श मात्र भी निबंधित किया जाता है (तात्पर्य यह है कि सुकुमार मार्ग का जो प्रसाद गुण है। जैसा कि ३१वी कारिका में व्यक्त है--अक्लेश व्याञ्जिताकूतं झगित्यर्थ समर्पणम्। रसवक्रोक्ति विषयं यत्प्रसाद· सकथ्यते। इस प्रसाद गुण का जो लक्षण है, विचित्र मार्ग मे भी यह रहता है। अन्तर केवल यह है कि विचित्र मे यह ओज गुण का भी स्पर्श करता है, ओज से युक्त भी होता है)। जैसे—(युवती-नारियो के दृष्टि सौन्दर्य का वर्णन है—) प्रियतम पर प्रेरित मदयुक्त सुन्दरी रमणियों की आँखे (कटाक्ष) जयनशील है (सर्वातिशायी है)। जिनै आँखो की पुतलियाँ नेत्रों के कोर भाग मे पहुँच जाती है, निश्चल पलको को धारण करती हुई छिटकती

विलासभरमन्थरास्तरलकल्पितैकभ्रुवो
जयन्ति रमणेऽर्पिताः समद् सुन्दरी दृष्टयः ॥१०४॥

प्रसादमेव प्रकारान्तरेण प्रकटयति—

गमकानि निबध्यन्ते वाक्ये वाक्यान्तराण्यपि ।
पदानीवात्र कोऽप्येष प्रसादस्यापरः क्रमः ॥४६॥

अत्रास्मिन् विचित्रे यद्वाक्यं पदसमुदायस्तास्मिन् गमकानि समर्पकाण्यन्यनि वाक्यान्तराणि निबध्यन्ते निवेश्यन्ते। कथम् पदानीव पदवत्, परस्परान्वितानीत्यर्थः। एष कोऽप्यपूर्वः प्रसादस्याप्यपरः क्रमः बन्धच्छायाप्रकारः। यथा—

नामाप्यन्यतराः इति ॥१०५॥

प्रसादमभिधाय लावण्यं लक्षयति—

मुस्कान के आविर्भाव से जो चमक उठती है तथा विलासो के अतिशय भार से जो अलसायी रहती है और जिन ऑखो की एक भौह चञ्चल कर दी जाती है ॥१०४॥

(ओजगुण समर्पक पदसंघटना-वर्ण विन्यास की विच्छित्ति के साथ श्रृङ्गार रस समन्वित होने के कारण यहाँ प्रसाद गुण है)।

प्रसाद गुण को ही दूसरे ढंग से कहते हैं—

यहाँ (विचित्र मार्ग के इस प्रकारान्तर प्रसाद गुण मे) वाक्य मे पदों की भाँति व्यञ्जक दूसरे वाक्य मे निबन्धित किये जाते है। यह प्रसाद का अनिर्वाच्य कोई दूसरा ही प्रकार है ॥४६॥

यहाँ—इस विचित्र मार्ग मे जो वाक्य होता है—पद समुदाय होता है, उसमें गमक—(व्यञ्जनया) समर्पक अन्य दूसरे वाक्य निबन्धित किये जाते है—निवेशित किये जाते हैं। कैसे ?—पदो की भाँति-पद की भाँति एक-दूसरे से आपस मे अन्वित। यह कोई अपूर्व ही प्रसाद गुण का दूसरा क्रम है। जैसे—

नामाप्यन्यतरोः ॥१०५॥ (यह ९१वी संख्या के उदाहरण का एकांश मात्र है। पूर्ण श्लोक इस प्रकार है—

नामाप्यन्यतरोर्निमीलितममूत्तत्तावदुन्मीलित
प्रस्थाने स्खलतः स्ववर्त्मनि विधेरन्मद्गृहीतः करः।
लोकश्चायमदृष्ट दर्शनकृताद्दृग्वैशसा दुद्धृतो
युक्तं काष्ठिक लूनवान् यदसि तामाम्रालिमाकालिकीम् ॥१०५॥

यहाँ आकालिक आम्रालिकदम्ब के काष्ठिक द्वारा काटे जाने रूप वाक्य मे 'अन्यतरु के निमीलितादि' वाक्य पदो की भाँति गमक एव परस्पर अन्वित है। अतः प्रसाद गुण है)।

प्रसाद का व्याख्यान कर लावण्य गुण का लक्षण करते हैं—

अत्राप्लुतविसर्गान्तैः पदैः प्रोतैः परस्परम् ।
ह्रस्वैः संयोगपूर्वैश्च लावण्यमतिरिच्यते ॥४७॥

अत्रास्यिन्नेवं विधैः पदैर्लावण्यमतिरिच्यते परिपोषं प्राप्नोति । कीदृशैः—परस्परमन्योन्यं प्रोतैः संश्लेषं नीतैः । अन्यच्च कीदृशैः—अलुप्त विसर्गान्तैः, अलुप्तविसर्गाः श्रूयमाण विसर्जनीया अन्ता येषां तानि यथोक्तानि तैः । ह्रस्वैश्च लघुभिः । संयोगेभ्यः पूर्वैः । अतिरिच्यते इति सम्बन्धः । तदिदमत्र तात्पर्यम्—पूर्वोक्तलक्षणं लावण्यं विद्यमान मनेनातिरिक्ततां नीयते । यथा—

श्वासोत्कम्पतरङ्गिणिस्तनतटे धौताञ्जनश्यामलाः
कीर्यन्ते कणशः कृशाङ्गि किममी वास्याम्भसां बिन्दवः ।
किञ्चाकुञ्चित कण्ठरोधकुटिलाः कर्णामृतस्यन्दिनो
हुंकाराः कलपञ्चमप्रणयिनस्त्रुट्यन्ति निर्यान्ति च ॥१०६॥

यहाँ अलुप्त विसर्ग से युक्त अन्त (पदो वाले), परस्पर संबद्ध एवं संयोग के पूर्व ह्रस्व पदो से युक्त लावण्य गुण का अतिरेक (परिपोष) पाया जाता है ॥४७॥

यहाँ—इस (विचित्र मार्ग), मे, इस प्रकार पदो से लावण्य का अतिरेक—परितोष प्राप्त होता है । किस प्रकार के (पदो से) ?—परस्पर—आपस मे, प्रोतः—सश्लेष को प्राप्त कराये गये । और कैसे (पदो से) ?—अलुप्त विसर्गान्त पदो से—विसर्ग लुप्त नही है, जिनके अन्त मे विसर्जनीय श्रूयमाण है वे तथोक्त उन पदो से । और ह्रस्व—लघु (पदो से), जो सयोग पदो से पहले (आये हो) । (ऐसे पदो मे लावण्य गुण), अतिरेक को प्राप्त होता है । (इस क्रिया) से सम्बन्ध है । तो यहाँ यह तात्पर्य है- पूर्व कथित लक्षणवाला लावण्य गुण उपस्थित होने पर (अर्थात् सुकुमार मार्ग का जो ३२वी कारिका मे कहा गया लावण्य गुण है वह इससे मिलकर अतिरिक्तता को प्राप्त कराया जाता है) इसके सयोग से अतिरेकता को प्राप्त कराया जाता है । जैसे—

(आर्त्त रोती हुई किसी रमणी का वर्णन है—अपि तन्वङ्गि ! (आँखो लगाये गये) अञ्जन को धुल देने के कारण काली काली ये आँसू की बूँदे श्वासजन्य उत्कम्पन से तरङ्गायमान स्तनो के छोरो पर कण-कण करके क्यो बिखेरे जा रहे है ? और क्यो कुछ-कुछ दबी जुबान के अवरोध से टूटे-फूटे, कानो मे अमृत प्रवाहित करने वाले, मधुर पञ्चम राग के प्रणयी (समान) हुँम्-हुँम् के शब्द टूट-टूट कर रह जाते है (रह-रह कर) बाहर निकल पड़ते है ॥१०६॥

(यहाँ पर धौताञ्जनश्यामलाः, कणशः, बिन्दवः, कुटिलाः, हुकाराः पद अलुप्त विसर्गान्त हैं । इसी प्रकार संयुक्ताक्षरों के पूर्व प्रायः सर्व ह्रस्व का विधान है । यहाँ विचित्र मार्ग का लावण्य गुण विराजमान है ।)

यथा वा—

एतन्मन्द विपक्व तिन्दुकफलश्यामोदरा पाण्डुर-
प्रान्तं हन्त पुलिन्द सुन्दर कर स्पर्शक्षमं लक्ष्यते।
तत्पल्लीपतिपुत्रि कुञ्जरकुलं कुम्भाभयभ्यर्थना—
दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रांशुकैर्मा पिधाः ॥१०७॥

यथा वा—

'हंसानां निनदेषु' इति ॥१०८॥

एवं लावण्यमभिधायाभिजात्यमभिधीयते—

यन्नातिकोमलच्छायं नातिकाठिन्यमुद्वहत्।
आभिजात्यं मनोहारि तदत्र प्रौढिनिर्मितम् ॥४८॥

अत्रास्मिन् तदाभिजात्यं यन्नातिकोमलच्छायं नात्यन्तमसृणकान्ति नाति-

---

अथवा जैसे इसी का दूसरा उदाहरण—(यह श्लोक 'काव्यप्रकाश' मे दोष प्रकरण मे च्युतिसंस्कृत (व्याकरण लक्षण दोष) के उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। अन्तिम पद 'अनुनाथते' मे व्याकरण नियमो के अनुसार आशीरर्थ होने के कारण 'अनुनाथति' होना चाहिए। पल्लीपति (ग्रामप्रधान) की कन्या के कुचयुगल का दर्शन चाहने वाले किसी विदग्ध का कथन है—अरी, छोटे गॉव के प्रधान शबरपति की लाडिली, हर्ष का विषय है कि हलके पके तिन्दुक फल के समान श्याम मध्य भाग एवं मामूली पीले छोरो वाले ये तुम्हारे कुचद्वय (किसी) शबर के सुन्दर हाथो के स्पर्श के उपयुक्त लग रहे है (मर्दन योग्य हैं)। (क्योकि तुम्हारे कुम्भ-युगल से आकृष्ट एव सन्देहायित होकर कि किस कुम्भ पर प्रहार करे शबर हाथियो के गण्डस्थलो पर प्रहार नही करेगा अतएव) अपने गण्डस्थल (कुम्भद्वय जो कि तुम्हारे कुचकुम्भ के ही समान है) के अभय प्राप्ति की प्रार्थना से कातर हाथियों का समूह तुमसे यह याचना करता है कि इन अपने कुचयुगलों को पत्रांशुकों से मत छिपाओ (ढॅको) अर्थात् मद्दर्शनार्थ अनावृत ही रहने दो ॥१०७॥

(यहॉ पदो का परस्पर सश्लेष एवं सयोगपूर्व ह्रस्व का विधान तो है ही, वर्णन का सौन्दर्य भी परम आह्लादकारी है)।

अथवा इसी का तीसरा उदाहरण है—'हंसाना निनदेषु' इत्यादि उदाहरण मे जो उदाहरण सख्या ७३ मे है। पूरा श्लोक वही द्रष्टव्य है ॥४७॥

इस प्रकार लावण्य को कहकर अब आभिजात्य का विवेचन करते हैं—

इस (विचित्र मार्ग मे) जो न अत्यन्त कोमल छाया और न अत्यन्त कठिनता के सौन्दर्य को धारण करता हुआ (निर्माण है) मनोहारी एवं (कवि) प्रौढि से विनिर्मित वह आभिजात्य (गुण) कहा जाता है ॥४८॥

यहॉ इस (विचित्र मार्ग) मे वह आभिजात्य (गुण कहा जाता है), जो न अत्यन्त कोमलच्छाया—अत्यन्त मसृण कान्ति, एवं न अतिशय कठिनता को वहन

काठिन्यमुद्वहन्नाति कठोरतां धारयत् प्रौढिनिर्मितं सकल कविकौशलसंपादितं सन्मनोहारि हृदयरञ्जकं भवतीत्यर्थः। यथा—

अधिकरतलतल्पं कलिपतस्वापलीला-
परिमलननिमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली।
सुतनु कथय कस्य व्यञ्जयत्यञ्जसैव
स्मरनरपति केली यौवराज्याभिषेकम् ॥१०९॥

एवं सुकुमार विहितानामेव गुणानां विचित्रे कश्चिदतिशयः संपाद्यत इति बोद्धव्यम्।

आभिजात्यप्रभृतयः पूर्वमार्गोदितागुणाः।
अत्रातिशयमायान्ति जनिताहार्यसंपदः ॥११०॥

इत्यन्तरश्लोकः।

एवं विचित्रमभिधाय मध्यममुपक्रमते—

वैचित्र्यं सौकुमार्यं च यत्र संकीर्णतांगते।
भ्राजेते सहजाहार्य शोभातिशयशालिनी ॥४९॥

करता हुआ—अत्यन्त कठोरता को धारणा करता हुआ ही, प्रौढि से निर्मित—कवि की समस्त चातुरी से संपादित होकर मनोहारी सहृदय-हृदय का अनुरञ्जक होता है—यह अर्थ हुआ। जैसे—(यह श्लोक 'काव्यप्रकाश' मे भी आया है ! चिन्तापरायणा नायिका के प्रति सखी के वचन है—) शोभनाङ्गि ! बताओ तो सही कि करतलरूप शैय्या पर की गयी शयन की लीला के परिमर्दन मे (अरुणिमा आ जाने के कारण) तिरोहित होती हुई पाण्डिमा से युक्त यह तुम्हारी कपोलस्थली अकस्मात् किस भाग्यशाली के कामदेवरूपी राजा की क्रीड़ाओं के यौवराज्य पद पर (तुम्हारे द्वारा किये) अभिषेक को अभिव्यक्त कर रही है ? ॥१०९॥

(प्रकृत श्लोक मे न तो अत्यन्त कठिन न अतिशय मसृण पदो का ही प्रयोग किया गया है। कवि कल्पना का लालित्य है। अतएव आभिजात्य है)।

इस प्रकार सुकुमार मार्ग मे विहित गुणो का ही विचित्र मार्ग मे कोई अपूर्व सौन्दर्य संपादित कर दिया जाता है अर्थात् उनमे कुछ और ही सौन्दर्य ला दिया जाता है यह समझना चाहिए। (इसी को आगे के अन्तर श्लोक से कह रहे है)—

आभिजात्य आदि (माधुर्य, प्रसाद एवं लावण्य) पूर्व मार्ग (सुकुमार मार्ग) मे ही कहे गये गुण यहाँ (इस) विचित्र मार्ग मे (कवि की) आहार्य (न कि स्वाभाविक) काव्यसपत्ति से युक्त और भी अतिशय को प्राप्त हो जाते है ॥११०॥

इस प्रकार यह अन्तरश्लोक रहा।

इस प्रकार विचित्र मार्ग एवं उसके गुणो का अभिधान कर अब मध्य मार्ग के लक्षण का प्रयास करते है—

सहज एवं आहार्य शोभा के उत्कर्ष से सुशोभित जहाँ परस्पर सङ्कीर्णता को प्राप्त सुकुमार एवं विचित्रभाव प्रकाशमान होते है ॥४९॥

माधुर्यादिगुणग्रामो वृत्तिमाश्रित्यमध्यमाम् ।
यत्र कामपि पुष्णाति बन्धच्छायातिरिक्तताम् ।।५०।।
मार्गोऽसौ मध्यमो नाम नानारुचिमनोहरः ।
स्पर्धया यत्र वर्तन्ते मार्गद्वितय संपदः ।।५१।।
अत्रारोचकिनः केचिच्छायावैचित्र्यरञ्जके ।
विदग्ध नेपथ्यविधौ भुजङ्गा इव सादराः ।।५२।।

मार्गोऽसौ मध्यमोनाम मध्यमाभिधानोऽसौ पन्थाः । कीदृशः—नानाविधा रुचयः प्रतिभासा येषां ते तथोक्तास्तेषां सुकुमारविचित्र मध्यमव्यसनिनां सर्वेषामेव मनोहरो हृदयहारी । यस्मिन् स्पर्धया मार्गद्वितय संपदः सुकुमार विचित्र शोभाः साम्येन वर्तन्ते व्यवतिष्ठन्ते, न न्यूनातिरिक्तत्वेन । यत्र वैचित्र्यं विचित्रत्वं सौकुमार्यं सुकुमारत्वं सङ्कीर्णतां गते, तस्मिन् मिश्रतां प्राप्ते सती भ्राजेते, शोभेते । कीदृशे—सहजाहार्यशोभातिशयशालिनी, शक्तिव्युत्पत्ति-संभवो यः शोभातिशयः कान्त्युत्कर्षस्तेन शालेते श्लाघेते ये ते तथोक्ते ।

जहाँ माधुर्य आदि (लावण्य प्रसाद एव आभिजात्य) गुण वर्ग मध्यम वृत्ति का अवलम्बन कर रचना के सौन्दर्य की किसी अपूर्व विशेपता को परिपुष्ट करते हैं ।।५०।।

"विभिन्न रुचिवाले (सहृदयो) के मन को हरण करने वाला मध्यम नाम का वह मार्ग है जहाँ दोनो मार्गो (सुकुमार एव विचित्र मार्गों) की विभूतियाँ परस्पर स्पर्धापूर्वक वर्तमान रहती है ।।५१।।

कान्ति सौन्दर्य से रञ्जक रम्य आभूषण की विधि मे आदरयुक्त नागर जनो की भाँति शोभा की विचित्रता से सहृदय-हृदय रञ्जक एवं विदग्धजन की अलङ्करण पद्धति वाले इस मध्यम मार्ग मे कुछ आरोचकी वृत्ति के लोग ही आदरयुक्त होते है ।।५२।।

यह मार्ग मध्यम नाम का है—यह (काव्य) पथ मध्यम अभिधान वाला है । कैसा है ?—नाना प्रकार की रुचियाँ–प्रतिमास जिनके पास है वे है तथोक्त (नाना रुचि), उनका अर्थात् सुकुमार विचित्र मार्ग एव मध्यम मार्ग के व्यसनी इन सभी का ही जो मनोहर-हृदयहारी होता है (वह है मध्यम मार्ग) जिसमे परस्पर स्पर्धापूर्वक दोनो (सुकुमार एवं विचित्र) मार्गां की सम्पत्तियाँ—सुकुमार और विचित्र मार्गों की शोभाएँ समान भाव से होती है—व्यवस्थित होती है—कम अथवा अधिक भाव से नही । जहाँ वैचित्र्य-विचित्रता, सौकुमार्य-सुकुमारता (दोनो ही) सङ्कीर्णता को प्राप्त-कर उस (मध्यम) मार्ग मे मिश्रत्व भाव को प्राप्तकर ही दीप्यमान होते है—शोभाय-मान होते है । किस प्रकार के (वे दोनो) ?—सहज एव आहार्य शोभा के अतिशय से शालित—शक्ति एव व्युत्पत्ति से उत्पन्न होने वाला जो शोभा का अतिशय कान्ति का उत्कर्ष, उस जो शालित होते है—प्रशंसित होते है वे दोनो तथोक्त रम्राजेते सहजाहार्य शोभातिशयशालिनी) उस प्रकार के मार्ग को मध्यम मार्ग कहते है ।

माधुर्येत्यादि । यत्र माधुर्यादि गुणग्रामो माधुर्यप्रभृतिगुणसमूहो मध्यमामुभयच्छायाच्छुरितां वृत्तिं स्वस्पन्दगतिमाश्रित्य कामप्यपूर्वां बन्धच्छायातिरिक्ततां सन्निवेशकान्त्यधिकतां पुष्णाति पुष्यतीत्यर्थः ।

तत्र गुणानामुदाहरणानि । तत्र माधुर्यस्य यथा—

वेलानिभैर्मृदुभिराकुलितालकान्ता
गायन्ति यस्य चरितान्यपरान्तकान्ताः ।
लीलानताः समवलम्ब्य लतास्तरूणां
हिन्तालमालिषु तटेषु महार्णवस्य ॥१११॥

प्रसादस्य यथा—

तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन, इत्यादि ॥११२॥

(मध्यम मार्ग को ही और अधिक विशेषित करने के लिए कहते है)—माधुर्येत्यादि । जहॉ—जिस मार्ग मे माधुर्यादि गुणो का समूह माधुर्य प्रभृति (प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य) गुणो का समुदाय मध्यमावृत्ति (सुकुमार एव वैचित्र्य रूप) दोनो की कान्ति से मिश्रित वृत्ति अर्थात् अपने व्यापार को प्राप्त कर किसी अपूर्व ही रचना की शोभा की अतिरिक्तता—विन्यास विच्छित्ति की अधिकता को पुष्ट करता है—परिपोष प्रदान करता है (वह मार्ग मध्यम मार्ग कहा जाता है)। क्योकि मध्यम मार्ग सुकुमार एवं वैचित्र्य की विच्छित्त से संवलित होता है इसलिए मध्यम के गुण भी उक्त दोनों मार्गो के गुणो के मिश्रण से युक्त होगे। अतः उनका लक्षण न करके केवल उदाहरण दिये जा रहे है।

उस (मध्यम मार्ग) मे गुणो के उदाहरण दिये जाते हैं। उनमे भी माधुर्य का उदाहरण जैसे—श्लोक पादताडितक भाण का है जो श्यामिलक कवि की कृति मानी जाती है—) हिन्ताल वृक्षो से शोभायमान महासागर के तट पर सविलास झुकी हुई वृक्ष की लताओ का सम्यक् अवलम्बन लेकर किनारे की मञ्जु हवाओ से बिखरे अलकोंवाली जलनिधि के दूसरे किनारे की कामनियॉ जिसके चरितो का बखान किया करती है ॥१११॥

(यहॉ पर सुकुमार मार्ग के माधुर्य गुण का अधिक समासों का अभाव एवं विचित्र मार्ग के माधुर्य का—शैथिल्य विहीन विन्यास मार्ग का माधुर्य गुण दमक उठा है)। प्रसाद गुण का उदाहरण जैसे—उदाहरण सख्या २३ मे उदाहृत श्लोक—तद्वक्त्रेन्दु विलोकनेन, इत्यादि ॥११२॥) पूरा श्लोक पुन दिया जा रहा है —

तद्वक्त्रेन्दु विलोकनेन दिवसोनीतः प्रदोषस्तथा
तद्गोष्ठ्यैव निशापि मन्मथकृतोत्साहैस्तदङ्गार्पणैः ।
तो सम्प्रत्यपि मार्गदत्तनयना द्रष्टुं प्रवृत्तस्य मे
बद्धोत्कण्ठमिदं मन' किमथवा प्रेमासमाप्तोत्सवम् ॥११२॥

लावण्यस्य यथा—

सङ्क्रान्ताङ्गुलिपर्वसूचितकरस्वापाकपोलस्थली
नेत्रे निर्भरमुक्तबाष्पकलुषे निश्वाससतान्तोऽधरः ।
बद्धोद्भेदविसंष्ठुलालकलता निर्वेदशून्यं मनः
कष्टं दुर्नयवेदिभिः कुसचिवैर्वत्सा दृढं खेद्यते ॥ ११३ ॥

आभिजात्यस्य यथा—

आलम्ब्य लम्बाः सरसाग्रवल्लीः
पिबन्ति यस्य स्तनभारनम्राः ।
स्रोतश्च्युतं शीकरकूणिताक्ष्यो
मन्दाकिनीनिर्झरमश्वमुख्यः ॥ ११४ ॥

एवं मध्यमं व्याख्याय तमेवोपसंहरति—अत्रेति । अत्रैतस्मिन् केचित् कतिपये सादरास्तदाश्रयेण काव्यं कुर्वन्ति । यस्मात् अरोचकिनः कमनीयवस्तुव्यसनिनः । कीदृशे चास्मिन्—छायावैचित्र्यरञ्जके कान्तिविचित्रभावाह्लादके ।

(शृङ्गार रस, दीपक अलङ्कार, ओजस्पर्शक पद, समास-रचना एवं पदो की व्यञ्जकता होने से यहाँ प्रसाद गुण का सौन्दर्य समुल्लसित है ।) मध्यम मार्ग के ही लावण्य गुण का उदाहरण जैसे—श्लोक 'तापसवत्सराज' (३।७६) ले लिया गया है—

गण्डस्थली प्रतिबिम्बित (चिह्नित) अँगुलियो के पोरो से हाथ पर रखकर सोने की सूचना देती है । नेत्र अतिशय बहाये गये आँसुओं से मलिन हो गये है और अधरोष्ठ निःश्वास वायु से सूख गये हैं । कोमल कचकलाप बन्धन (जूड़े) के खुल जाने के कारण अस्त-व्यस्त हो गये है और मन निर्वेद के कारण शून्य हो गया है (खाली-खाली है) कष्ट है कि दुर्नीति के जानकार (इन) कुमन्त्रियों से प्यारी वत्सा (वासवदत्ता) बहुत ही सतायी जा रही है ॥ ११३ ॥

(शब्द और अर्थ की रमणीयता, पदों की सुन्दर रचना, सविसर्गान्त पद एवं संयोगपूर्व ह्रस्व पदों के विधान से यहाँ लावण्य गुण की शोभा बन रही है) ।

आभिजात्य गुण का उदाहरण जैसे—

स्तनो के भार से झुकी हुई हरी-हरी विशाल लताओं के अग्रभाग का सहारा लेकर किन्नर-रमणियाँ निमीलित नेत्र जिस (पर्वत हिमालय) के प्रवाह से गिरते हुए गङ्गा के जलप्रतापों का पान करती है ॥ ११४ ॥

(श्रुतिसुखद, कोमलकान्तपदावली, मसृण एव कुछ-कुछ कठिन वर्णों से युक्त होने के कारण यहाँ आभिजात्य गुण सुतरा दर्शनीय है ।)

इस प्रकार से मध्यम मार्ग का गुणोदाहरणपूर्वक विवेचन कर उसी का उपसंहार करते हैं—अत्रेति से । यहाँ—इस (मध्यम मार्ग) मे कुछ—कतिपय ही (कविगण) सादर होते है—उस मार्ग के आश्रय से काव्य-रचना करते है । क्योंकि अरोचकी—कमनीय वस्तु के (वे कवि) व्यसनी होते हैं । किस प्रकार के इस मार्ग मे ?—सौन्दर्य की

कथम्—विदग्धनेपथ्यविधौ भुजङ्गा इव, अग्राम्यकल्पकल्पने नागरा यथा। सोऽपि छायावैचित्र्यरञ्जक एव।

अत्र गुणोदाहरणानि परिमितत्वात्प्रदर्शितानि, प्रतिपदं पुनश्छायावैचित्र्यं सहृदयैः स्वयमेवानुसर्तव्यम्। अनुसरणदिक्प्रदर्शनं पुनः क्रियते। यथा—मातृगुप्तमायुराजमञ्जीरप्रभृतीनां सौकुमार्यवैचित्र्यसंवलितपरिस्पन्दस्यन्दीनि काव्यानि सम्भवन्ति। तत्र मध्यममार्गसंवलितं स्वरूपं विचारणीयम्। एवं सहजसौकुमार्यसुभगानि कालिदाससर्वसेनादीनां काव्यानि दृश्यन्ते। तत्र सुकुमारमार्गस्वरूपं चर्चनीयम्। तथैव च विचित्रवक्रत्वविजृम्भितं हर्षचरिते प्राचुर्येण भट्टबाणस्य विभाव्यते, भवभूतिराजशेखरविरचितेषु बन्धसौन्दर्यसुभगेषु मुक्तकेषु परिदृश्यन्ते। तस्मात् सहृदयैः सर्वत्र सर्वमनुसर्तव्यम्। एवं मार्गत्रितयलक्षणं दिङ्मात्रमेव प्रदर्शितम्। न पुनः साकल्येन सत्कविकौशलप्रकाराणां केनचिदपि स्वरूपमभिधातुं पार्यते। मार्गेषु गुणानां समुदायधर्मता। यथा न केवलं शब्दादिधर्मत्वं तथा तल्लक्षणव्याख्यानावसर एव प्रतिपादितम् ॥४९-५२॥

विचित्रता से रञ्जक—कान्ति का जो विचित्र भाव उससे आह्लाद प्रदान करने वाला। कैसे ?—विदग्ध नेपथ्य की क्रिया मे भुजङ्गो की भाँति—अग्राम्य वेश-रचना मे नागर जनो की तरह। (क्योकि) वह (नागरजनो की वेश-रचना) भी शोभा की विचित्रता से आह्लाद प्रदान करने वाली होती ही है।

यहाँ गुणों के उदाहरण सक्षिप्ततया ही प्रदर्शित किये गये है, किन्तु प्रतिपद कान्ति की विचित्रता सहृदय जनो को स्वयं समझ लेनी चाहिए। (उसे अन्यत्र) अनुसरण करने की विधि का प्रदर्शन हम कर देते है। जैसे—मातृगुप्त, मायुराज तथा मञ्जीर आदि कवियों के सौकुमार्य एव वैचित्र्य मार्ग से मिश्रित स्वभावसमर्पक काव्य हो सकते है। वहाँ पर मध्यम मार्गयुक्त स्वरूप का विचार करना चाहिए। इसी प्रकार स्वाभाविक सौकुमार्य मार्ग से सुन्दर कालिदास सर्वसेन आदि कवियों के काव्य देखे जाते हैं। वहाँ पर सुकुमार मार्ग के स्वरूप की चर्चा की जानी चाहिए और उसी प्रकार बाणभट्ट के हर्षचरित मे विचित्र (मार्ग) की कान्ति का विजृम्भण बहुलता से देखा जाता है (साथ ही) भवभूति एव राजशेखर आदि से रचित रचना के सौन्दर्य से मनोहारी मुक्तको मे भी विचित्र की कान्ति का विजृम्भण पाया जाता है। इसलिए सहृदय जनों को सभी (कवियो की) रचनाओ मे समग्र मार्गों के गुण आदि के उदाहरणो का अनुसरण करना चाहिए। इस प्रकार (मैने) तीनो मार्गों के लक्षण संक्षेप मात्र ही दिखाये है, (न कि पूर्णरूप से दिखाये है)। क्योकि श्रेष्ठ कवियों के रचना-कौशल के प्रकारों का स्वरूप पूर्णतया किसी के भी द्वारा कहा जाना सभव नही है। गुणों की मार्गों मे समुदायधर्मता है (अर्थात् मार्गों मे गुणो की अवस्थिति सामान्यरूप से पदसमुदाय में ही होती है, न कि पृथक्-पृथक् रूप से शब्दो मे)। (गुणो की)

एवं प्रत्येकं प्रतिनियतगुणग्रामरमणीयं मार्गत्रितयं व्याख्याय साधारण-गुणस्वरूपव्याख्यानार्थमाह—

आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम् ॥ ५३ ॥

तदौचित्यं नाम गुणः। कीदृक्—आञ्जसेन सुस्पष्टेन स्वभावस्य पदार्थस्य महत्त्वमुत्कर्षो येन पोष्यते परिपोषं प्राप्यते। प्रकारेणेति प्रस्तुतत्वादभिधा-वैचित्र्यमत्र 'प्रकार'-शब्देनोच्यते। कीदृशम्-उचिताख्यानमुदाराभिधानं जीवितं परमार्थो यस्य तत्तथोक्तम्। एतदानुगुण्येनैव विभूषणविन्यासो विच्छित्तिमा-वहति। यथा—

करतलकलिताक्षमालयोः समुदितसाध्वससन्नहस्तयोः।
कृतरुचिरजटानिवेशयोरपर इवेश्वरयोः समागमः ॥ ११५ ॥

यथा वा—

उपगिरिपुरुहूतस्यैष सेनानिवेश-
स्तटमपरमितोऽद्रेस्त्वद्बलान्यावसन्तु ।

केवल शब्द आदि की धर्मता जैसे नही है उसे तो उन गुणो के लक्षण की व्याख्या के अवसर पर ही प्रतिपादित कर दिया गया था ॥ ४९–५२ ॥

प्रत्येक मे नियत गुणसमूहो से रमणीय एक-एक करके तीनो मार्गो की व्याख्या कर अब (उनके) साधारण गुण के स्वरूप का व्याख्यान करने के लिए कहते हैं—

(वर्णन की) स्पष्ट रीति से जहॉ स्वभाव का महत्त्व परिपुष्ट किया जाता है, उचित वर्णनस्वरूप प्राणयुक्त वह औचित्य गुण कहा जाता है ॥ ५३ ॥

वह औचित्य नाम का गुण है। कैसा ?—आञ्जस—सुस्पष्टरूप से, स्वभाव—पदार्थ का महत्त्व—उत्कर्ष जिसके द्वारा पुष्ट होता है—परिपोष को प्राप्त होता है। प्रकार पद से यहॉ अर्थ है—प्रस्तुत होने के कारण अभिधा का सौन्दर्य ही यहॉ 'प्रकार' शब्द से कहा गया है। कैसा है (औचित्य गुण) ?—उचित आख्यान—उदार वर्णन—जीवित—परमार्थ है जिसका तथोक्त। इसकी अनुकूलता से ही अलङ्कारो का विन्यास शोभा की सृष्टि करता है। (ध्यान देने की बात है कि, औचित्य का विचार आचार्य भरत से लेकर क्षेमेन्द्र की प्रस्थान-स्थापना तक और उसके बाद भी काव्यशास्त्र मे निरन्तर होता रहा है। कुन्तक का विवेचन क्षेमेन्द्र के लिए लाभकारी ही रहा है)।

औचित्य गुण का उदाहरण प्रस्तुत करते है। जैसे—(श्लोक तापस वत्सराज (३।८४) का ही है) हाथो मे अक्षमाला लिये हुए, उत्पन्न साध्वस (हड़बड़ी) से स्तब्ध हाथों वाले, सुन्दर जटाओ की संरचना किये हुए उन दोनो का सम्मिलन मानो दूसरे शिव पार्वती का ही (समागम) हुआ ॥ ११५ ॥

अथवा जैसे—(परस्पर विरुद्ध दो सेनाओं की मोर्चेबन्दी का वर्णन है) पर्वत के समीप यह इन्द्र की सेनाओ का वासस्थान है। यहॉ से पर्वत के दूसरे किनारे पर

ध्रुवमिह करिणस्ते दुर्धराः सन्निकर्षे
सुरगजमदलेखा सौरभं न क्षमन्ते ॥ ११६ ॥

यथा च—हे नागराज बहुधास्य नितम्बभागं
भोगेन गाढमभिवेष्ट्य मन्दराद्रेः।
सोढाविषह्यविषवाहनयोगलीला
पर्यङ्कबन्धनविधेस्तव कोऽतिभारः ॥ ११७ ॥

अत्र पूर्वोदाहरणयोर्भूषण गुणेनैव तद्गुण परितोषः, इतरत्र च स्वभावौदार्याभिधानेन ॥ ५३ ॥

औचित्यमेव छायान्तरेण स्वरूपमुन्मीलयति—

यत्र वक्तुः प्रमातुर्वा वाच्यं शोभातिशायिना।
आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते ॥ ५४ ॥

यत्र यस्मिन् वक्तुरभिधातुः प्रमातुर्वा श्रोतुर्वा स्वभावेन स्वपरिस्पन्देन वाच्यमभिधेयं वस्तु शोभातिशायिना रामणीयक मनोहरेण आच्छाद्यते संव्रियते तदप्यौचित्यमेवोच्यते। यथा—

तुम्हारी सेनाएँ निवास करे। (क्योकि) निश्चय ही तुम्हारे भयङ्कर हाथी (अपने प्रतिपक्षभूत) देवताओ के हाथियो की मदधार के सौरभ को सहन नही कर सकेगे ॥ ११६ ॥

अथवा तीसरा उदाहरण जैसे—

हे सर्पराज वासुकि ! इस मन्दराचल के नितम्ब (मध्य) प्रदेश को अपने शरीर से कसकर अनेक बार आवेष्टित कर लो। विष-वहन करने वाले भगवान शिव की योगलीला में असहनीय पर्यङ्कबन्धन (आसनबन्ध) की प्रक्रिया को सहन करने वाले तुम्हारे लिए यह कौन-सा महान् भार है ? ॥ ११७ ॥

यहाँ ऊपर के दोनों पूर्व उदाहरणो मे अलङ्करण के गुण से ही औचित्य के गुण की परितुष्टि हो रही है। प्रथम मे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है जिसके उपयुक्त ही 'करतलकलिताक्षमाल्योः' आदि उचित पदो का विनिवेश किया गया है और द्वितीय उदाहरण मे भी उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, अतिशयोक्ति आदि अलङ्कारो का समुचित विनिवेश होने से ही औचित्य गुण की परिपुष्टि हो रही है। और अन्यत्र तीसरे उदाहरण मे (शेषनाग आदि के) स्वभाव की उदारता के वर्णन से औचित्य का परिपोष हो रहा है ॥ ५३ ॥

औचित्यगुण का ही स्वरूप दूसरे सौन्दर्य को लेकर प्रस्तुत करते है—

जहाँ वक्ता या प्रमाता के शोभा के अतिशय से प्रशसा स्वभाव से वाच्य ही ढँक लिया जाता है वह भी औचित्य गुण ही कहा जाता है ॥ ५४ ॥

जहाँ—जिस (गुण) मे वक्ता कहने वाले या प्रमाता-श्रोता के शोभातिशययुक्त रमणीयता से मनोहर स्वभाव—अपने परिस्पन्द के द्वारा वाच्य-अभिधेय वस्तु आच्छादित कर ली जाती है—ढँक दी जाती है वह भी औचित्य ही कहा जाता है। उदाहरण

शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः॥ ११८॥

अत्र श्लाघ्यतया तथाविधमहाराजपरिस्पन्दे वर्ण्यमाने मुनिना स्वानुभावसिद्धव्यवहारानुसारेणालङ्करणयोजनमौचित्यपरिपोषमावहति। अत्र वक्तुः स्वभावेन च वाच्यपरिस्पन्दः संवृतप्रायो लक्ष्यते।

प्रमातुर्यथा—

निपीयमानस्तबकाशिलीमुखैरशोकयष्टिश्चलबालपल्लवा।
विडम्बयन्ती ददृशे वधूजनैरमन्ददष्टौष्ठकरावधूननम्॥ ११९॥

अत्र वधूजनैर्निजानुभववासनानुसारेण तथाविधशोभाभिरामतानुभूतिरौचित्यपरिपोषमावहति। यथा वा--

वापीतडे कुडुङ्गा पिअसहि ह्वाउं गएहिं दीसंति।
न धरंति करेण भणंति णत्ति वलिउॅ पुण ण देंति॥

जैसे (रघुवश का (५।१५) श्लोक है। विश्वजित् नामक यज्ञ मे सम्पूर्ण दानकर शरीरमात्र से अवस्थित रघु से गुरुदक्षिणार्थी कौत्स का कथन है)—

राजन् (रघु)! सत्पात्रो को अपनी समस्त सम्पत्ति दानकर शरीरमात्र से शेष आप वनवासियो से फल-फूल ले लिये जाने के बाद डण्ठलमात्र से अवशिष्ट नीवार की भॉति सुशोभित हो रहे है॥ ११८॥

यहॉ प्रशंसनीय होने के कारण उस प्रकार के महाराज रघु के स्वभाव का वर्णन किये जाने पर मुनि कौत्स के द्वारा उनके अपने अनुभव मे सिद्ध व्यवहार के अनुसार (उपमा) अलङ्कार की योजना औचित्य गुण का परिपोष करती है (उपमानो का प्रयोग लोग अपने अनुभव से ही करते है। कौत्स वनवासी मुनि है। नित्य-प्रति उनके व्यवहार मे नीवार आता है। उससे फल-फूल तोड़ते रहते है। उसके अवशिष्ट नीवार के डण्ठल का उन्हे पूरा बोध है। इसलिए समस्त दान कर शरीरमात्र से अवशिष्ट व्यक्ति के लिए एक वनवासी के द्वारा यह उपमा उचित ही है, औचित्य गुण का परिपोष करती है)। यहॉ पर वक्ता (कौत्स) के स्वभाव से वाच्य अभिधेय रघु का स्वभाव समावृतप्राय दीख पड़ता है। प्रमाता (के स्वभाव से वाक्य का सवरणरूप) औचित्य जैसे—

भ्रमर-समूहो से छककर पीयी जाती हुई पुष्प-गुच्छो वाली तथा हिलते हुए अभिनव किसलयो से युक्त अशोक लता को कामिनीवृन्द ने कसकर काटे गये होठो वाली अतएव हस्तकम्पन्नयुक्त (रमणी का) अनुकरण करती हुई सी देखा॥ ११९॥

यहॉ पर वधूजनो ने अपने अनुभव के संस्कार के अनुसार ही उस प्रकार की रमणीयता की अनुभूति (अशोक लता में भी की है)। (इस प्रकार यह) औचित्य का परिपोष करती है। अथवा जैसे—

मुग्धा की उक्ति है—प्यारी सखि! स्नान करने गये लोगो के द्वारा बावड़ी के

वापीतटे कुरङ्गाः प्रिय सखि स्नातुं गतैर्दृश्यन्ते ।
न धरन्ति करेण भणन्ति नेति वलितुं पुनर्न ददन्ति ।। १२० ।। इतिच्छाया ।।

अत्र कस्याश्चित्प्रभातभूतायाः सातिशयमौग्ध्यपरिस्पन्दसुन्दरेण स्वभावेन वाच्यमाच्छादितमौचित्यपरिपोषमावहति ।

एवमौचित्यमभिधाय सौभाग्यमभिधत्ते—

इत्युपादेयवर्गेऽस्मिन्यदर्थं प्रतिभा कवेः ।
सम्यक् संरभते तस्य गुणः सौभाग्यमुच्यते ।।५५।।

इत्येवंविधेऽस्मिन्नुपादेयवर्गे शब्दाद्युपेयसमूहे यदर्थं यन्निमित्तं कवेः सम्बन्धिनी प्रतिभा शक्तिः सम्यक् सावधानतया संरभते व्यवस्यति तस्य वस्तुनः प्रस्तुतत्वात् काव्याभिधानस्य यो गुणः स सौभाग्यमित्युच्यते भण्यते ।। ५५ ।।

तच्च न प्रतिभा संरम्भमात्रसाध्यम्, किन्तु तद्विहितसमस्तसामग्री-सम्पाद्यमित्याह—

सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सरसात्मनाम् ।
अलौकिकचमत्कारकारिकाव्यैक जीवितम् ।। ५६ ।।

किनारे , ऐसे) मृग देखे जाते है जो न तो हाथ से पकड़े जाते है, न बोलते हैं और न ही घूमकर आने देते है ।। १२० ।।

यहाँ पर प्रमातृ भूत (सुनने वाली) किसी युवती के अतिशय मुग्धता के धर्म से सुन्दर स्वभाव के द्वारा वाच्य को आच्छादित कर दिया गया है (मुग्धा नायिका होने के कारण) औचित्य का परिपोष हो रहा है । (वस्तुतः यहाँ वक्ता के कथन से भी औचित्य का परिपोष है) ।

वस्तुतः उक्त रचना मे व्यंग्यार्थ प्रधान है । कुन्तक का अभिप्राय इसी मे है ।।५४।।

इस प्रकार औचित्य का अभिधान कर (अन्य सामान्य गुण) सौभाग्य का विवेचन करते है—

इस प्रकार इस उपादेय वर्ग मे जिस वस्तु के लिए कवि की प्रतिभा सम्यग्रूप से प्रयुक्त होती है उसका गुण सौभाग्य कहा जाता है ।। ५५ ।।

इस प्रकार इस प्रकार के इस उपादेय वर्ग मे—शब्द आदि उपादेय समूह मे जिसके लिए—जिसके निमित्त कवि की—कवि-सम्बन्धिनी प्रतिभा-शक्ति सम्यग्रूप से सावधानभाव से सम्प्रयुक्त होती है—व्यापार मे प्रयुक्त होती है—उस वस्तु का—(प्रकरणतया) प्रस्तुत होने के कारण काव्य नाम वाले (उस पदार्थ का) जो गुण होता है, वह सौभाग्य कहा जाता है—भणित होता है ।

और वह (सौभाग्य) मात्र प्रतिभा के व्यवसाय से ही साध्य नहीं होता किन्तु उस (काव्य) के लिए बताये गये (प्रतिभा-व्युत्पत्ति आदि) समस्त सामग्री से ही सपादनीय होता है । इसी को कहते है—

(काव्योपयोगी) समग्र सामग्री के परिस्पन्द से संपादनयोग्य तथा रसयुक्त चित्त

सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सर्वस्योपादेयराशेर्या सम्पत्तिरनवद्यताकाष्ठा तस्याः परिस्पन्दः स्फुरितत्वं तेन सम्पाद्य निष्पादनीयम्। अन्यच्च कीदृशम्-सरसात्मनामार्द्रचेतसामलौकिकचमत्कारकारि लोकोत्तराह्लादविधायि। किं बहुना, तच्च काव्यैकजीवितं काव्यस्य परः परमार्थ इत्यर्थः। यथा—

दोर्मूलावधिसूत्रितस्तनमुरः स्निह्यत्कटाक्षे दृशौ
किंञ्चित्ताण्डवपण्डिते स्मितसुधासिक्तोक्तिषु भ्रूलते।
चेतः कन्दलितं स्मरव्यतिकरैर्लावण्यमङ्गैर्वृतं
तन्वङ्ग्यास्तरुणिम्नि सर्पतिशनैरन्यैव काचिल्लिपिः ॥१२१॥

तन्व्याः प्रथमतारुण्येऽवतीर्णे, आकारस्य चेतसश्चेष्टायाश्च वैचित्र्यमत्र वर्णितम्। तत्र सूत्रितस्तनमुरो लावण्यमङ्गैर्वृतमित्याकारस्य, स्मरव्यतिकरैः कन्दलितमिति चेतसः, स्निह्यत्कटाक्षे दृशाविति किञ्चित्ताण्डवपण्डिते स्मितसुधासिक्तोक्तिषु भ्रूलते इति चेष्टायाश्च। सूत्रित-सिक्त-ताण्डव-

---

(सहृदय) जनों को अलौकिक चमत्कार प्रदान करने वाला काव्य का प्रधान-प्राणभूत (सौभाग्य गुण होता है) ॥ ५६ ॥

समस्त सम्पत्ति के परिस्पन्द से सपाद्य—(काव्य के लिए) उपादेय समस्त राशि (शक्ति-व्युत्पत्ति आदि) की जो सम्पत्ति—अनवद्यता (रमणीयता) की चरम सीमा, उसका परिस्पन्द स्फुरितत्व, उससे संपाद्य—निष्पादनयोग्य होता है (सौभाग्य गुण)। और वह कैसा होता है ?—सरस आत्मा वाले—आर्द्र चित्त वाले लोगों को अलौकिक चमत्कारकारी—लोकोत्तर आह्लाद प्रदान करने वाला। अधिक से क्या, और वह काव्य का एकमात्र जीवन—काव्य का सर्वोत्कृष्ट परमार्थ है, यह अर्थ है। जैसे—(हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन मे इसे उद्धृत किया है। सुन्दर रमणी का वर्णन है—) कृशाङ्गी (इस प्रकार युवती के शरीर मे) तरुणिमा के धीरे-धीरे पदार्पण करने पर अपूर्व कोई और ही (सौन्दर्य) रचना दिखाई पड़ती है। वक्षस्थल भुजाओ के मूल तक स्तनो से बँधा हुआ है। नेत्र प्रेमपूर्ण कटाक्ष से युक्त हो गये है। मुस्कराहट के अमृत से गीली उसकी उक्तियो मे भौहे कुछ अपूर्व ताण्डव (वकिमता) मे विदग्ध हो गयी है। काम की विशेष अवस्थाओ से चित्त अंकुरित (पुलकित) हो गया है और अङ्गों ने अपूर्व लावण्य वरण कर लिया है ॥ १२१ ॥

यहाँ युवावस्था के प्रथम अवतार होने पर कृशाङ्गी नायिका के आकार, चित्त एवं चेष्टा का वैचित्र्य वर्णित हुआ है। उसमे भी 'वक्षस्थल स्तनो से बँधा हुआ है', 'अङ्गों ने लावण्य का वरण कर लिया है', इस प्रकार से आकार का - 'काम की विशेष अवस्थाओं से मन कन्दलित हो गया है' इस प्रकार से चित्त की एवं 'प्रेमपूर्ण कटाक्ष से युक्त दोनों नेत्र', 'मुस्कान की अमृत-लहरी से आर्द्र कथनो में किसी अपूर्व ताण्डव की विदग्ध भौहे है' इस प्रकार से चेष्टा का (वैचित्र्य वर्णित है)। सूत्रित सिक्त-ताण्डव-पण्डित एवं कन्दलित पदो की उपचारवक्रता (भी यहाँ) यहाँ दिखायी पड़ती है। 'स्निह्यत्'

पण्डित-कन्दलितानामुपचारवक्रत्वं लक्ष्यते, स्निह्यदित्येतस्य कालविशेषावेदकः प्रत्ययवक्रभावः, अन्यैव काचिदवर्णनीयेति संवृतिवक्रताविच्छित्तिः, अङ्गैर्वृतमिति कारकवक्रत्वम्। विचित्रमार्गविषयो लावण्यगुणातिरेकः। तदेवमेतस्मिन् प्रतिभा संरम्भजनितसकलसामग्री समुन्मीलितं सरसहृदयाह्लादकारि किमपि सौभाग्यं समुद्भासते ॥ ५६ ॥

अनन्तरोक्तस्य गुणद्वयस्य विषयं प्रदर्शयति—

एतत्त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम्।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते ॥ ५७ ॥

एतद् गुणद्वितीयमौचित्यसौभाग्याभिधानम् उज्ज्वलमतीव भ्राजिष्णुपदवाक्यप्रबन्धानां त्रयाणामपि व्यापकत्वेन वर्तते सकलावयवव्याप्त्यावतिष्ठते। क्वेत्याह—त्रिष्वपि मार्गेषु सुकुमारविचित्रमध्यमाख्येषु। तत्र पदस्य तावदौचित्यं बहुविधभेदभिन्नो वक्रभावः। स्वभावस्याञ्जसेन प्रकारेण परिपोषणमेव वक्रतायाः परं रहस्यम्। उचिताभिधानजीवितत्वाद् वाक्यस्याप्येकदेशेऽप्यौचित्यविरहात्तद्विदाह्लादकारित्वहानिः। यथा रघुवंशे—

इस पद की, कालविशेष (वर्तमान) को बताने वाली (शतृ) प्रत्यय गत वक्रता है। अन्यैव—(पद जिसका अर्थ) कोई अवर्णनीय—मे इस प्रकार सवृत्तिवक्रता की शोभा है। अङ्गो से वरण किया गया है, इस प्रकार (तृतीया विभक्ति से होने के कारण) कारकवक्रता है। (इस प्रकार पूरे श्लोक मे) विचित्र मार्ग के विपय लावण्यगुण का अतिरेक है। इसलिए इस प्रकार इस श्लोक मे प्रतिभा के व्यापार से उत्पन्न, समग्र-सामग्री (व्युत्पत्ति-वक्रत्वादि) से सम्यक् उन्मीलित रसयुक्त हृदय-सहृदयों को आह्लाद प्रदान करने वाला अनिर्वचनीय सौभाग्य गुण समुद्भासित हो रहा है ॥ ५६ ॥

अभी-अभी कहे गये दोनो गुण (औचित्य एवं सौभाग्य) का विषय प्रदर्शित करते है—

पद, वाक्य एवं प्रबन्धो के तीन ही मार्गो (सुकुमार, विचित्र एवं मध्यम) मे अत्यन्त दीप्यमान ये दोनो (औचित्य-सौभाग्य) गुण व्यापकरूप से वर्तमान रहते है ॥ ५७ ॥

यह गुण द्वितीय—औचित्य एव सौभाग्य नाम वाला, उज्ज्वल—अत्यन्त दीप्यमान्, पद, वाक्य एव प्रबन्धो तीनो मे ही व्यापकरूप से वर्तमान रहते है। अर्थात् (काव्य के) समस्त अवयवों मे व्याप्तिपूर्वक उपस्थित रहते हैं। कहाँ?—इस पर कहते है—सुकुमार, विचित्र एवं मध्यम नामक तीनो ही मार्गो मे (रहते है)। (अब पद, वाक्य एवं प्रबन्ध की क्रमशः औचित्ययुक्तता तथा सौभाग्यभागिता को बताने के लिए आगे कहते हैं)। उसमे भी तो पहले पद का जो औचित्य है वह अनेक भेदों से भिन्न (अनेक प्रकार का) वक्रभाव है। स्पष्टरूप से स्वभाव का परिपोष ही वक्रता का परम लक्ष्य है। उचित वर्णन या कथन ही (वक्रता का) प्राण है, इसलिए

पुरं निषादाधिपतेस्तदेतद्यस्मिन्मया मौलिमणिं विहाय।
जटासु बद्धस्वरुदत्सुमन्त्रः कैकेयि कामाः फलितास्तवेति ॥१२२॥

अत्र रघुपतेरनर्घमहापुरुषसम्पदुपेतत्वेन वर्ण्यमानस्य 'कैकेयि कामाः फलितास्तव' इत्येवंविधतुच्छतरपदार्थसंस्मरणं तदभिधानं चात्यन्तमनौचित्यमावहति।

प्रबन्धस्यापि क्वचित्प्रकरणैकदेशेऽप्यौचित्यविरहादेकदेशदाहदूषितदग्धपटप्रायता प्रसज्यते। यथा—रघुवंशे एव दिलीपसिंहसंवादावसरे—

अथैकधेनोरपराधचण्डाद् गुरोः कृशानुप्रतिमाद्बिभेषि।
शक्योऽस्य मन्युर्भवतापि जेतुं गाः कोटिशः स्पर्शतया घटोघ्नीः ॥१२३॥

इति सिंहस्याभिधातुमुचितमेव, राजोपहासपरत्वेनाभिधीयिमानत्वात्। राज्ञः पुनरस्य निजयशः परिरक्षणपरत्वेन तृणवल्लघुवृत्तयः प्राणाः प्रतिभासन्ते। तस्यैतत्पूर्वपक्षोत्तरत्वेन—

वाक्य के भी एक देश मे औचित्य का अभाव होने से काव्यमर्मज्ञ की आह्लादकारिता की हानि होती है। जैसे-रघुवश (१३।५९) का श्लोक है। (लङ्का से लौटते राम के द्वारा सीता को उन-उन अनुभूत प्रदेशो का दर्शन-स्मरण कराया जा रहा। निषादराज के स्थान के विपय मे बता रहे है—)

यह वही निषादराज गुह का नगर है जहॉ मेरे द्वारा शिरोभूपण का परित्याग कर जटाओ को बॉध लेने पर सुमन्त्र ने, 'कैकेयि, तुम्हारे मनोरथ सफल हो गये' (ऐसा कहते हुए) रुदन किया था ॥ १२२ ॥

अप्रतिम महापुरुप की महिमा से युक्त होने के कारण यहॉ रघुपति श्रीरामचन्द्रजी के द्वारा वर्णन किया जाता हुआ, 'कैकेयि, तुम्हारे मनोरथ सफल हो गये' इस प्रकार का अतिशय तुच्छ वस्तु का सम्यक् स्मरण और उसका कथन अतिशय अनौचित्य की सृष्टि करता है।

प्रकरण के किसी एक अश मे भी औचित्य का अभाव होने से—एक भाग मे अग्नि के द्वारा जल जाने से दूषित दग्ध वस्त्र के दूपण के समान—प्रबन्ध मे भी दूषणता प्रसक्त हो जाती है। जैसे रघुवंश मे ही (२।४९) सिह और दिलीप के संवाद के समय पर। (सिह की उक्ति है राजा दिलीप से—(राजन्!) एक ही गाय के निकट (विनष्ट हो जाने रूप) अपराध से कुछ अग्नि-सरीखे गुरु वसिष्ठ से यदि आप डरते है (तो उन्हे तुष्ट करने के लिए) घड़ो के समान स्तनो वाले करोड़ो गाये देकर आप भी उनके क्रोध को जीत सकते है (शान्त कर सकते है, एक गाय के लिए क्या प्राण गॅवाते हैं आप)॥ १२३ ॥

उक्त प्रकार से सिह के द्वारा कहा जाना तो उचित ही है क्योकि (यह बात उसके द्वारा) राजा से उपहास के रूप मे कही जा रही है। किन्तु इन राजा दिलीप को तो

कथञ्च शक्योऽनुनयोमहर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम्
इमां तनूजां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृत त्वयाऽस्याम् ॥१२४॥

इत्यन्यासां गवां तत्प्रतिवस्तुप्रदानयोग्यता यदिकदाचित्सम्भवति ततस्तस्य मुनेर्मम चोभयोरप्येतज्जीवितपरिरक्षणनैरपेक्ष्यमुपपन्नमिति तात्पर्यपर्यवसानादत्यन्तमनौचित्ययुक्तेयमुक्तिः। यथा च कुमारसम्भवे त्रैलोक्याक्रान्तिप्रवणपराक्रमस्य तारकाख्यस्य रिपोर्जिगीषावसरे सुरपतिर्मन्मथेनाभिधीयते—

कामेकपत्नीं व्रतदुःखशीलां लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टाम्।
नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलज्जां कण्ठे स्वयं ग्राहनिषक्तबाहुम् ॥१२५॥

इत्यविनयानुष्ठाननिष्ठं त्रिविष्टपाधिपत्यप्रतिष्ठितस्यापि तथाविधाभिप्राया-

---

अपने यश की रक्षा मे तत्पर होने के कारण और सब प्राणी तो तृण के समान तुच्छ-वृत्ति लगते है। इसी पूर्वपक्ष कथन के उत्तर के रूप मे उन राजा की यह उक्ति—

(इस नन्दिनी के बदले) अन्य गायो को दे देने पर भी महर्षि (वसिष्ठ) का (क्रोध शान्तिरूप) अनुनय किया जाना कैसे सम्भव हो सकता है ! इसे तुम सुरभी (कामधेनु) की पुत्री समझो। तुमने भी तो इस भगवान् रुद्र के प्रभाव से ही (अपने) अधिकार मे कर लिया है। (यह मामूली गाय नही है और न मामूली लोग इस पर अधिकार ही कर सकते है) ॥ १२४ ॥

इस प्रकार राजा दिलीप के इस कथन से कि यदि कही दूसरी गायो मे उस (नन्दिनी) के समान वस्तुरूप अर्थ प्रदान की योग्यता सम्भव हो पाती (अर्थात् नन्दिनी के समान कोई और गाये विनिमययोग्य होती) तो मुनि (वसिष्ठ) तथा मेरी दोनो की ही इसके जीवन की परीक्षा के प्रति उदासीनता उपयुक्त होती (किन्तु चूँकि संसार मे नन्दिनी के समान कोई और गाय नही है जिसे देकर मै गुरु वसिष्ठ को तुष्ट कर सकूँ। यदि ऐसा होता तो न ता मै इसके जीवन-रक्षा की उतनी आवश्यकता समझता और न मेरे गुरु ही इसके प्रति इतने आग्रहयुक्त होते और कर्त्तव्य-पालन की बात भी मै त्याग देता)। इस प्रकार के तात्पर्य मे पर्यवसान होने के कारण यह (दिलीप का कथन) अत्यन्त अनौचित्ययुक्त है (अतः एकदेश मे अनौचित्य होने से दग्धपटवत् दोषावह है)।

और जैसे कुमारसंभव के इस श्लोक (३।७) मे तीनो लोकों मे आक्रमण करने मे प्रवण पराक्रम वाले तारकासुर नाम शत्रु के विजित करने की अभिलाषा के समय देवेन्द्र इन्द्र से कामदेव का यह कहा जाना है—

एकमात्र पतिपरायणा तथा पातिव्रत धर्म का निरन्तर प्रतिपालन करते रहने के कारण कठिन स्वभाववाली किन्तु सुन्दर होने के कारण (आप के) तरल मन मे समायी हुई किस सुन्दर नितम्बो वाली को—जो त्यक्त-लज्जा होकर अपने आप (आपके) गले हाथ डाले हुई हो जाय—ऐसी चाहते हो ? ॥ १२५ ॥

इस प्रकार यहाँ त्रैलोक्य के भी अधीश्वर-पद पर वर्तमान इन्द्र के लिए उस

नुवर्तनपरत्वेनाभिधीयमानमनौचित्यमावहति। एतच्चैतस्यैव कवेः सहजसौकुमार्यमुद्रितसूक्तिपरिस्पन्दसौन्दर्यस्य पर्यालोच्यते, न पुनरन्येषामाहार्यमात्रकाव्यकरणकौशलश्लाघिनाम्। सौभाग्यमपि पदवाक्यप्रकरणप्रबन्धानां प्रत्येकमनेकाकारकमनीयकारणकलापकलितरामणीयकानां किमपि सहृदयहृदयसंवेद्यं काव्यैकजीवितमलौकिकचमत्कारकारि संवलितानेकरसास्वादसुन्दरं सकलावयवव्यापकत्वेन काव्यस्य गुणन्तरं परिस्फुरतीन्यलमति प्रसङ्गेन ॥ ५७ ॥

इदनीमेतदुपसंहृत्यान्यदवतारयति—

मार्गाणां त्रितयं तदेतदसकृत् प्राप्तव्यपर्युत्सुकैः
क्षुण्णं कैरपि यत्र कामपि भुवं प्राप्य प्रसिद्धिं गताः।
सर्वे स्वैरविहारहारिकवयो यास्यन्ति येनाधुना
तस्मिन्कोऽपि स साधु सुन्दरपदन्यासक्रमः कथ्यते ॥ ५८ ॥

प्रकार (किसी पतिव्रता स्त्री के पातिव्रत का विनाश कर उसकी ग्रहणशीलता) के अभिप्राय के अनुपालन के रूप मे (काम के द्वारा) कहा जाता हुआ वाक्य, अविनय के आचारण से परिपूर्ण है, इस प्रकार बडा ही अनौचित्य पैदा करता है। और यह (अनौचित्यरूप यह दोष) इसी कवि (कालिदास) की स्वाभाविक (प्रतिभासभूत) सौकुमार्य (मार्ग) निबन्धित सूक्तियो के परिस्पन्द के सौन्दर्य की ही पर्यालोचना की जा रही है, न कि फिर अन्य (कवियो की सूक्तियों के सौन्दर्य की आलोचना) जो कि आहार्यमात्र (व्युत्पत्तिमात्र) से काव्य-रचना की कुशलता की प्रशंसा प्राप्त करने वाले होते है, (उनकी पर्यालोचना करने पर तो अनुपद अनौचित्य मिल जायेगा, जबकि कविकुलगुरु की यह अवस्था है जो सुकुमार मार्ग के धनी और प्रतिभाजन्य रचना के कवि हैं, तो औरो की बात ही क्या ?) ।

एक-एक के अनेक (विभिन्न) स्वरूप की कमनीय कारण सामग्री से रमणीयता को धारण करने वाले पद, वाक्य, प्रकरण एवं प्रबन्ध का समस्त अवयवो मे व्याप्त होने के कारण काव्य का जो दूसरा सामान्य गुण सौभाग्य है वह भी परिस्फुरित होता है। वह कुछ अनिर्वचनीय अलौकिक, सहृदय हृदय संवेद्य, काव्य का एकमात्र प्राण, अलौकिक चमत्कार का आधायक तथा अनेक रसो के आस्वाद सयुक्त होने कारण सुन्दर होता है। इस प्रकार इस विषय के अधिक विस्तार से जानने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

अब इस समय इस (औचित्य आदि) विषय का उपसहार कर अन्य विषय (आगे के द्वितीय उन्मेष मे कहे जाने वाले विषय) की अवतारणा करते है—

अभीष्ट प्रयोजन की प्राप्ति के लिए हर तरह से उत्सुक किन्ही महाकवियो के ही द्वारा यह मार्गत्रितय बार-बार अनुगमित हुआ है। जिस मार्ग पर चलकर अलौकिक प्रतिष्ठा को प्राप्त कर वे ख्याति को प्राप्त हुए है उस मार्गत्रयी मे जिससे (भविष्य मे

मार्गाणां सुकुमारादीनामेतत् त्रितयं कैरपि महाकविभिरेव न सामान्यैः, प्राप्तव्यपर्युत्सुकैः प्राप्योत्कण्ठितैरसकृत् बहुवारमभ्यासेन क्षुण्णं परिगमितम्। यत्र यस्मिन् मार्गत्रये कामपि भुवं प्राप्य प्रसिद्धिं गताः, लोकोत्तरां भूमिमासाद्य प्रतीतिं प्राप्ताः। इदानीं सर्वे स्वैरविहारहारिणः स्वेच्छाविहरणरमणीयाः कवयस्तस्मिन् मार्गत्रितये येन यास्यन्ति गमिष्यन्ति स कोऽपि अलौकिकः सुन्दरपदन्यासक्रमः साधुशोभनं कृत्वा कथ्यते। सुभग-सुप्-तिङ्-समर्पणपरिपाटी विन्यासो वर्ण्यते। मार्ग-स्वैरविहार-पदप्रभृतयः शब्दाः श्लेषच्छायाविशिष्टत्वेन व्याख्येयाः ॥ ५८ ॥

॥ इति श्रीराजनककुन्तकविरचिते वक्रोक्तिजीविते
काव्यालङ्कारे प्रथमउन्मेषः ॥

भी) स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण से रमणीय सभी कविगण काव्य-यात्रा करेंगे, उस किसी अलौकिक सुन्दर पदक्रम को अब आगे शोभन ढग से कहा जा रहा है ॥ ५८ ॥

मार्गों का सुकुमार (आदि विचित्र-मध्यम) का यह त्रितय किन्ही—महाकवियो से ही, न कि सामान्य कवियों से, प्राप्तव्य के पर्युत्सुक—प्राप्य प्रयोजन के उत्कण्ठितो से अनेक बार अभ्यासपूर्वक परिगमित हुआ है। जहाँ—जिस मार्गत्रयी मे (वे) किसी अपूर्व भूमि को प्राप्त कर प्रसिद्धि को पहुँच गये। अर्थात् लोकोत्तर भूमि (आधार—प्रतिष्ठा) को प्राप्त कर ख्याति को प्राप्त हुए। इस समय, सभी स्वतन्त्रतापूर्वक विहार करने के कारण हृदयहारी—स्वेच्छापूर्वक विहार (काव्ययात्रा) करने से रमणीय कविगण उस मार्गत्रितय मे जिसके माध्यम से जायेंगे, वह कोई अलौकिक ही सुन्दर पदो के विन्यास का क्रम साधु-सुन्दर बनाकर कहा जा रहा है अर्थात् सुन्दर सुप्-तिङ् को समर्पित करने वाली पद्धतिपूर्वक विन्यास का विवेचन किया जा रहा है। मार्ग-स्वैरविहार तथा पद आदि शब्दो की इस श्लोक मे श्लेष अलङ्कार की कान्ति के वैशिष्ट्य से ही व्याख्या की जानी चाहिए।

श्री राजानक कुन्तक द्वारा विरचित काव्य के अलङ्कार वक्रोक्तिजीवित ग्रन्थ मे प्रथम उन्मेष परिसमाप्त हुआ।

———

द्वितीयोन्मेषः

सर्वत्रैव सामान्यलक्षणे विहिते विशेषलक्षणं विधातव्यमिति काव्यस्य "शब्दार्थौ सहितौ" इत्यादि (१।७) सामान्यलक्षणं विधाय तदवयवभूतयोः शब्दार्थयोः साहित्यस्य प्रथमोन्मेष एव विशेषलक्षणं विहितम्। इदानीं प्रथमोद्दिष्टस्य वर्णविन्यासवक्रत्वस्य विशेषलक्षणमुपक्रमते—

एको द्वौ बहवो वर्णा बध्यमाना पुनः पुनः।
स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यासवक्रता ॥ १ ॥

वर्णशब्दोऽत्र व्यञ्जनपर्यायः, तथा प्रसिद्धत्वात्। तेन सा वर्णविन्यासवक्रता व्यञ्जनविन्यासनविच्छित्तिः त्रिधा त्रिभिः प्रकारैरुक्ता वर्णिता। के पुनस्ते त्रयः प्रकारा इत्युच्यते—एकः केवल एव, कदाचिद् द्वौ बहवो वा वर्णाः पुनः पुनर्बध्यमाना योज्यमानाः। कीदृशाः—स्वल्पान्तराः। स्वल्पं स्तोक-

---

प्रथम उन्मेष मे वक्रता के छः प्रकारों का उल्लेख करते हुए उनके सामान्य लक्षण एव उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। इस द्वितीय उन्मेष मे उन छः प्रकार के वक्रत्व का विशेष लक्षण करना है। उसी की भूमिका अवतरित करते हुए आचार्य कुन्तक कहते हैं—सर्वत्रैवेत्यादि।

सर्वत्र (सभी ग्रन्थ आदि मे किसी वस्तु का) सामान्य लक्षण किये जाने के बाद (उसका) विशेष लक्षण करना चाहिए। इसलिए (प्रथमोन्मेप की कारिका १।७) 'शब्दार्थौ सहितौ' इत्यादि से काव्य का सामान्य लक्षण करके उसके अवयवभूत शब्द और अर्थ के साहित्य (सहभाव) का लक्षण प्रथम उन्मेष मे ही कर दिया गया है। इस समय (इस द्वितीय उन्मेष के प्रारम्भ मे प्रथम उन्मेष की १९वी कारिका द्वारा) उद्दिष्ट (षड्विध वक्रत्व प्रकारो मे से प्रथम प्रकार) वर्ण-विन्यास-वक्रता का विशेष-लक्षण प्रस्तुत कर रहे हैं—

(जहाँ पर) थोड़े-थोड़े अन्तर से एक-दो अथवा अनेक वर्ण पुनः-पुनः निबन्धित किये जाते है, तीन प्रकार की वह (वक्रता) 'वर्ण-विन्यास-वक्रता' कही गयी है ॥ १ ॥

यहाँ (इस कारिका मे) वर्ण शब्द, व्यञ्जन का पर्याय रूप है। क्योकि ऐसा ही प्रसिद्ध है (काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों मे)। इसलिए वर्णविन्यासवक्रता—वर्णों के विशेष विन्यास का सौन्दर्य त्रिधा—तीन प्रकारो से कहा गया है। वे तीनों प्रकार फिर हैं कौन ? इस पर कहा जा रहा है—एक -इत्यादि। केवल एक ही, और कभी दो अथवा बहुत से वर्ण बार-बार निबन्धित किये जाते हुए—संयुक्त किये जाते हुए (होते है)। किस प्रकार के ?—स्वल्प अन्तरयुक्त। स्वल्प—बिलकुल कम, अन्तर—व्यवधान है जिनमें

मन्तरं व्यवधानं येषां ते तथोक्ताः। त एव त्रयः प्रकारा इत्युच्यन्ते। अत्र वीप्साया पुन पुनरित्ययोगव्यवच्छेदपरत्वेन नियमः, नान्ययोगव्यवच्छेद्-परत्वेन। तस्मात् पुनः पुनर्बध्यमाना एव, न तु पुनः पुनरेव बध्यमानाइति।

तत्रैकव्यञ्जननिबद्धोदाहरणं यथा—

धम्मिल्लो विनिवेशिताल्पकुसुमः सौन्दर्यधुर्यं स्मितं
विन्यासो वचसां विदग्धमधुरः कण्ठे कलः पञ्चमः।
लीलामन्थरतारके च नयने यातं विलासालसं
कोऽप्येवं हरिणीदृशः स्मरशरापातावदातः क्रमः॥ १॥

वे उस प्रकार के (निबन्धित किये गये) वर्ण (वर्णविन्यासवक्रता के समर्थक होते हैं और) वे ही तीन प्रकार ऐसा कहे जाते है। यहाँ पर अभ्यासरूप प्रयुक्त पुन-पुन इस (द्विरुक्ति) का अयोगव्यवच्छेदपरक के रूप मे नियम (विधान) किया गया है न कि अन्ययोगव्यवच्छेदपरक के रूप मे। इसलिए (यहाँ पुनः-पुनः बध्यमाना से तात्पर्य है) बार-बार निबन्धित किये जाते हुए ही वर्ण (वर्णविन्यासवक्रता के सूचक हो सकते है), न कि बार-बार ही निबध्यमान वर्ण। यहाँ ध्यान देने की बात है कि कुन्तक ने कारिका मे 'एव' का उपादान नही किया है किन्तु वृत्ति मे उन्होने 'एव' पद प्रस्तुत कर दिया है। 'एव' पद किसी वस्तु का अन्य से व्यवच्छेदक होता है। उसके त्रिविध रूप कहे गये हैं—

'अयोगमन्ययोगञ्चात्यन्तायोगमेव च।
व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारास्त्रिधा मतः॥'

(१) अयोगव्यवच्छेदपरक, (२) अन्ययोगव्यवच्छेदपरक एवं (३) अत्यन्ता-योगव्यवच्छेदपरक 'एवकार' का प्रयोग होता है। यहाँ वृत्तिकार ने 'पुनः पुनर्बध्य-माना.' मे प्रयुक्त वीप्सा के लिए प्रथम दो का उल्लेख किया है और कहा है कि 'पुनः पुन' इस द्विरुक्ति मे अयोगव्यवच्छेदपरक नियम है न कि अन्ययोगव्यवच्छेदपरक। विशेषणसङ्गतस्त्वेवकारो अयोगव्यवच्छेदक—विशेषणसहित प्रयुक्त 'एव' अयोग-व्यवच्छेदक होता है। उदाहरणार्थ 'देवदत्तः पीन एव' को ले सकते है। विशेषण 'पीन' सङ्गत 'एव' इस अर्थ को व्यक्त करता है कि देवदत्त मे पीनत्व का अयोगव्यवच्छेद (सम्बन्धाभाव नही) है। 'देवदत्त मोटा ही है' इसका नियमन हो जाता है अर्थात् देवदत्त के साथ पीनता का योग अवश्य है। इसी प्रकार वीप्सा मे प्रयुक्त उक्त कारिका मे 'पुन. पुन. बध्यमाना (एव)' मे एव पद अयोगव्यवच्छेदपरक अर्थ का विधान करता है और अर्थ होता है कि बार-बार निबद्धयमान ही वर्ण वर्णविन्यासवक्रता के उपपादक होते है। इसी प्रकार जब विशेष्य के साथ 'एव' का प्रयोग होता है तो वहाँ वह अन्ययोगव्यच्छेद का नियामक होता है। जैसे उक्त उदाहरण मे ही कहा जाय 'देवदत्तः एव पीन.' देवदत्त ही मोटा है। यहाँ 'एव' पद विशेष्य देवदत्त के साथ आया है जो यह व्यक्त करता है कि देवदत्त ही मोटा है और कोई नही। इस प्रकार यहाँ

एकस्य द्वयोर्बहूनां चोदाहरणं यथा—

भग्नैलावल्लरीकास्तरलितकदलीस्तम्बताम्बूलजम्बू-
जम्बीरास्तालतालीसरलतरलता लासिका यस्य जह्नुः।
वेल्लत्कल्लोलहेला बिसकलनजडाः कूलकच्छेषु सिन्धोः
सेनासीमन्तिनीनामनवरतरताभ्यासतान्ति समीराः ॥ २ ॥

एव पद देवदत्त के पीनत्व को अन्य से अलग करता है। यहाँ एव अन्ययोगव्यच्छेद-परक नियम मे प्रयुक्त हुआ है किन्तु 'पुनः पुन' इस वीप्सा मे एव का प्रयोग अन्ययोग-व्यवच्छेदपरक मे नही है कि उसका अर्थ किया जाय 'पुन पुनरेव' बार-बार ही निबद्ध्यमान वर्ण, वर्णविन्यासवक्रता के उपपादक होते है।)

उन (त्रिधा वर्णविन्यासवक्रता) मे (स्वल्पान्तर से पुन॰-पुन॰ निबद्ध) एक व्यञ्जन के द्वारा प्रस्तुत (वर्णविन्यासवक्रता) का उदाहरण जैसे—(मदनाविष्ट किसी तरुणी का वर्णन है) विशेष प्रकार से निवेशित स्वल्प पुष्पो से युक्त केशपाश है, सौन्दर्यधुरीण मुस्कान है, पाण्डित्य पूर्ण एवं मधुर वचनो का विन्यास किया जाता है, कण्ठ मे मधुर पञ्चम स्वर है, आँखे विलास से मन्थर ताराओ वाली हो गयी है (निश्चल है) और विलास से अलसाया गमन है। इस प्रकार काम के बाणो के प्रहार से निर्मल उस मृगनयनी का (सभी) व्यापार कुछ अनिर्वचनीय ही हो गया है ॥ १ ॥

यहाँ प्रथम पादमे व्यवधानपूर्वक क्रमश म्, स्, व्, य् वर्णो का, द्वितीय पाद मे म्, स्, घ्, क् वर्णो का, तृतीय मे ल्, र्, त्, न्, य्, स् वर्णो का एवं चतुर्थ पाद मे र्, श्, त् वर्णो का पुन-पुन निबन्धन होने से यह वर्णविन्यास-वक्रता का उदाहरण है। ध्यातव्य है कि वर्णविन्यासवक्रता ही मतान्तर मे अनुप्रास अलङ्कार कही जाती है।

एक, दो एव अनेक वर्णो की पुन-पुन आवृत्ति का उदाहरण जैसे—

इलायची (एला) की लतिकाओ को मर्दित करने वाली, केलो के समूह, पान, जामुन एव नीबुओ के वृन्द को कँपाने वाली, ताड़-ताडी एव आम्रलताओं की तरलता की लास्यविधायिका, काँपती लहरो के सौन्दर्यविलास के विशेष सपर्क से शीतल हवाएँ समुद्र (नदियो) के तटीय कछारो मे जिस (राजा) की सेनाओ की सुन्दरियो के निरन्तर पुनः-पुन॰ क्रियमाण सभोगजन्य क्लान्ति का अपहरण किया करती थी ॥ २ ॥

इस उदाहरण मे वर्णविन्यासवक्रता के तीनो उदाहरण प्रस्तुत किये गये है। लकारादि एक वर्ण की अनेक बार आवृत्ति एवं तालताली जैसे दो वर्णो की पुनः-पुन॰ आवृत्ति और इसी प्रकार स्तम्ब-ताम्बूल जैसे अनेक वर्णो की पुनः-पुन॰ आवृत्ति हो रही है। अतः यहाँ सभी के उदाहरण प्राप्य है। ध्यान देने की बात है कि, यह त्रिविध वर्णविन्यासवक्रता अन्य काव्यशास्त्री विश्वनाथ आदि की दृष्टि से छेकानुप्रास एवं वृत्त्यनुप्रास आदि से ही गतार्थ हो जाती है। अर्थात् मतान्तर का अनुप्रास ही यहाँ उक्त वक्रता का पोषक है।

एतामेव वक्रतां विच्छित्त्यन्तरेण विविनक्ति—

वर्गान्तयोगिनः स्पर्शा द्विरुक्तास्तनलादयः।
शिष्टाश्च रादिसंयुक्ताः प्रस्तुतौचित्यशोभिनः ॥ २ ॥

इयमपरा वर्णविन्यासवक्रता त्रिधा त्रिभिः प्रकारैरुक्तेति 'च' शब्देनाभिसम्बन्धः। के पुनरस्यास्त्रयः प्रकारा इत्याह—वर्गान्तयोगिनः स्पर्शाः। स्पर्शाः कादयो मकारपर्यन्तावर्गास्तदन्तैः ङकारादिभिर्योगः संयोगो येषां ते तथोक्ताः, पुनः पुनर्बध्यमानाः—प्रथमः प्रकारः। त-ल-नादयः तकार-लकार-नकारप्रभृतयो द्विरुक्ता द्विरुच्चारिता द्विगुणाः सन्तः, पुनः पुनर्बध्यमानाः—द्वितीयः। तद्व्यतिरिक्ताः शिष्टाश्च व्यञ्जनसंज्ञा ये वर्णास्ते रेफप्रभृतिभिः संयुक्ताः, पुनः

इसी (वर्णविन्यास की) वक्रता को अन्य विच्छित्ति के द्वारा विवेचित करते हैं—वर्गान्तेत्यादि से।

वर्ण्यमान वस्तु के औचित्य से सुन्दर तथा (स्वल्पान्तर से पुन:-पुनः निबध्यमान) (१) अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त स्पर्श (कादयो मावसानाः स्पर्शाः—के अनुसार स्पर्श क से लेकर म तक के पाँचों वर्गों के सभी वर्ण स्पर्श कहे जाते हैं) (२) द्विरुक्त, त, ल तथा न आदि वर्ण एव (३) अवशिष्ट अन्य सभी वर्ण रकार आदि वर्णों से संयुक्त रूप (मे जहाँ स्वल्पान्तर से पुन-पुनः निबन्धित किये जायँ वहाँ वर्णविन्यासवक्रता का दूसरा सौन्दर्यप्रकार होता है) ॥ २ ॥

यह दूसरी वर्णविन्यासवक्रता त्रिधा—तीन प्रकार से कही गयी है, यह सम्बन्ध (कारिका मे प्रयुक्त) 'च' शब्द से ज्ञात होता है। फिर वे तीन प्रकार है कौन ? इस पर कहते हैं—वर्ग के अन्त (वाले वर्ण से) संयुक्त स्पर्श वर्ण। स्पर्श है 'क' से प्रारम्भ कर 'म' तक के वर्ग (कवर्ग–पवर्ग, पाँचों वर्ग) ङकार, ञकार आदि उन (वर्गों) के अन्त के वर्णों से योग-संयोग जिन वर्णो का हो तथोक्त (वर्गान्तयोगी स्पर्श), पुनः-पुनः निबन्धित किये जाते है जहाँ वह भी (वर्णविन्यासवक्रता का विच्छित्त्यन्तर का) प्रथम प्रकार है। त-ल-न आदि–तकार, लकार, नकार आदि वर्ण द्विरुक्त—दो बार उच्चारित—द्विगुण होकर (जहाँ) बार-बार निबध्यमान हो वह दूसरा प्रकार है। और उन (वर्गान्तयोगी स्पर्श एवं द्विरुक्त त-ल-न आदि) से व्यतिरिक्त—अवशिष्ट व्यञ्जनसज्ञक जो वर्ण हैं वे रेफ (रकार) आदि से सयुक्त होकर बार-बार (जहाँ) निबन्धित किये जा रहे हों (वहाँ) तीसरा प्रकार होता है। थोड़े अन्तर—परिमित व्यवधान से ही निबन्धित हो, इसका सम्बन्ध सभी (उक्त तीनो प्रकारो) से है। और वे कैसे हो ?—प्रस्तुत औचित्य से सुन्दर। प्रस्तुत—वर्ण्यमान वस्तु, उसका जो औचित्य–उचितभाव, उससे जो शोभित होते है तथोक्त प्रस्तुतौचित्यशोभी वर्ण। न कि केवल वर्णो की सवर्णता की आसक्ति मात्र से उपनिबद्ध (तथा इस प्रकार) प्रस्तुत वस्तु के औचित्य को मलिन करने वाले (वर्णों का उपनिबन्धन अभीष्ट है)। प्रस्तुत वस्तु के उचित भाव की शोभा के सर्जक होने के कारण कहीं-कहीं कठोर रसों

पुनर्बध्यमानाः—तृतीयः । स्वल्पान्तराः परिमितव्यवहिता इति सर्वेषामभिसम्बन्धः । ते च कीदृशाः—प्रस्तुतौचित्यशोभिनः । प्रस्तुतं वर्ण्यमानं वस्तु तस्य यदौचित्यमुचितभावस्तेन शोभन्ते ये ते तथोक्ताः । न पुनर्वर्णसावर्ण्यव्यसनितामात्रेणोपनिवद्धाः, प्रस्तुतौचित्यम्लानकारिणः । प्रस्तुतौचित्यशोभित्वात् कुत्रचित्परुपरसप्रस्तावेतादृशानेवाभ्यनुजानाति । तत्र प्रथमप्रकारोदाहरणं यथा—

उन्निद्र-कोक-नद-रेणु-पिशङ्गिताङ्गा
गुञ्जन्ति मञ्जु मधुपाः कमलाकरेषु ।
एतच्चकास्ति च रवेर्नवबन्धुजीव-
पुष्पच्छदाभमुदयाचलचुम्बिबिम्बम् ॥ ३ ॥

यथा च—

कदलीस्तम्बताम्बूलजम्बूजम्बीराः इति ॥ ४ ॥

यथा वा—

सरस्वतीहृदयारविन्दमकरन्दबिन्दुसन्दोहसुन्दराणाम, इति ॥ ५ ॥

(वीर, बीभत्स, रौद्र एव भयानक) के प्रसङ्ग मे उसी प्रकार के (परुष) वर्णो को (रचनाकार) समझता है (और उन्ही का प्रयोग करता है, किन्तु कोमल रस शृङ्गार आदि मे वह परुष वर्णो का प्रयोग नही करता, क्योकि उनसे प्रस्तुत के औचित्य की शोभा नही हो पाती) ।

उनमे से प्रथम (स्ववर्गीय अन्त्यवर्ण से सयुक्त स्पर्शवर्णो की पुनः-पुनः आवृत्तिरूप भेद का उदाहरण जैसे—

विकसित रक्त कमलो की पराग से पीले अङ्गो वाले भ्रमरवृन्द कमलवनो मे मनोहारी गुञ्जन कर रहे है और यह सूर्य का उदयगिरिस्पर्शी तथा अभिनव बन्धुजीव (दुपहरिया) पुष्प की आभा सदृश कान्ति वाला मण्डल प्रकाशित हो रहा है ॥ ३ ॥

(यहाँ उन्निद्र, पिशङ्गिताङ्गा, मञ्जु, गुञ्जन्ति, चुम्बि, बिम्बम् मे गकारादि स्पर्श एवं वर्गान्त वर्णो का सयुक्त रूप मे प्रयोग है । अत यह वर्णविन्यासवक्रता के प्रथम भेद का उदाहरण है) ।

इसी का दूसरा उदाहरण जैसे इसी उन्मेष की उदाहरण स० २, के अंश—'कदलीस्तम्बताम्बूलजम्बूजम्बीराः—' आदि मे है ।

अथवा जैसे उसी का और उदाहरण अपने ही ग्रन्थ के प्रथम उन्मेष की १६ वी कारिका का वृत्तिभाग—

'सरस्वतीहृदयारविन्दमकरन्दविन्दुसन्दोहसुन्दराणाम्'—मे है ।

द्वितीय प्रकार के वर्णविन्यासवक्रता का उदाहरण जैसे—प्रथम उन्मेप के उदाहरण सं० ४१—'प्रथममरुणच्छाय.'—आदि के द्वितीय एवं चतुर्थ पाद मे—'द्विरुक्तास्तनलादयः.—के अनुसार यहाँ, त, ल, न, च, छ की द्विरुक्ति पायी जाती है ।

द्वितीय प्रकारोदाहरणं—

प्रथममरुणच्छायः ॥ ६ ॥

इत्यस्य द्वितीयचतुर्थौपादौ ।

तृतीयप्रकारोदाहरणमस्यैव तृतीयपादः । यथा वा—

सौन्दर्यधुर्यं स्मितम् ॥ ७ ॥

यथा च 'कह्लार'—शब्दसाहचर्येण 'ह्लाद'—शब्दप्रयोगः । परुषरसप्रस्तावे तथाविधसंयोगोदाहरणं यथा—

उत्ताम्यत्तालवश्च प्रतपति तरणावांशवीं तापतन्द्री-
मद्रिद्रोणीकुटीरे कुहरिणि हरिणारातयो यापयन्ति ॥ ८ ॥

एतामेव वैचित्र्यान्तरेण व्याचष्टे—

क्वचिदव्यवधानेऽपि मनोहारिनिबन्धना ।
सा स्वराणामसारूप्यात् परां पुष्णाति वक्रताम् ॥ ३ ॥

क्वचिदनियतप्रायवाक्यैकदेशे कस्मिंश्चिदव्यवधानेऽपि व्यवधाना-

इसी वर्णविन्यासवक्रता का (रादि सयुक्त स्पर्शो का पुनः-पुनः निबन्धन रूप) तृतीय प्रकार का उदाहरण जैसे—इसी श्लोक का तीसरा पाद (जहाँ प्र, आदि का निबन्धन है । यह पूरा श्लोक इस प्रकार है—

प्रथममरुणच्छायस्तावत्तत कनकप्रभः
तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वीकपोलतलद्युति ।
प्रसरति ततो ध्वान्तक्षोदक्षमः क्षणदामुखे
सरसविसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छनः ॥

अथवा जैसे (इसी उन्मेष के प्रथम उदाहरण के प्रथम पाद के अश—

सौन्दर्यधुर्यं स्मितम् ॥ ७ ॥

मे र का य से दो बार सयोग वर्णित है) ।

और जैसे 'कह्लार' शब्द के सामीप्य मे निबन्धित 'ह्लाद' शब्द के प्रयोग (मे 'ह्' एवं 'ल' के सयोग रूप वर्णविन्यासवक्रता के तृतीय भेद का उदाहरण पाया जाता है) ।

कठोर (वीर, रौद्र, भयानक आदि) रस के प्रकरण मे उसी प्रकार के (तदनु-कूल परुष वर्णों के) सयोग का उदाहरण जैसे—

सूर्य के अत्यन्त तपने पर अतिशय चटकती तालुओ वाले मृग-शत्रु सिंह (सूर्य की) किरणो से उत्पन्न ताप की तन्द्रा को गुहाओ वाली छोटी कुटियो जैसी पर्वत की घाटियो मे बिताया करते हैं ॥ ८ ॥

यहाँ परुष रस भयानक के अनुकूल, त, प, र, द, ह आदि वर्णो का संयोग एवं आवर्तन प्रस्तुत किया गया है । अतः यह भी वर्णविन्यासवक्रता के तृतीय प्रकार का उदाहरण है ।

भावेऽप्येकस्य द्वयोः समुदितयोश्च बहूनां वा पुनर्पुनर्बध्यमानानामेषां मनोहारिनिबन्धना हृदयावर्जकविन्यासा भवन्ति। काचिदेवं संपद्यत इत्यर्थः। यमकव्यवहारोऽत्र न प्रवर्तते, तस्य नियतस्थानतया व्यवस्थानात्। स्वरैर्व्यवधानमत्र न विवक्षितम्, तस्यानुपपत्तेः। तत्रैकस्याव्यवधानोदाहरणं यथा—

वामं कज्जलवद्विलोचनमुरोरोहद्विसारिस्तनम् ॥ ९ ॥

द्वयोर्यथा—

ताम्बूलीनद्धमुग्धक्रमुकतरुतलस्रस्तरे सानुगाभिः
पायं पायं कलाचीकृतकदलदलं नारिकेलीफलाम्भः।
सेव्यन्तां व्योमयात्राश्रमजलजयिनः सैन्यसीमन्तिनीभि-
र्दात्यूहव्यूहकेलीकलितकुहकुहारावकान्ता वनान्ताः ॥ १० ॥

इसी वर्णविन्यासवक्रता को अन्य वैचित्र्य के माध्यम से प्रस्तुत करते है—

कही-कही वर्णो के व्यवधान न होने पर भी (पुन -पुनः निबध्यमान वर्णो की) मनोहारी वर्णना तथा (कही कही) स्वरो का असादृश्यतया (पुनः-पुनः निबन्धन) होने से वक्रता की परम पुष्टि होती है ॥३॥

कहीं अनिश्चितप्राय किसी वाक्य के एक अंश मे अव्यवधान-व्यवधान न रहने पर भी पुन.-पुन. निबध्यमान, एक अथवा सम्मिलित दो या अनेक वर्णो के मनोहारी निबन्धन-हृदय को आवर्जित करने वाले विन्यास होते है। अर्थात् कोई ही वक्रता इस प्रकार से संपन्न होती है—यह भाव है। (व्यंजनो की आवृत्ति मे यमक अलङ्कार भी होता है, अतः कोई कह सकता है कि यहाँ पर भी यमक अलङ्कार ही होना चाहिए ? इसी का उत्तर देते है।) यहाँ यमक का व्यवहार प्रवृत्त नही होगा, क्योकि उसकी आवृत्ति (किसी वाक्य के आदि, मध्य अथवा अन्त रूप) नियत स्थान मे ही व्यवस्थित होती है (किन्तु यहाँ इस प्रकार की कोई भी बात नही है)। स्वरो से होने वाला अव्यवधान यहाँ विवक्षित नही है, क्योकि वह अनुपयुक्त होगा (अतः मात्र व्यञ्जनो के व्यवधान की ही यहाँ विवक्षा है)। उनमे भी व्यवधानरहित एक वर्ण की आवृत्ति का उदाहरण जैसे—(उदाहरण १।४४ का प्रथम चरण वाला भाग) अर्धनारीश्वर भगवान् शङ्कर का अद्भुत शरीर 'काजलयुक्त वाम नेत्र वाला एवं बढ़ते हुए विस्तृत स्तन से युक्त है' ॥ ९ ॥

यहाँ पर 'कज्जल' पद मे व्यवधानरहित एक वर्ण 'ज्' की आवृत्ति हुई है।

व्यवधानरहित दो वर्णो की पुनः-पुनः आवृत्ति का उदाहरण जैसे—(श्लोक बालरामायण (१।६३) का है। रावण सीतास्वयम्बर मे मिथिलापुरी मे आया है। अपनी सेनाओं के अधीश्वरों को आदेश दे रहा है—

पान की लताओं से वेष्टित मनोहारी सुपारी के वृक्षो के नीचे आसनो (पर बैठी हुई), मोड़कर केले के पत्तो मे नारियल के फल के रस को बार-बार पान करती हुई,

यथा वा—

अयि पिबत चकोराः कृत्स्नमुन्नाम्य कण्ठान्
क्रमुकबलनचञ्चच्चञ्चवश्चन्द्रिकाम्भः।
विरहविधुरितानां जीवितत्राणहेतो-
र्भवति हरिणलक्ष्मा येन तेजो दरिद्रः ॥ ११ ॥

बहूनां यथा—

सरलतरलता लासिका ॥ इति ॥ १२ ॥

अपि शब्दात्क्वचिद्व्यवधानेऽपि !

द्वयोर्यथा—

स्वस्थाः सन्तु वसन्त ते रतिपतेरग्रेसरा वासराः ॥ १३ ॥

साथ-साथ अनुगमन करती हुई सैन्य-सुन्दरियाँ आकाशगमन से उत्पन्न पसीनों को सुखा देने वाले तथा महोख अथवा पड़ुकी वृन्दों की क्रीडा में होने वाले ललित कुह-कुह ध्वनि से रमणीय वनप्रदेशों का सेवन करें ॥ १० ॥

(यहाँ पायं पाय, कदलदलं आदि में अव्यवधानपूर्वक दो-दो वर्णों की आवृत्ति है। अतः वर्णविन्यासवक्रता का उदाहरण है। कुछ टीकाकार यहाँ व्यवधानयुक्त का उदाहरण मानते हैं। वह भ्रान्तिवश प्रमाद ही है। 'दात्यूह' पद का अर्थ कोयल, चातक अथवा कौआ कोई भी उपयुक्त नहीं है; वस्तुतः महोख पक्षी जो कुछ भूरा होता है और कुहू-कुहू की ध्वनि करता है वही उपयुक्त है, जो कि अमरकोष आदि से भी ठीक बैठ जाता है। पेडकी पक्षी भी श्वेत-भूरा और कुहू-कुहू की ध्वनि करता है।) अथवा इसी का दूसरा उदाहरण जैसे—वहीं बालरामायण (५।७३) से है। उन्मत्त रावण सीता के प्रेम-विरह में विह्वल चन्द्रिका को न सह सकने के कारण कह रहा है—"सुपारी वनों में घूमने के कारण चमकती चोंचवाले हे चकोरो ! वियोग-पीड़ित लोगों की प्राणरक्षा हेतु अपने कण्ठों को ऊपर उठाकर समस्त जोन्हाई रूप जल को पी जाओ जिससे यह मृगाङ्क चन्द्रमा प्रभाहीन हो जाय (और अस्मादृश विरहीजनों को पीड़ित न करे) ॥ ११ ॥

(अव्यवधान में) अनेक वर्णों की (पुनः-पुनः आवृत्ति का) उदाहरण जैसे—सरलतरलता लासिका (आदि २।२ के उदाहरण भाग में र, ल, त वर्णों की (पुनः पुनः आवृत्ति हुई है) ॥१२॥

कारिका में उपात्त 'अपि' शब्द से (सूचित होता है कि) कहीं-कहीं व्यवधान रहने पर भी (एक, दो अथवा अनेक वर्णों की पुनः-पुनः आवृत्ति में वर्णविन्यास-वक्रता संभव है)।

व्यवधान में दो वर्णों की आवृत्ति का उदाहरण जैसे—

'हे वसन्त रति के स्वामी कामदेव के अग्रेसर तुम्हारे दिवस प्रसन्न हों ॥ १३ ॥

यहाँ 'अग्रेसरा वासरा' में वा वर्णविहित व्यवधान से 'सराः' पद की पुनः आवृत्ति हुई है।

बहूनां व्यवधानेऽपि यथा—

चकितचातकमेचकितवियति वर्षात्यये ॥ १४ ॥

सा स्वराणामसारूप्यात् सेयमनन्तरोक्ता स्वरानामकारादीनामसारूप्यादसादृश्यात् क्वचित्कस्मिंश्चिदावर्तमानसमुदायैकदेशे परामन्यां वक्रतां कामपि पुष्णाति पुष्यतीत्यर्थः ।

यथा— राजीव जीवितेश्वरे ॥ १५ ॥

यथा वा— धूसर सरिति इति ॥ १६ ॥

यथा च—

स्वस्था सन्तु वसन्त । इति ॥ १७ ॥

यथा वा— तालताली । इति ॥ १८ ॥

सोऽयमुभयप्रकारोऽपि वर्णविन्यासवक्रताविशिष्टवाक्यविन्यासो यमकाभास सन्निवेशविशेषो मुक्ताकलापमध्यप्रोतमणिमयकपदकबन्धबन्धुरः सुतरां सहृदयहृदयहारितां प्रतिपद्यते । तदिदमुक्तम्—

वर्णों के व्यवधान मे अनेक वर्णों की आवृत्ति जैसे—वर्षा के समाप्त हो जाने पर (जब) उत्कण्ठित चातकों से आकाश श्यामवर्ण कर दिया गया ।

(यहाँ च् क् त् आदि अनेक वर्णों का व्यवधान मे पुनः-पुन आवृत्ति का उदाहरण है ।

वह स्वरो के असारूप्य—वह यह अभी-कभी कही गयी स्वरो—अकार आदि के असारूप्य—असादृश्य से कहीं—किसी भी आवर्तमान (व्यञ्जन) समूह के एकाश मे दूसरी—अपूर्व किसी अन्य प्रकार की वक्रता को पोषित करती है—पुष्ट करती है यह भावार्थ है ॥ १४ ॥

जैसे—राजीव जीवितेश्वरे 'इत्यादि' मे 'जीव-जीवि' वर्णसमुदाय की आवृत्ति हुई है । इसमें 'व' के स्वरो मे असमानता है । एक मे 'अ' स्वर है दूसरे मे 'इ' ॥ १५ ॥

अथवा जैसे—'धूसर सरिति' मे 'सर-सरि' वर्णसमुदाय की आवृत्ति में भी पूर्ववत् स्वर भेद है ॥ १६ ॥

अथवा जैसे इसी उन्मेष के उदाहरण १३ के अश 'स्वस्था सन्तु वसन्त' में 'सन्तु-सन्त' की आवृत्ति मे 'त' के स्वरो में असारूप्य है ॥ १७ ॥

अथवा जैसे इसी उन्मेष के उदाहरण सं० २ के द्वितीय पाद के अंश 'तालताली' मे स्वरभेद है ॥ १८ ॥

दोनो ही प्रकार (व्यवधान अथवा अव्यवधान रूप वर्णों की आवृत्ति मे निबन्धित) की वह यह वर्णविन्यासवक्रता से युक्त विशिष्ट वाक्य का विन्यास, यमकाभास, सन्निवेश विशेष है (जो) मोती की लरी के बीच पिरोये गये मणिनिर्मित पुलकरचना के समान कोमल पदो की संरचना से रमणीय अत्यन्त ही सहृदय-हृदय की हारिता को प्राप्त हो जाता है । तो इसी को (१।३५ मे) कहा भी गया है—

'नाप्यपेशलभूषिता' न चाप्यपेशलैरसुकुमारैरलंकृता । यथा—

शीर्णघ्राणाङ्घ्रि । इति ॥ २१ ॥

तदेवं कीदृशी तर्हि कर्तव्येत्याह—पूर्वावृत्तपरित्यागनूतनावर्तनोज्ज्वला । पूर्वमावृत्तनां पुनः पुनर्विरचितानां परित्यागेन प्रहाणेन नूतनानामभिनवानां वर्णानामावर्तनेन पुनः पुनः परिग्रहेण च । तदेवमुभाभ्यां प्रकाराभ्यामुज्ज्वला भ्राजिष्णुः । यथा—

एतां पश्य पुरस्तटीमिह किल क्रीडाकिरातो हरः
कोदण्डेन किरीटिना सरभसं चूडान्तरे ताडितः ।
इत्याकर्ण्य कथाद्भुतं हिमनिधावद्रौ सुभद्रापते-
र्मन्दं मन्दमकारि येन निजयोर्दोर्दण्डयोर्मण्डलम् ॥ २२ ॥

यथा वा—

हंसानां निनदेषु । इति ॥ २३ ॥

यथा च—

एतन्मन्दविपक्व इत्यादौ ॥ २४ ॥

'शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन् व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोपान्
दीर्घाघ्रातानघौघै पुनरपि घटयत्येक उल्लाघयन् य ।
घर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्द्विगुणघनघृणानिघ्ननिर्विघ्नवृत्ते-
र्दत्तार्घाः सिद्धसङ्घैर्विदधतु घृणयः शीघ्रमहोविघातम् ॥

पूरे श्लोक मे अपेशल वर्णो की अनेकधा आवृत्ति की गयी है ॥ २१ ॥

तो फिर ऐसे मे किस प्रकार की वर्णविन्यासवक्रता करनी चाहिए ? इस पर कहते है—पूर्व आवृत्त वर्णो का परित्याग एवं नूतन आवर्तन से उज्ज्वल (करनी चाहिए)। पहले आवृत्त किये गये—बार-बार विरचित (वर्णो) के परित्याग—प्रहाण से नूतन—अभिनव वर्णो के आवर्तन–पुनः-पुनः परिग्रहण से, इस प्रकार दोनों ही प्रकारो से उज्ज्वल प्रकाशमान (वर्णविन्यासवक्रता का निबन्धन करना चाहिए)। जैसे—सामने की इस तलहटी को देखो। यहाँ किरीटी अर्जुन ने धनुप से कृत्रिम किरात भगवान् शिव के मस्तक पर वेगपूर्वक प्रहार किया था। इस प्रकार हिमालय पर सुभद्रापति अर्जुन की इस अद्भुत कथा को सुनकर जिन (भगवान् शिव) ने धीरे-धीरे अपनी भुजाओ के मण्डल को बनाया ॥ २२ ॥

यहाँ पकारादि वर्णो की आवृत्ति कर क्रमशः उनका परित्याग करते हुए ककार आदि नवीन वर्णो का उपादान किया गया है।

अथवा जैसे—'हसाना निनदेषु' इत्यादि उदाहरण (१।७३) मे भी नकार, ककार आदि वर्णो का उपादान एवं परित्यागपूर्वक विन्यास किया गया है ॥ २३ ॥

और जैसे—'एतन्मन्द विपक्व' इत्यादि उदाहरण (१।१०७) मे भी 'म' आदि का उपादान-परित्याग किया गया है ॥ २४ ॥

यथा वा—

णमह दसाणणसरहसकरतलिअबलन्तसेलभअविहलं
वेबंतथोरथणहरहरकअकंठग्गहं गोरि ॥ २५ ॥

नमत दशाननसरभसकरतुलितवलच्छैलभयविह्वलाम् ।
वेपमानस्थूलस्तनभरहरकृतकण्ठग्रहां गौरीम् ॥ इतिच्छाया ॥ २५ ॥

एवमेतां वर्णविन्यासवक्रतां व्याख्याय तामेवोपसंहरति—

वर्णच्छायानुसारेण गुणमार्गानुवर्तिनी ।
वृत्तिवैचित्र्ययुक्तेति सैव प्रोक्ता चिरन्तनैः ॥ ५ ॥

वर्णानामक्षराणां या छाया कान्तिः श्रव्यतादिगुणसम्पत्, तया हेतुभूतया यदनुसरणमनुसारः प्राप्यस्वरूपानुप्रवेशस्तेन । गुणान् माधुर्यादीन् मार्गांश्च सुकुमारप्रभृतीननुवर्तते या सा तथोक्ता । तत्र गुणानामान्तरतम्यात् प्रथममुपन्यस्तम्, गुणद्वारेणैव मार्गानुसरणोपपत्तेः । तदयमत्रार्थः—यद्यप्येषा वर्णविन्यासवक्रता व्यञ्जनच्छायानुसारेण, तथापि प्रतिनियतगुणविशिष्टानां

अथवा जैसे—

दशवदन रावण के द्वारा अकस्मात् हाथ पर उठाये गये हिलते हिमालय के कारण भय से व्याकुल तथा काँपती हुई पीन स्तनो के भार से भगवान् शङ्कर के गले मे लिपटी पार्वती को नमस्कार करे ॥ २५ ॥

यहाँ भी नकार आदि का ग्रहण—परित्यागपूर्वक विन्यास होने से पूर्वोक्त वक्रता का साम्राज्य है। कुन्तक की उक्त कारिका को कुछ हद तक आनन्दवर्द्धन की उक्ति, अलङ्कार की सार्थकता विषयक प्रतिपादिका, निम्न से समीकृत किया जा सकता है—

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन ।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वन्धणैषिता ॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम् । ध्व० २।१८–१९ ॥

इस प्रकार इस (उपर्युक्त) वर्णविन्यासवक्रता की व्याख्या कर (अब) उसी का उपसहार करते है—

वर्णो की कान्ति के माध्यम गुणो तथा मार्गो का अनुवर्तन करने वाली वह वर्णविन्यासवक्रता ही प्राचीनो (आचार्य उद्भट आदि) से वृत्तियो के सौन्दर्य से समन्वित कही गयी है ॥ ५ ॥

(ध्यान देने की बात है कि आनन्दवर्द्धन ने कहा है कि प्राचीनो को ध्वनितत्त्व स्फुरित नही था इसीलिए उन्होने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' जैसे मत चलाये थे—

'अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम् ।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तु रीतय· सम्प्रवर्तिताः ॥' ध्वन्यालोक ॥

वामन की वैदर्भी, गौडी एव पाञ्चाली रीतियो को आचार्य मम्मट एवं ध्वनिकार ने भी वृत्त्यनुप्रास के त्रिविध भेद उपनागरिक, परुषा एव कोमला मे अन्तर्भूत कर लिया है—

मार्गाणामनुवर्तनद्वारेण यथास्वरूपानुप्रवेशं विदधाति तथा विधातव्येति। तत एव च तस्यास्तन्निबन्धना प्रविततः प्रकाराः समुल्लसन्ति। चिरन्तनैः पुनः सैव स्वातन्त्र्येण वृत्तिवैचित्र्ययुक्तेति प्रोक्ता। वृत्तीनामुपनागरिकादीनां यद् वैचित्र्यं विचित्रभावः स्वनिष्ठसंख्याभेदभिन्नत्वं तेन युक्ता समन्वितेति। चिरन्तनैः पूर्वसूरिभिरभिहिता। तदिदमत्र तात्पर्यम्—यदस्याः सकलगुणस्वरूपानुसरणसमन्वयेन सुकुमारादिमार्गानुवर्तनायत्तवृत्तेः पारतन्त्र्यमपरिगणितप्रकारत्वं चैतदुभयमप्यवश्यम्भावि, तस्मादपारतन्त्र्यं परिमितप्रकारत्वं चेति नातिचितुरस्रम्।

केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः ॥ का० प्र०, ८।८१ ॥

ये तीनो रीतियाँ—वृत्तियाँ, क्रमशः माधुर्य, ओज एव प्रसादगुणो के व्यञ्जक वर्णों के विन्यास मे ही होती है। और उन्ही मे कुन्तक ने अपने त्रिविध मार्गों का प्रतिपादन भी किया है। अतः इस कारिका से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वृत्ति, मार्ग एव गुण कुन्तक की दृष्टि मे लगभग एक ही तत्त्व के दृष्टिभेदपरक विवेचनमात्र है।

वर्णो—अक्षरो की जो छाया-कान्ति, (जो) श्रव्यत्व आदि गुण-सम्पत्तियुक्त होती है, हेतुभूत उस कान्ति के द्वार जो अनुसरण—अनुगमन, अर्थात् प्रासव्य अभीष्ट वस्तु के स्वरूप मे प्रवेश उसके द्वारा, गुणो—माधुर्य आदि तथा सुकुमार आदि मार्गों का जो अनुवर्तन करती है तथोक्त—गुणमार्गानुवर्तिनी (वर्णविन्यासवक्रता)। (गुणो का ही प्रथम उपादान क्यो किया ?) वहाँ—गुणमार्गानुवर्तिनी पद मे—गुणो मे अन्तरतमता होने के कारण (उनका) प्रथम उपन्यास किया गया, क्योकि गुणो के द्वारा ही मार्गों का अनुसरण उपयुक्त होता है (अतः मार्ग का बाद मे और गुण का प्रथमोपादान किया गया है। तो यहाँ यह अर्थ है—यद्यपि यह वर्णविन्यासवक्रता व्यञ्जनो की कान्ति के अनुसरण से ही निष्पन्न होती है तथापि नियतगुणविशिष्ट प्रत्येक मार्गों के अनुवर्तन के द्वारा जिस प्रकार से (वस्तु के) स्वरूप मे अनुप्रवेश कर लेती है वैसी (वर्णविन्यासवक्रता) करनी चाहिए। और उसी से उस (वर्णविन्यासवक्रता) के मार्ग को लेकर निबन्धित किये गये अनेको प्रकार समुल्लसित होते है। और वही चिरन्तन (प्राचीन) आचार्यो के द्वारा स्वेच्छापूर्वक वृत्तिवैचित्र्ययुक्त कही गयी है। उपनागरिका आदि वृत्तियो का जो वैचित्र्य—विचित्र भाव अर्थात् स्वरूपगत संख्याभेद की भिन्नता, उससे युक्त-समन्वित होती है ऐसा प्राचीन—पहले के विद्वानों उद्भट आदि के द्वारा कहा गया है। तो यहाँ यह तात्पर्य है—(माधुर्य आदि) समस्त गुणों के जो स्वरूप है, उनके अनुवर्तन के समन्वय द्वारा सुकुमार आदि मार्गों के अनुसरण के अधीन स्वरूपवाली इस (वर्णविन्यासवक्रता) की परतन्त्रता तथा तथा असख्य प्रकारता यह दोनो ही होना अवश्यम्भावी है। इसलिए अपरतन्त्रता तथा सीमित प्रकारता (दोनो ही इसके विषय मे कथन) बहुत ठीक नही है (अर्थात् वर्णविन्यासवक्रता गुणो एवं मार्गों पर अवलम्बित है, तदधीन है और गुण तथा मार्ग के अनन्त भेद संभव है। अतः उसके भी अनन्त भेद हो सकते है)।

ननु च प्रथममेको द्वावित्यादिना प्रकारेण परिमितान् प्रकारान् स्वतन्त्रत्वं च स्वयमेव व्याख्याय किमेतदुक्तमिति चेन्नैष दोषः, यस्माल्लक्षणकारैर्यस्य कस्यचित्पदार्थस्य समुदायपरायत्तवृत्तेः परव्युत्पत्तये प्रथममपोद्धारबुद्ध्या स्वतन्त्रतया स्वरूपमुल्लिख्यते। ततः समुदायान्तर्भावो भविष्यतीत्यलमतिप्रसङ्गेन।

येयं वर्णविन्यासवक्रता नाम वाचकालंकृतिः स्थाननियमाभावात् सकलवाक्यस्य विषयत्वेन समाम्नाता, सैव प्रकारान्तरविशिष्टा नियतस्थानतयोपनिबध्यमाना किमपि वैचित्र्यान्तरमाबध्नातीत्याह—

समानवर्णमन्यार्थं प्रसादि श्रुतिपेशलम्।
औचित्ययुक्तमाद्यादि नियतस्थानशोभि यत् ॥ ६ ॥
यमकं नाम कोऽप्यस्याः प्रकारः परिदृश्यते।
स तु शोभान्तराभावादिह नाति प्रतन्यते ॥ ७ ॥

(प्रश्न हो सकता है कि) पहले तो 'एको द्वौ बहवो' आदि के द्वारा स्वयं ही आप एक, दो इत्यादि प्रकार से नियत भेदो तथा उसके स्वतन्त्रता की व्याख्या कर यह (उसकी परतन्त्रता तथा अपरिमित प्रकारता) क्या कह दिया ? यदि ऐसा कहा जाय तो ठीक है। मेरा यह कथन दुष्ट नही है, क्योकि लक्षणकार दूसरो को व्युत्पत्ति कराने के लिए समुदाय पराधीन जिस किसी भी पदार्थ का (समुदाय से उसे) पृथक् करने के विचार से पहले तो स्वतन्त्र रूप से (उसका) स्वरूप प्रतिपादित करते है। और उसके बाद तो समुदाय मे उसका अन्तर्भाव हो ही जायगा। (इसलिए पूर्वप्रतिपादित वर्णवक्रता के भेद का परिगणन गुणमार्गायत्त उसके स्वतन्त्र स्वरूप का विवेचन करने के लिए है न कि नियत भेद प्रतिपादन के लिए।) अत अधिक विस्तार ठीक नहीं ॥ ५ ॥

जो यह वर्णविन्यासवक्रता नामक शब्दो की अलंकृति स्थान नियम के विना ही (श्लोक रूप) समस्त वाक्य के विषय के रूप मे प्रतिपादित की गयी वही अन्य प्रकार से विशिष्ट (यमकयुक्त) होकर नियत स्थान के रूप मे उपनिबन्धित की जाती हुई किसी और ही सौन्दर्य का सयोजन करती है। इसलिए अब आगे की कारिका से यमकस्वरूप वर्णविन्यासवक्रता को ही—समान-इत्यादि से कहते है—

समान वर्णो वाले तथा (प्रकृत से भिन्न) अन्य अर्थवाले, प्रसादगुणयुक्त, सुनने मे रमणीय, औचित्ययुक्त, आदि (मध्य तथा अन्त) आदि नियत स्थान से विभूषित जो यमक नाम का इस (वर्णविन्यासवक्रता) का कोई और भेद देखा जाता है (पूर्वप्रतिपादित सौन्दर्य के अतिरिक्त) अन्य शोभा से रहित होने के कारण वह अधिक विस्तार से यहाँ प्रतिपादित नही किया जा रहा है ॥ ६-७ ॥

'इस (वर्णविन्यासवक्रता) का कोई ही प्रकार देखा जाता है।' इसका—पूर्वोक्त (वर्णविन्यासवक्रता) का कोई अपूर्व ही प्रभेद प्रतीत होता है। यह कौन (भेद)

'कोऽप्यस्याः प्रकारः परिदृश्यते'। अस्याः पूर्वोक्तायाः, कोऽप्यपूर्वः प्रभेदो विभाव्यते। कोऽसावित्याह—यमकं नाम। यमकमिति यस्य प्रसिद्धिः। तच्च कीदृशम्—समानवर्णम्। समानाः स्वरूपाः सदृशश्रुतयो वर्णा यस्मिन् तत्तथोक्तम्। एवमेकस्य द्वयोर्बहूनां सदृशश्रुतीनां व्यवहितमव्यवहितं वा यदुपनिबन्धनं तदेव यमकमित्युच्यते। तदेवमेकरूपे संस्थानद्वये सत्यपि अन्यार्थ—भिन्नाभिधेयम्। अन्यच्च कीदृशम्—प्रसादि प्रसादगुणयुक्तं झगिति वाक्यार्थसमर्पकम्, अकदर्थनाबोध्यमिति यावत्। श्रुतिपेशलमित्येतदेव विशिष्यते—श्रुतिः श्रवणेन्द्रियं तत्र पेशलं रञ्जकम्, अकठोरशब्दविरचितम्। कीदृशम्—औचित्ययुक्तम्। औचित्यं वस्तुनः स्वभावोत्कर्षस्तेन

है ? इस पर कहते है—यमक नाम (वाला वह भेद) है। यमक ऐसी जिसकी प्रसिद्धि है। और वह किस प्रकार का है ?—समान वर्ण (विन्यास) वाला। समान स्वरूपयुक्त-समान सुनाई पडने वाले वर्ण जिसमे होते हैं तथोक्त वह (समान वर्ण-युक्त हुआ)। तो इस प्रकार समान सुनायी पडने वाले एक, दो अथवा अनेक वर्णों का व्यवधान या अव्यवधानपूर्वक जो उपनिबन्धन होता है, वही यमक, ऐसा कहा जाता है। तो इस प्रकार एक रूप के (शब्दो की) दो अवस्थिति (आवृत्ति) होने पर भी अन्य अर्थ—(उनका) अर्थ भिन्न होने पर (यमक) होता है। (कुन्तक का यह विवेचन दर्पणकार विश्वनाथ के यमक के लक्षण की ओर बरबस ही देखने को बाध्य कर देता है)। और वह (प्रकार-यमक) कैसा होता है ?—प्रसादी—प्रसाद-गुण से युक्त, शीघ्र ही वाक्य के अर्थ का समर्पक, आयास के विना ही समझने योग्य होता है यह भाव हुआ। वह श्रुतिपेशल होता है—इस प्रकार इसे और भी विशेषित करते है। श्रुति—श्रवणेन्द्रिय अर्थात् कान उनके लिए पेशल—रञ्जक अर्थात् कोमल शब्दो से निष्पन्न। और वह किस प्रकार का होता है ?—औचित्य-युक्त। औचित्य (कहते है) वस्तु के स्वभाव के उत्कर्ष को, उससे युक्त, समन्वित होता है। अर्थात् जहॉ पर यमक के उपनिबन्धन की व्यसनिता होने पर भी औचित्य परिम्लान नही होता। उसी (यमक) को ही अन्य विशेषण से विशेषित करते है—जो आद्य आदि नियत स्थानो पर सुशोभित होता है। आदि इत्यादि (मध्य तथा अन्त मे जिनका उपनिबन्धन होता है) वे तथोक्त (आद्यादि) हुए अर्थात् प्रथम, मध्य एवं अन्त, वे ही नियत स्थान है, विशेष प्रकार के विन्यास कहे जाते है, उनसे जो शोभायमान होता है, दीप्यमान होता है तथोक्त—आद्यादि नियत स्थानशोभी हुआ। यहॉ 'आदि' आदि पद सम्बन्धबोधक है। उन्हे पद आदि के विशेषण रूप मे प्रयुक्त समझना चाहिए (इस प्रकार अर्थ हुआ कि पद, वाक्य आदि के आदि, मध्य, अन्त मे यमक पदो का सन्निवेश होना चाहिए।) किन्तु (वर्णविन्यासवक्रता का यमक नामक) वह प्रकार (सातवी कारिका मे) कथित लक्षण विभूतिसम्पन्न होता हुआ भी यहॉ अधिक विस्तृत नही किया जा रहा—इस ग्रन्थ मे अधिक विस्तार से

युक्तं समन्वितम्। यत्र यमकोपनिबन्धनव्यसनित्वेनाप्यौचित्यमपरिम्लानमित्यर्थः। तदेव विशेषणान्तरेण विशिनष्टि—आद्यादिनियतस्थानशोभि यत्। आदिरादिर्येषां ते तथोक्ताः प्रथममध्यान्तास्तान्येव नियतानि स्थानानि विशिष्टाः सन्निवेशशास्तैः शोभते भ्राजते यत्तथोक्तम्। अत्राद्यादयः सन्बन्धिशब्दाः पदादिभिर्विशेषणीयाः। स तु प्रकारः प्रोक्तलक्षणसंपदुपेतोऽपि भवन् इह नातिप्रतन्यते ग्रन्थेऽस्मिन्नातिविस्तीर्यते। कुतः—शोभान्तराभावात्। स्थाननियमव्यतिरिक्तस्यान्यस्य शोभान्तरस्य छायान्तरस्यासंभवादित्यर्थः। अस्य चवर्णविन्यासवैचित्र्यव्यतिरेकेणान्यत्किञ्चिदपि जीवितान्तरं न परिदृश्यते। तेनानन्तरोक्तालंकृतिप्रकारतैव युक्ता। उदाहरणान्यत्र शिशुपालवधे चतुर्थे सर्गे समर्पकाणि कानिचिदेव यमकानि, रघुवंशे वा वसन्तवर्णने ॥ ७ ॥

एवं पदावयवानां वर्णानां विन्यासवक्रभावे विचारिते वर्णसमुदायात्मकस्य पदस्य च वक्रभावविचारः प्राप्तावसरः। तत्र पदपूर्वार्द्धस्य तावद्वक्रताप्रकाराः कियन्तः सम्भवन्तीति प्रक्रमते—

प्रतिपादित नहीं किया जा रहा है। क्यो ?—अन्य शोभा के अभाव होने से। स्थान-नियम से व्यतिरिक्त (ध्यान देने की बात है कि स्थाननियम मे कतिपय आचार्य छेकानुप्रास मानते है) अन्य शोभा—अन्य विच्छित्ति सभव न होने के कारण (उसका विस्तार यहाँ नही किया जा रहा है)। और इस यमक मे वर्णविन्यास की वक्रता के अतिरिक्त और कोई दूसरा प्राणस्वरूप तत्त्व परिदृष्ट ही नहीं होता। इसलिए अभी-अभी इसके पूर्व कथित (वर्णविन्यासवक्रता रूप) अलङ्कार की प्रकारता ही (इस यमक की) ठीक है। एतद्विषयक उदाहरण शिशुपालवध के चतुर्थ सर्ग मे (अर्थ) समर्पक कुछ इने-गिने ही यमक है, अथवा रघुवश (के नवे सर्ग) मे वसन्तवर्णन के अवसर पर कुछ यमक निबन्धित है ॥६–७॥ शिशुपाल वध मे ऐसे उदाहरणों की श्लोकसख्या ४।९, १२, १५, १८, २१, २४, २७ हो सकती है तथा रघुवंश के अनेकों श्लोक लिये जा सकते है।

इस प्रकार पदो के अशभूत वर्णो के विन्यास की वक्रता का विचार कर लिये जाने के बाद वर्णो के समुदायस्वरूप पदवक्रता का विचार क्रम से उपस्थित होता है। उसमे पद के पूर्वार्द्ध की वक्रता के कितने प्रकार हो सकते है ? इसी को प्रस्तुत करते है—

(यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि प्रथम उन्मेप की १९वी कारिका मे पद-पूर्वार्द्धवक्रता के निम्न प्रकार प्रस्तुत किये गये है—(१) रूढिवैचित्र्य, (२) पर्याय, (३) उपचार, (४) विशेषण, (५) सवृत्ति, (६) वृत्तिवैचित्र्य, (७) लिङ्ग, (८) क्रिया। आगे की कारिका मे प्रथम प्रकार रूढिवैचित्र्यवक्रता का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं—)

यत्र रूढेरसम्भाव्यधर्माध्यारोपगर्भता ।
सद्धर्मातिशयारोपगर्भत्वं वा प्रतीयते ॥
लोकोत्तरतिरस्कारश्लाघ्योत्कर्षाभिधित्सया ।
वाच्यस्य सोच्यते कापि रूढिवैचित्र्यवक्रता ॥ ८-९ ॥

यत्र रूढेरसम्भाव्यधर्माध्यारोपगर्भता प्रतीयते । शब्दस्य नियतवृत्तिता नाम धर्मो रूढिरुच्यते, रोहणं रूढिरिति कृत्वा । सा च द्विप्रकारा सम्भवति—नियतसामान्यवृत्तिता नियतविशेषवृत्तिता । तेन रूढिशब्देनात्र रूढिप्रधानः शब्दोऽभिधीयते, धर्मधर्मिणोरभेदोपचारदर्शनात् । यत्र यस्मिन् विषये रूढिशब्दस्य असम्भाव्य सम्भावयितुमशक्यो यो धर्म कश्चित्परिस्पन्दस्तस्याध्यारोपः समर्पणं गर्भोऽभिप्रायो यस्य स तथोक्तस्तस्य भावस्तत्ता सा प्रतीयते

जहाँ अर्थ के लोकोत्तर तिरस्कार या प्रशस्य उत्कर्ष का अभिधान करने की इच्छा से रूढि के द्वारा असभवनीय धर्मसमर्पक अथवा विद्यमान धर्म के अतिशय समर्पक अभिप्राय की प्रतीति होती है, वह कोई अपूर्व ही सौन्दर्यविधायक रूढिवैचित्र्यवक्रता कही जाती है ॥ ८-९ ॥

जहाँ रूढि के द्वारा असम्भवनीय धर्म के अध्यारोप की गर्भता प्रतीत होती है (वहाँ रूढ़िवैचित्र्यवक्रता है ।) शब्द की नियतवृत्तिता रूप धर्म रूढि कहा जाता है, रोहण (प्रादुर्भाव करने वाला, उत्पन्न करने वाला) करने वाला ऐसा अर्थ करने के कारण । वह दो प्रकार की हो सकती है—नियतसामान्यवृत्तिता तथा नियतविशेषवृत्तिता (शब्द की वृत्ति है अर्थ का बोध करना । अत नियतवृत्तिता का भाव यहाँ नियत रूप से अर्थ की बोधकता से है और इस प्रकार नियतसामान्यवृत्तिता का अर्थ है नियत, निश्चित सामान्य अर्थ का बोध करने का धर्म एव नियतविशेषवृत्तिता का भाव है निश्चित विशेष अर्थ का बोधकत्व) । (रूढि शब्द यद्यपि नियतसामान्यवृत्ति रूप अथवा नियतविशेषवृत्ति रूप धर्म का अवबोधन कराता है, तथापि) उपचार से धर्म एवं धर्मी का अभेद देखे जाने के कारण यहाँ पर रूढ़ि पद से रूढि प्रधान शब्द का अभिधान किया गया है । जहाँ, जिस विषय मे, रूढ़ि शब्द का असभाव्य (बोध) संभव न कराया जा सकने वाला जो धर्म—कोई अपूर्व स्वभाव, उसका अध्यारोप—समर्पण, (बोध कराने वाला) गर्भ-अभिप्राय जिसका वह तथोक्त—यत्र रूढेरसम्भाव्यधर्माध्यारोप गर्भ—हुआ, उसका भाव हुआ असम्भाव्यधर्माध्यारोपगर्भता, वह प्रतीत होती है—प्रतिपन्न होती है (वहाँ रूढ़िवैचित्र्यवक्रता होती है) । यहाँ यत्र का सम्बन्ध है (आगे के पद से भी) । अथवा जहाँ वर्तमान धर्म के अतिशय के आरोप की गर्भता प्रतीत होती है (वहाँ भी रूढ़िवक्रता होती है) । विद्यमान जो यह धर्म उसे कहते हैं सद्धर्म—पदार्थ का विद्यमान स्वभाव, उसमे जिस किसी भी अपूर्व अतिशय-आश्चर्यस्वरूप महत्त्व का आरोप—(अर्थ) समर्पण गर्भ—अभिप्राय होता है जिसका उसे कहते है तथोक्त-सद्धर्मातिशयारोपगर्भ, उसका भाव हुआ—सद्धर्मातिशयारोप-

प्रतिपद्यते। यत्रेति सम्बन्धः। सद्धर्मातिशयारोपगर्भत्वं वा। संश्चासौ धर्मश्च सद्धर्मः विद्यमानः पदार्थस्य परिस्पन्दस्तस्मिन् यस्यकस्यचिदपूर्वस्यातिशयस्याद्भुतरूपस्य महिम्न आरोपः समर्पणं गर्भोऽभिप्रायो यस्य स तथोक्तस्य भावस्तत्त्वम्। तच्च वा यस्मिन् प्रतीयते। केन हेतुना—लोकोत्तरतिरस्कारश्लाघ्योत्कर्षाभिधित्सया। लोकोत्तरः सर्वातिशायी यस्तिरस्कारः खलीकरणं श्लाघ्यश्च स्पृहणीयो य उत्कर्षः सातिशयत्वं तयोरभिधित्सा अभिधातुमिच्छा-वक्तुकामता तया। कस्य वाच्यस्य। रूढिशब्दस्य वाच्यो योऽभिधेयोऽर्थस्तस्य। सोच्यते कथ्यते काप्यलौकिकी रूढिवैचित्र्यवक्रता। रूढिशब्दस्यैवंविधेन वैचित्र्येण विचित्रभावेन वक्रतावक्रभावः। तदिदमत्र तात्पर्यम्—यत्सामान्यमात्रस्पर्शिनां शब्दानामनुमानवन्नियतविशेषालिङ्गनं यद्यपि स्वभावादेव न किञ्चिदपि सम्भवति, तथाप्यनया युक्त्या कविविवक्षितनियतविशेषनिष्ठतां नीयमानाः कामपि चमत्कारकारितां प्रतिपद्यन्ते। यथा—

गर्भता। और अथवा वह जिस (रचना-कथन) मे प्रतीत होता है (उसे भी रूढि-वैचित्र्यवक्रता कहते हैं)। (असम्भाव्यधर्माध्यारोपगर्भता अथवा सद्धर्मातिशयारोप-गर्भता) किस प्रयोजन से होती है ?—(उत्तर है) लोकोत्तर तिरस्कार अथवा लोकोत्तर श्लाघ्य उत्कर्ष का अभिधान करने की इच्छा से। लोकोत्तर सबसे बढकर जो तिरस्कार—तुच्छीकरण और (लोकोत्तर जो) श्लाघ्य—अभिलषित उत्कर्ष सातिशयता, उन दोनो को अभिधान की इच्छा—कहने अभिलाषा, कथन की कामना उसके लिए। किसके (कथन की कामना से) ?—अर्थ की, रूढिशब्द का वाच्य जो अभिधेय अर्थ उसकी। वह कही जाती है कोई अलौकिक रूढ़िवैचित्र्यवक्रता। रूढ़िशब्द की इस प्रकार की वैचित्र्य-विचित्रभाव से वक्रता-वक्रभाव होता है। तो यहाँ यह तात्पर्य हुआ—कि यद्यपि सामान्य मात्र का स्पर्श करने वाले शब्दो का अनुमान की ही भाँति नियत विशेष (अर्थ) का स्पर्श (ग्रहण) स्वभाव से ही कुछ भी नही हो सकता तथापि इस युक्ति (रूढिवैचित्र्यवक्रता) से कवि के विवक्षित नियत विशेष (अर्थ—व्यङ्ग्यार्थ आदि) बोधकता को प्राप्त कराये जाते हुए किसी अनिर्वाच्य चमत्कारिता को प्राप्त होते है।

(सामान्य मात्र का बोधक होने के कारण अनुमान से सामान्य मात्र का ही बोध हो सकता है विशेष का नहीं, उसी प्रकार सामान्य मात्र का स्पर्श करने वाले शब्दों से अभिधेय अर्थ की ही प्रतीति हो सकती है अन्य विशेष व्यंग्य आदि का नही। जैसा कि आचार्य विश्वेश्वर ने माना है। और यहाँ योगदर्शन की पद्धति का सहारा लिया है, उचित प्रतीत होता है। विस्तार उनकी टीका मे उपलब्ध है।

उदाहरण जैसे—(गाथा आनन्दवर्द्धनकृत 'विषम-बाणलीला' की है जो ध्वन्या-लोक' तथा मम्मट के 'काव्यप्रकाश' एवं रुय्यक के 'अलङ्कारसर्वस्व' मे भी उदाहृत है)—

ताला जाअंति गुणा जाला दे सहिअएहि घेप्पंति।
रइकिरणानुग्गगहिआइ होंति कमलाइ कमलाइ॥
तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि॥२६॥

(इतिच्छाया।)

प्रतीयते इति क्रियापदवैचित्र्यस्यायमभिप्रायो यदेवंविधे विषये शब्दानां वाचकत्वेन न व्यापारः, अपि तु वस्त्वन्तरवत्प्रतीतिकारित्वमात्रेणेति युक्ति-युक्तमप्येतदिह नातिप्रतन्यते। यस्माद् ध्वनिकारेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽत्र सुतरां समर्थितस्तत् किं पौनरुक्त्येन।

एवं रूढिवैचित्र्यवक्रता मुख्यतया द्विप्रकारा सम्भवति—यत्र रूढिवाच्योऽर्थः स्वयमेव आत्मन्युत्कर्षं निकर्षं वा समारोपयितुकामः कविनोपनिबध्यते, तस्या-न्यो वा कश्चिद्वक्तेति। यथा—

गुण तभी (गुण) बनते है जब वे सहृदयों के द्वारा ग्रहण कर लिये जाते है। सूर्य की किरणो से अनुगृहीत ही कमल (वास्तव मे) कमल होते है॥ २६॥

(ध्वनिकार ने लक्षणामूला ध्वनि के दो भेद बताये है—अर्थान्तरसक्रमितवाच्य एव अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। यह उदाहरण अर्थान्तरसक्रमितवाच्य ध्वनि का है। यहाॅ द्वितीय 'कमल' पद अभिधेय कमल का वाचक न होकर लक्ष्मी या शोभा का पात्र सहस्रो वैचित्र्यो से युक्त होता है का बोधक है। कुन्तक ऐसे उदाहरणो को रूढिवैचित्र्य-वक्रता के अन्तर्गत मानते है)।

(उपर्युक्त कारिका ८ मे प्रयुक्त) 'प्रतीयते' इस क्रियापद के वैचित्र्य का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार के विषय (जहाॅ रूढि की असंभाव्य धर्माध्यारोपगर्भता अथवा सद्धर्मातिशयारोपगर्भता हो) मे (प्रकृत जैसे उदाहरणो में) शब्दो का व्यापार केवल वाचकता मात्र से ही नही होता, अपितु (शब्द के अभिधेयार्थ से अतिरिक्त) अन्य वस्तु की प्रतीतिकारिता (कविविवक्षित व्यंग्य आदि अर्थ की बोधकता) मात्र से ही (शब्द का व्यापार) युक्तियुक्त होता है। यही युक्तियुत् है तथापि यहाॅ उसका अधिक विस्तार नहीं किया जा रहा है। क्योकि यहाॅ ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने व्यंग्य-व्यञ्जकभाव का भलीभाॅति समर्थन किया है (जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ध्वनि-कार ने यहाॅ अर्थान्तरसक्रमितवाच्य ध्वनि माना है। कमल व्यञ्जक है और उससे उसकी अतिशय श्रीसम्पन्नता आदि अर्थ व्यञ्जित होते है)। क्योकि ध्वनिकार ने कही दिया है, अत फिर से उसे कहने की क्या आवश्यकता।

इस प्रकार रूढिवैचित्र्यवक्रता प्रधानतया दो प्रकार की हो सकती है—(१) जहाॅ कवि स्वयं ही अपने (वर्ण्य विषय) मे उत्कर्ष अथवा निकर्ष के समारोप करने की कामना से रूढ़िशब्द से वाच्य अर्थ का उपनिबन्धन करता है, (२) अथवा जहाॅ उस

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाकाघना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति ह हा हा देवि धीरा भव ॥२७॥

अत्र 'राम'शब्देन 'दृढं कठोरहृदय' 'सर्वं सहे' इति यदुभाभ्यां प्रतिपादयितुं न पार्यते, तदेवंविधविविधोद्दीपनविभावसहनसामर्थ्यकारणं दुःसहजनकसुताविरहव्यथाविसंष्ठुलेऽपि समये निरपत्रपप्राणपरिरक्षावैचक्षण्यलक्षणं संज्ञापदनिबन्धनं किमप्यसम्भाव्यमसाधारणं क्रौर्यं प्रतीयते। वैदेहीत्यनेन जलधरसमयसुन्दरपदार्थसन्दर्शनासहत्वसमर्पकं सजहसौकुमार्यसुलभं

(उत्कर्ष या निकर्ष) का वक्ता कोई और होता है। उदाहरण जैसे—(इस श्लोक को भी ध्वनिकार ने अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के उदाहरण मे प्रस्तुत किया है। बाद मे तो काव्यप्रकाशकार मम्मट आदि ने भी इसका प्रयोग किया है)—स्निग्ध एवं श्याम कान्ति से आकाश को लिप्त कर देने वाले तथा उडती बलाकाओ से युक्त मेघ, सूक्ष्म-जलकणोद्गारी हवाएँ, मेघो के मित्रभूत (शोभनहृदय) मयूरो की आह्लादपूर्ण मधुर ध्वनियाँ यह सब यथेच्छ रहे (इनसे मेरा कुछ बिगड़ता नही क्योकि) अतिशय कठोरहृदय मै 'राम हूँ' सब कुछ सह लूँगा। किन्तु हाय, हाय (ऐसे उद्दीपक समय मे) जानकी कैसे होगी ? आह, देवि, (पूज्यास्पदे सीते जहाँ कही भी हो) धैर्य रखो ॥ २७ ॥

यहाँ 'दृढं कठोरहृदयः' 'सर्वं सहे' इन दोनो ही पदो से जिस अर्थ का प्रतिपादन करना संभव नही है, 'राम' शब्द के द्वारा वह, इस प्रकार के विविध उद्दीपन विभाव सम्पत्ति को सहन करने की शक्ति का कारणभूत, जनकपुत्री सीता की अत्यन्त असहनीय वियोगव्यथा से विपरीत समय मे भी निर्लज्ज प्राणो की हर प्रकार से रक्षा की निपुणतारूप, 'राम' इस संज्ञा (व्यक्ति, न कि दशरथकुलोत्पन्न कौशल्यादि के स्नेहपात्र जानकीवल्लभ राम) पद का बोधक, कुछ अनिर्वचनीय, असंभवनीय तथा असामान्य क्रूरता व्यक्त हो रही है। और 'वैदेही' इस शब्द से (सीता की) मेघ-कालीन (उद्दीपक) सुन्दर पदार्थो के दर्शन की असहनता प्रस्तुत करने वाली, सहज सुकुमारतालभ्य अनिर्वर्णनीय कातरता समर्थित हो रही है। और वही जानकी पद के प्रथम (अभिधेय) अर्थ से विशिष्ट (कातरत्व आदि) अर्थ का बोध कराने वाले 'तु' पद का प्राण है।

(इस श्लोक की चारुता के लिए 'ध्वन्योक' एवं 'लोचन' की निम्न पक्तियाँ अधिक उपादेय हैं—

'इत्यत्र रामशब्द (अर्थान्तरे सङ्क्रमित·)। अनेन हि ॰व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणत· सञ्ज्ञी प्रत्याय्यते, न संज्ञिमात्रम्' । ध्व० ।

किमपि कातरत्वं तस्याः समर्प्यते। तदेव च पूर्वस्माद्विशेषाभिधायिनः 'तु' शब्दस्य जीवितम्।

विद्यमानधर्मातिशयवाच्याध्यारोपगर्भत्वं यथा—

ततः प्रहस्याह पुनः पुरन्दरं व्यपेतभीर्भूमिपुरन्दरात्मजः।
गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान्॥ २८॥

'रघु'शब्देनात्र सर्वत्राप्रतिहतस्वभावस्यापि सुरपतेस्तथाविधाध्यवसायव्याघातसामर्थ्यनिबन्धनः कोऽपि स्वपौरुषातिशयः प्रतीयते। 'प्रहस्ये'त्यनेनैत-

---

अर्थसहित लोचन की पंक्तियाँ—'अत्र श्लोके रामशब्द इति सङ्गतिः। स्निग्धया जलसम्बन्धसरसया श्यामलया द्रविडवनितोचितासितवर्णया कान्त्या चाकचक्येन लिप्तमाच्छुरितं वियन्नभो यैः। वेल्लन्त्यो विजृम्भमाणास्तथा चलन्त्यः परभागवशात्प्रहर्षवशाच्च बलाकाः सितपक्षिविशेषा येषु त एवंविधा मेघाः। एवं नभस्तावद् दुरालोकं वर्तते। दिशोपि दुःसहाः। यतः सूक्ष्मजलकणोद्गारिणो वाता इति मन्दमन्दत्वमेषामनियतदिगागमनं च बहुवचनेन सूचितम्। तर्हि गुहासु क्वचित्प्रविश्यासतामित्याह— पयोदानां ये सुहृदस्तेषु च सत्सु ये शोभनहृदया मयूरास्तेषामानन्देन हर्षेण कला षड्जसंवादिन्यो मधुराः केकाः शब्दविशेषाः ताश्च सर्वं पयोदवृत्तान्तं दुस्सहं स्मारयन्ति; स्वयं च दुस्सहा इति भावः। एवमुद्दीपनविभावोद्बोधितविप्रलम्भः परस्पराधिष्ठानत्वाद्रतेः विभावानां साधारणतामभिमन्यमानः इत एव प्रभृति प्रियतमा हृदये निधायैव स्वात्मवृत्तान्तं तावदाह—कामं सन्तु इति। दृढमिति सातिशयम्। कठोरहृदय इति, रामशब्दार्थध्वनिविशेषावकाशदानाय कठोरहृदयम्। अन्यथा रामपदं दशरथकुलोद्भवत्वकौसल्यास्नेहपात्रत्वबाल्यचरितजानकीलाभादिधर्मान्तरपरिणतमर्थं कथं न ध्वनेदिति। अस्मीति। स एवाहं भवामीत्यर्थः।···'अनेनेति। रामशब्देनानुपयुज्यमानार्थेनेति भावः। व्यङ्ग्य धर्मान्तर प्रयोजनरूप राज्यनिर्वासनाद्यसंख्येयम्। तच्चासंख्यत्वादभिधाव्यापारेणाशक्य समर्पणम्। क्रमेणार्प्यमाणमप्येकधीविषयभावाभावान्न, चित्रचर्वणापदमिति न चारुत्वातिशयकृत्। प्रतीयमानं तु तदसंख्यमनुद्भिन्नविशेषत्वेनैव किं किं रूपं न सहत इति चित्रमानकरसापूपगुडमोदकस्थानीयविचित्रचर्वणापदं भवति।·····'रामशब्दो धर्मान्तरपरिणतमर्थं लक्षयति। व्यङ्ग्यान्यसाधारणान्यशब्दवाच्यानि धर्मान्तराणि।'—लोचन।)

विद्यमान धर्म के अतिशय को व्यक्त करने वाले अध्यारोपगर्भता का उदाहरण जैसे—(रघुवंश ३।५१ का श्लोक है। रघु-इन्द्र-संवाद के समय रघु की इन्द्र से उक्ति है—) इसके बाद पृथ्वी के (पुरन्दर) इन्द्र (अधीश्वर दिलीप) के पुत्र (रघु) ने भयरहित होकर इन्द्र से पुनः हँसकर कहा कि यदि आपका यही निश्चय है कि (इस जगत् में मेरे इन्द्र के अतिरिक्त दूसरा और कोई शतक्रतु नहीं हो सकता, इसीलिए तुम्हारे पिता के अश्व का मैंने अपहरण किया है, और तुम अपने पूर्वजों के—

देवोपबृंहितम्। अन्यो वक्ता यत्र तत्रोदाहरणं यथा—

आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी शास्त्राणि चक्षुर्नवं
भक्तिर्भूतपतौ पिनाकिनि पदं लङ्केति दिव्यापुरी।
सम्भूतिर्द्रुहिणान्वये च तदहो नेदृग्वरो लभ्यते
स्याच्चेदेष न रावणः क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः ॥ २९ ॥

'रावण'शब्देनात्र सकललोकप्रसिद्धदशाननदुर्विलासव्यतिरिक्तमभिजनविवेकसदाचारप्रभावसम्भोगसुखसमृद्धिलक्षणायाः समस्तवरगुणसामग्रीसम्पदस्तिरस्कारकारणं किमप्यनुपादेयतानिमित्तभूतमौपहत्यं प्रतीयते।

सगर पुत्रो के मार्ग का अनुसरण न करो (वही ३।४९–५०) तो शस्त्र ग्रहण करो, रघु को विना जीते आप कृतार्थ नही हो सकते ॥ २८ ॥

यहाँ पर रघु शब्द से सर्वत्र अबाधित प्रभाववाले देवेन्द्र इन्द्र के उस प्रकार के (अश्वापहरणरूप) प्रयास को विनष्ट कर देने की सामर्थ्य को प्रस्तुत करने वाला कुछ अनिर्वचनीय ही रघु का अपना पराक्रमातिशय (रघु की अजेयता आदि) प्रतीत हो रही है। 'प्रहस्य' हँसकर (उपहास-सा करके) इस पद से यही यहाँ परिपुष्ट किया गया है।

ऊपर के दोनों उदाहरण 'स्निग्धश्यामल' तथा 'ततः प्रहस्याह' इत्यादि मे कविनिबद्ध वक्ता के द्वारा अपने मे उत्कर्ष लाने के लिए रूढ़ि की 'असंभाव्य धर्माध्यारोपगर्भता' प्रस्तुत की गयी है।

(रूढि की असंभाव्य धर्माध्यारोपगर्भता मे) अन्य वक्ता के माध्यम से जहाँ उत्कर्ष-अपकर्ष का आधान किया जाता है उसका उदाहरण जैसे—(बालरामायण का श्लोक ५।३६ है। शतानन्द जनक से रावण का उत्कर्ष बताते हुए कह रहे है—) (जिसकी) आज्ञा इन्द्र के चूडामणि की प्रणयवती है (इन्द्र शिर से धारण करता है, स्वीकार करता है), शास्त्र अभिनव नेत्र है (शास्त्रदृष्टि है), भूतपति पिनाकी भगवान् शङ्कर मे जिसकी भक्ति है, दिव्य लङ्का नगरी (निवास) स्थान है, और ब्रह्मा के वश मे जन्म हुआ है, तो अरे भाई ऐसा वर कहाँ मिलता है? यदि यह रावण न होता (तो सब कुछ ठीक ही था), किन्तु सभी गुण सर्वत्र होते ही कहाँ है ॥ २९ ॥

यहाँ 'रावण' शब्द से सकल जगत् प्रसिद्ध रावण के दुर्विलास को छोड़कर (उसके) कुल, विवेक, सदाचार, प्रभाव इत्यादि सम्भोगसुख की समृद्धिरूप वर के योग्य समस्त गुण-समूह विभव के तिरस्कारहेतुक (उसकी) अयोग्यता का कारणभूत कुछ अनिर्वाच्य ही दोष प्रतीत हो रहा है।

यहाँ भी ध्वनिवादी के अनुसार 'रावण' शब्द अर्थान्तर मे संक्रमित हुआ है। 'रावण' शब्द उसके लङ्काधिपति दशमुख होने का ही अर्थ नही व्यक्त कर रहा है प्रत्युत् समस्त जगती को रुलाने वाले, पीड़ित कर देने वाले उसके दुष्ट स्वभाव को

अत्रैव विद्यमानगुणातिशयाध्यारोपगर्भत्वं यथा—

'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम् ।। ३० ।।

अत्र 'राम'शब्देन सकलत्रिभुवनातिशायी रावणानुचरविस्मयास्पदं शौर्यातिशयः प्रतीयते।

एषा रूढिवैचित्र्यवक्रता प्रतीयमानधर्मवाहुल्याद् बहुप्रकारा भिद्यते। तच्च स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयम्। यथा—

गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम्।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे मा भूत्परीवाद न वा वतार ।। ३१ ।।

'रघु'शब्देनात्र त्रिभुवनातिशाय्यौदार्यातिरेकः प्रतीयते। एतस्यां वक्रतायामयमेव परमार्थो यत् सामान्यमात्रनिष्ठतामपाकृत्य कविविवक्षितविशेष-

---

व्यक्त कर रहा है। जिससे वर मे होने वाली समस्त योग्यता के रहते वह वर की पात्रता की तिरस्कारता को प्राप्त हो जाता है। यहाँ वक्ता रावण स्वयं न होकर दूसरा है। इसलिए यहाँ रूढ़िवैचित्र्यवक्रता का दूसरा प्रकार है।

यही (अर्थात् इसी प्रकरण मे अन्य वक्तृ प्रयुक्त कविनिबद्ध पदार्थ में) विद्यमान गुण के अतिशय की अध्यारोपगर्भता का उदाहरण जैसे—(यह श्लोक प्रथम उन्मेष मे भी आया है। पूरा श्लोक वही द्रष्टव्य है—) यह 'राम'चन्द्र है, (जिन्होंने) अपने पराक्रम के गुणों से लोको मे अतिशय (चरम) प्रसिद्धि पायी है ।। ३० ।।

यहाँ 'राम' शब्द से समस्त त्रैलोक्य से बढकर रावण के सेवक (माल्यवान्) मे उद्‌भूत विस्मयमूलक (राम का) अतिशय पराक्रम प्रतीत हो रहा है।

प्रतीयमान धर्मो के अनन्त होने के कारण यह रूढिवैचित्र्यवक्रता अनेक प्रकारो से भेदयुक्त होती है। और उसे स्वयं ही (प्रकरणादि के अनुसार) समझ लेना चाहिए। उदाहरणार्थ जैसे—(रघुवंश (५।२४) के इस श्लोक मे है। वर्णन उस समय का है जब गुरुदक्षिणार्थ कौत्स विश्वजित् यज्ञकर्त्ता रघु के पास जाते हैं और उनके द्वारा सपर्या मे प्रस्तुत मृण्मयपात्रों को देखकर कौत्स निराश होकर अन्य प्रदाता के पास जाने की बात सोचते है। इस पर महाराज रघु की उक्ति है—)

शास्त्र-पारङ्गत, गुरु (की दक्षिणा चुकाने) के लिए याचक (ऋषि कौत्स) रघु के पास से अपने अभीष्ट (की सिद्धि) को न पाकर किसी दूसरे दानी के पास चला गया (मेरे रघु के लिए) यह अपवाद का नया आविर्भाव नही होना चाहिए (अत आप जाये नही) ।। ३१ ।।

'रघु' शब्द से यहाँ (महाराज रघु की) त्रैलोक्य को भी अतिक्रान्त कर देने वाली उदारता का बाहुल्य प्रतीत हो रहा है। इस (रूढ़िवैचित्र्य) वक्रता मे यही तो रहस्य है कि (इसमे सामान्य अर्थ के अभिधायक भी शब्द) सामान्य मात्र अर्थ-गर्भता का परित्याग कर कवि के वक्तुमभिप्रेत विशेष (अर्थ) के प्रतिपादन की शक्तिरूप अतिशय शोभा समुद्भासित करता है। (यदि कोई कहे कि रूढ़िपरक)

प्रतिपादनसामर्थ्यलक्षणः शोभातिशयः समुल्लास्यते। संज्ञाशब्दानां नियतार्थनिष्ठत्वात् सामान्यविशेषभावो न कश्चित् सम्भवतीति न वक्तव्यम्। यस्मात्तेषामप्यवस्थासहस्रसाधारणवृत्तेर्वाच्यस्य नियतदशाविशेषवृत्तिनिष्ठता सत्कविविवक्षिता सम्भवत्येव, स्वरश्रुतिन्यायेन लग्नांशुकन्यायेन चेति ॥ ९ ॥

एवं रूढिवक्रतां विवेच्य क्रमप्राप्तसमन्वयां 'पर्यायवक्रतां' विविनक्ति—

अभिधेयान्तरतमस्तस्यातिशयपोषकः।
रम्यच्छायान्तरस्पर्शात्तदलङ्कर्तुमीश्वरः ॥ १० ॥
स्वयं विशेषणेनापि स्वच्छायोत्कर्षपेशलः।
असम्भाव्यार्थपात्रत्वगर्भं यश्चाभिधीयते ॥ ११ ॥
अलङ्कारोपसंस्कार मनोहारि निबन्धनः।
पर्यायस्तेन वैचित्र्यं परां पर्यायवक्रता ॥ १२ ॥

संज्ञा मात्र के (बोधक रघु आदि शब्द दिलीप-पुत्र आदि) नियत (व्यक्ति विशेष) अर्थ-परक होने के कारण उनमे सामान्य-विशेषभाव नाम की कोई वस्तु नहीं होनी चाहिए, (सामान्य अर्थबोधक रघु-राम आदि शब्द विशेष अर्थ की प्रतीति नही करा सकते) ? तो ऐसा नही कहना चाहिए, क्योकि 'स्वरश्रुतिन्याय' तथा 'लग्नांशुक-न्याय' से उन (संज्ञाबोधक रामादि शब्दो) मे भी असंख्य अवस्थाबोधक साधारण अर्थनिष्ठतायुक्त वाच्य की सत्कवि की विवक्षा के अनुसार नियत दशाविशेष की अर्थनिष्ठता (अर्थबोधक सामर्थ्य) हो ही सकती है ॥ ९ ॥

इस प्रकार से पदपूर्वार्द्धवक्रता के एक भेद रूढ़िवक्रता का विवेचन कर क्रम-प्राप्त समन्वयित 'पर्यायवक्रता' का व्याख्यान करते है—

अभिधेय का अत्यन्त समीपवर्ती अन्तरङ्ग, उसके अतिशय का पोषक, स्वयं अथवा अपने विशेषण के द्वारा या (अभिधेयार्थ से व्यतिरिक्त) अन्य रमणीय शोभा का स्पर्श करने के कारण उस (अभिधेयार्थ) को अलंकृत करने मे समर्थ, अपने ही कान्ति के उत्कर्ष से पेशल, और जो (पर्याय) असंभावित अर्थ की योग्यता शक्ति) से गर्भित कहा जाता है, तथा अलंकार से अलंकृत या अलङ्कारो का उपस्कार करने के कारण मनोहारी विन्यासयुक्त जो पर्याय है उससे होने वाली वक्रता जहॉ होती है वह कोई और ही पर्यायवक्रता होती है ॥ १०–१२ ॥

पूर्वोक्त (१०–१२ कारिका प्रोक्त) विशेषणो से विशेषित काव्य के विषय मे जो पर्याय पद का प्रयोग होता है, उसके कारण जो वैचित्र्य—विचित्रभाव अर्थात् विशेष प्रकार की शोभासृष्टि होती है, वह अतिशय–प्रकृष्ट कोई ही पर्यायवक्रता ऐसा कही जाती है। पर्यायप्रधान शब्द पर्याय कहा जाता है। उसकी पर्यायप्रधानता यही है कि, वह कभी तो विवक्षित विषय मे (उसके) वाचक के रूप मे प्रवर्तित होता है और कभी (उसके वाचक) अन्य शब्द (पर्याय) का प्रयोग किया जाता है। इसलिए पूर्वोक्त प्रकार से पर्याय के अनेक प्रकार कहे गये है। तो इसके कितने

पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टः काव्यविषये पर्यायस्तेन हेतुना यद् वैचित्र्यं विचित्रभावो विच्छित्तिविशेषः सा परा प्रकृष्टा काचिदेव पर्यायवक्रतेत्युच्यते। पर्यायप्रधानः शब्दः पर्यायोऽभिधीयते। तस्य चैतदेव पर्यायप्राधान्यं यत् स कदाचिद्विवक्षिते वस्तुनि वाचकतया प्रवर्तते, कदाचिद्वाचकान्तरमिति। तेन पूर्वोक्तनीत्या बहुप्रकारः पर्यायोऽभिहितः। तत्कियन्तोऽस्य प्रकाराः सन्तीत्याह—अभिधेयान्तरतमः। अभिधेयं वाच्यं वस्तु तस्यान्तरतम प्रत्यासन्नतमः। यस्मात् पर्यायशब्दत्वे सत्यप्यन्तरङ्गत्वात् स यथा विवक्षितं वस्तु व्यनक्ति तथा नान्यः कश्चिदिति। यथा—

नाभियोक्तुमनृतं त्वमिष्यसे कस्तपस्वि विशिखेषु चादरः।
सन्ति भूभृति हि नः शराःपरे ये पराक्रमवसूनि वज्रिणः ॥ ३२ ॥

अत्र महेन्द्रवाचकेष्वसंख्येयेषु सत्स्वपि पर्यायशब्देषु 'वज्रिणः' इति प्रयुक्तः पर्यायवक्रतां पुष्णाति। यस्मात् सततसन्निहितवज्रस्यापि सुरपतेर्ये 'पराक्रम-

---

प्रकार है ? यह कहते है—अभिधेयान्तरतमः से—वाच्यवस्तु (कही-कही पर्याय) उसका अन्तरतम, अत्यन्त नजदीकी होता है। क्योकि (उसके) पर्याय अन्य शब्दों के होने पर भी (क्योकि विवक्षित वस्तु का) यही नजदीकी, समीपवर्ती होता है, इसलिए विवक्षित वस्तु को वह जितना अच्छा व्यक्त करता है उतना कोई और (शब्द) नही। उदाहरण जैसे—(श्लोक किरात १३।५८ का है। शूकरशरीरधारी मूक दानव पर तपस्यारत अर्जुन और उनकी परीक्षा-हेतु गये वनचररूपधारी भगवान् पिनाकी शङ्कर एक साथ बाण-प्रहार करते है। किरात शिव का अनुचर किरात अर्जुन के पास जाकर अपने स्वामी का पक्ष लेते हुए कह रहा है कि—'हम तुम्हे असत्य से अभियुक्त नही कर रहे है, तपस्वी के बाणों मे कौन-सी आस्था (हो सकती है)। हमारे स्वामी के पास अन्य तमाम बाण है जो इन्द्र के शौर्य-विभव (से भी बढ़कर) हैं ॥ ३२ ॥

इन्द्र अर्थ के वाचक असख्य शब्दो के रहने पर भी यहाँ प्रयुक्त 'वज्री' शब्द पर्यायवक्रता का परिपोष कर रहा है। क्योकि सदैव वज्रयुक्त देवेन्द्र इन्द्र के भी जो 'पराक्रमवसु' विक्रम धन है, इस प्रकार (किराताधिप के) बाणो की लोकोत्तरता की प्रतीति हो रही है। 'तपस्वि' शब्द भी यहाँ अति ही रमणीय है। क्योंकि वीरों के बाणों के प्रति आदर तो कदाचित् ठीक भी हो सकता है किन्तु कुछ भी न कर सकने वाले व्यर्थ तपस्वियों के बाणो के प्रति क्या आदर (हो सकता है) ?

अथवा जैसे—(शिव-काम का परस्पर संभाषण है)—(शिव कहते है)—तुम कौन हो ? (काम—) मुझे जान ही जाओगे। (शिव)—काम, मुझे जानते हो (मेरा स्मरण है) ? (काम)—सौभाग्य से (जानता हूँ आप कौन है)। (शिव—) क्यों आये हो ? (काम—) तुम्हे उन्मादयुक्त करने। (शिव—) कैसे (उन्मत्त

वसूनि' विक्रमधनानीति सायकानां लोकोत्तरत्वप्रतीतिः। 'तपस्वि'शब्दोऽप्यतितरां रमणीयः। यस्मात्सुभटसायकानामादरो बहुमानः कदाचिदुपपद्यते, तापसमार्गणेषु पुनरकिञ्चित्करेषु कः सरम्भ इति।

यथा वा—

कस्त्वं ज्ञास्यसि मां स्मर स्मरसि मां दिष्ट्या किमभ्यागत-
स्त्वामुन्मादयितुं कथं ननु बलात् किन्ते बलं पश्य तत्।
पश्यामीत्यभिधाय पावकमुचा यो लोचने नैव तं
कान्ताकण्ठनिषक्तबाहुमदहत् तस्मै नमः शूलिने ॥ ३३ ॥

अत्र परमेश्वरे पर्यायसहस्रेष्वपि सम्भवत्सु 'शूलिनः' इति यत्प्रयुक्तं तत्रायमभिप्रायो यत् तस्मै भगवते नमस्कारव्यतिरेकेण किमन्यदभिधीयते। यत्तथाविधोत्सेकपरित्यक्तविनयवृत्तेः स्मरस्य कुपितेनापि तदभिमतावलोकव्यतिरेकेण तेन सततसन्निहितशूलेनापि कोपसमुचितमायुधग्रहणं नाचरितम्।

करोगे)? (काम—) बलपूर्वक। (शिव—) तुम्हारा बल क्या है? (काम—) तो उसे देखो। (शिव—) देखता हूँ, ऐसा कहकर जिन्होंने अग्निवर्षी (तृतीय भालस्थलस्थ विषम) नेत्र से ही अपनी प्रियतमा के गले मे बॉह डाले उस काम को भस्म कर डाला, उन शूलधारी भगवान् शिव को नमस्कार है ॥ ३३ ॥

परमेश्वर भगवान् शिव के सहस्रो पर्याय संभव होने पर भी 'शूलिनः' यह पद जो प्रयुक्त किया गया है तो उसका यह अभिप्राय है कि उन भगवान् को नमस्कार के बिना और क्या कहा जा सकता है कि उस प्रकार से अवलेप के कारण विनम्र व्यवहार का परित्याग कर देने वाले कामदेव के प्रति क्रुद्ध भी तथा निरन्तर त्रिशूल पास मे रहने पर भी उन भगवान् शिव ने उस (काम) के अभिमत दृष्टिपात के अतिरिक्त क्रोध के उपयुक्त शस्त्र (त्रिशूल) को ग्रहण करने का प्रयास नही किया। (इस प्रकार) दृष्टिपात मात्र से क्रोध का कार्य (शस्त्र से सम्पन्न होने वाला काम-विनाशरूप कृत्य) कर देने के कारण भगवान् शिव का प्रभाव अत्यधिक परिपुष्ट हुआ है। इसलिए उन भगवान् शिव को नमस्कार है यह कथन युक्तियुक्तता को प्राप्त हो जाता है।

पदपूर्वार्द्धवक्रता का कारणभूत यह दूसरा पर्याय (वक्रत्व) प्रकार है—जो उस (अभिधेयार्थ) के अतिशय का पोषक होता है। उस अभिधेय अर्थ का अतिशय, उत्कर्ष जो परिपुष्ट करता है वह हुआ तथोक्त 'तस्यातिशयपोषक'। क्योकि सहज सौकुमार्य-गुणसम्पन्न सुन्दर भी पदार्थ उस पर्याय से परिपुष्ट अतिशय वाला होकर अत्यन्त सहृदय हृदयहारिता को प्राप्त हो जाता है। जैसे—(राजशेखरकृत बालरामायण १०।४१ के इस श्लोक मे है, जहॉ भगवान् श्री रामचन्द्र जी पुष्पक से अयोध्या लौटते समय मार्ग मे भगवती जानकी को चन्द्रछवि दिखाते कह रहे है—)

लोचनपातमात्रेणैव कोपकार्यकरणाद्भगवतः प्रभावातिशयः परिपोपितः। अत एव तस्मै नमोऽस्त्विति युक्तियुक्ततां प्रतिपद्यते।

अयमपरः पदपूर्वार्द्धवक्रताहेतुः पर्यायो यस्तस्यातिशयपोपकः। तस्याभिधेयस्यार्थस्यातिशयमुत्कर्षं पुष्णाति यः स तथोक्तः। यस्मात् सहजसौकुमार्यसुभगोऽपि पदार्थस्तेन परिपोपितातिशयः सुतरां सहृदयहृदयहारितां प्रतिपद्यते। यथा—

सम्बन्धी रघुभूभुजां मनसिजव्यापारदीक्षागुरु-
गौराङ्गीवदनोपमापरिचितस्तारावधूवल्लभः।
सद्योमार्जितदाक्षिणात्यतरुणीदन्तावदातद्युति-
श्चन्द्रः सुन्दरि दृश्यतामयमितश्चण्डीशचूडामणिः॥ ३४॥

अत्र पर्यायाः सहजसौन्दर्यसम्पदुपेतस्यापि चन्द्रमसः सहृदयहृदयाह्लादकारणं कमप्यतिशयमुत्पादयन्तः पदपूर्वार्द्धवक्रतां पुष्णन्ति। तथा रामेण रावणं निहत्य पुष्पकेन गच्छता सीतायाः सविभ्रमं स्वैरकथास्वेतदभिधीयते 'यच्चन्द्रः

अयि शोभने सीते, इधर इस रघुवंशी राजाओ के सम्बन्धी, कामक्रिया के दीक्षागुरु, गौर अङ्ग सुन्दरियो के मुख की उपमा के लिए विख्यात, तारा (नक्षत्र) वधुओ के प्रियतम, तत्काल शुद्ध किये गये दक्षिणी युवतियों के दाँतो की भाँति स्वच्छ कान्ति तथा भवानीपति शङ्कर के शिरोभूपण चन्द्रमा को देखो॥ ३४॥

स्वाभाविक सौन्दर्य-श्री से सयुक्त भी चन्द्रमा के (प्रयुक्त) पर्याय यहाँ सहृदय हृदय के आह्लादहेतुक किसी अनिर्वचनीय उत्कर्प की सृष्टि करते हुए पदपूर्वार्द्धवक्रता को परिपुष्ट कर रहे है। जैसे कि, रावण को मार कर पुष्पक से (अयोध्या) जाते हुए राम सीता से स्वतन्त्र वार्ताओं मे यह कह रहे है 'कि हे सुन्दरि! चन्द्रमा को देखो।' रमणीयता से मन हरण करने वाले सम्पूर्ण जगत् के नेत्रानन्दक चन्द्रमा की ओर ध्यान दो। क्योंकि उस प्रकार के लोगों के लिए ही उस प्रकार का (चन्द्रमा) विधिवत् विचार का विषय हो सकता है। 'रघुवंशी राजाओ का सम्बन्धी है' इस कथन से 'यह हमारा नय बन्धु नही है, इसलिए दर्शन से इसे सम्मानित करो' इस प्रकार प्रकारान्तर से भी चन्द्र-विषयक अत्यादर प्रतीत हो रहा है। और अवशिष्ट अन्य (पर्याय) भी उस चन्द्रमा के उत्कर्ष आधान की अपनी तत्परता ही प्रख्यापित करते है और उसी कारण से प्रस्तुत अर्थ (चन्द्रमा) के प्रति प्रत्येक पर्यायो के द्वारा पृथक्-पृथक् रूप से उत्कर्प प्रकट किये जाने से बहुत से पर्यायो का प्रयोग होने पर भी पुनरुक्तभाव नहीं प्रतीत होता। यहीं तीसरे पाद मे विशेषणवक्रता विद्यमान है, पर्यायवक्रता नहीं।

पदपूर्वार्द्धवक्रता को प्रस्तुत करने वाला पर्यायवक्रता का यह अन्य प्रकार है—जो उस (अभिधेय) को अलङ्कृत कर सकने मे समर्थ हो। जो उस अभिधेयरूप वस्तु को विभूषित करने मे समर्थ होता है, यह अर्थ हुआ। किसके द्वारा?—रमणीय

सुन्दरि दृश्यताम्' इति। रामणीयकमनोहारिणि सकललोकलोचनोत्सवश्चन्द्रमा विचार्यतामिति। यस्मात्तथाविधानमेव तादृशः समुचितो विचारगोचरः। सम्बन्धी रघुभूभुजामित्यनेन चास्माकं नापूर्वो बन्धुरयमित्यवलोकनेन सम्मान्यतामिति प्रकारान्तरेणापि तद्विषयो बहुमानः प्रतीयते। शिष्टाश्च तद-तिशयाधानप्रवणत्वमेवात्मनः प्रथयन्ति। तत एव च प्रस्तुतमर्थं प्रति प्रत्येकं पृथक्त्वेनोत्कर्षप्रकटनात् पर्यायाणां बहूनामप्यपौनरुक्त्यम्। तृतीये पादे विशेषणवक्रता विद्यते, न पर्यायवक्रत्वम्।

अयमपरः पर्यायप्रकारः पदपूर्वार्द्धवक्रता निबन्धनः—यस्तदलङ्कर्तुमीश्वरः। तदभिधेयलक्षणं वस्तु विभूषयितुं यः प्रभवतीत्यर्थः। कस्मात्—रम्यच्छाया-न्तरस्पर्शात्। रम्यं रमणीयं यच्छायान्तरं विच्छित्त्यन्तरं श्लिष्टत्वादि, तस्य स्पर्शात् शोभान्तरप्रतीतेरित्यर्थः। कथम्—स्वयं विशेषणेनापि। स्वयमात्म-नैव, स्वविशेषणभूतेन पदान्तरेण वा। तत्र स्वयं यथा—

इत्थं जडे जगति को नु बृहत्प्रमाण-
कर्णः करी ननु भवेद्ध्वनितस्य पात्रम्।

शोभान्तर के स्पर्श से। रम्य, रमणीय जो अन्य छाया दूसरी विच्छित्ति श्लिष्टत्व आदि उसके स्पर्श से, अर्थात् (अभिधेयार्थ से व्यतिरिक्त) अन्य शोभा की (व्यङ्ग्यार्थ की) प्रतीति से, यह अर्थ हुआ। कैसे?—स्वयं तथा विशेषण से भी। स्वयं अपने ही अथवा अपने विशेषणभूत अन्य पदो के द्वारा। उनमे भी स्वयं (पर्याय) जैसे (अभिधेय को विभूषित करता है का उदाहरण)—

इस जड़लोक मे विशाल कर्ण एवं शुण्डा-दण्ड (प्रशस्त कर्ण एवं हाथो वाला, सुनने और देने मे समर्थ) और कौन मेरे झङ्कार (निवेदन का) पात्र हो सकता है (ऐसा समझकर) आये हुए भ्रमर को (याचक को) जिसने मसल डाला। वह मातङ्ग (हाथी, चाण्डाल) तो है ही, इससे अधिक उसे और क्या कहा जाय॥ ३५॥

यहाँ 'मातङ्ग' शब्द प्रस्तुत हस्ति मात्र मे प्रवर्तित होता है। अवशिष्ट (लक्षणा) वृत्ति से अप्रस्तुत चाण्डालरूप वस्तु की प्रतीति पैदा करता हुआ, रूपक अलङ्कार की छाया के सस्पर्श से 'गौर्वाहीक.' इस प्रक्रिया से सादृश्यमूलक उपचार संभव होने के कारण प्रस्तुत वस्तु हाथी के भावो का (अप्रस्तुत चाण्डाल पर) अध्यारोप कराता हुआ (मातङ्ग शब्द ही) पर्यायवक्रता को परिपुष्ट कर रहा है। क्योकि इस प्रकार के विषय मे प्रस्तुत का अप्रस्तुत के साथ सम्बन्ध निबन्धन रूपक अलङ्कार के द्वारा और कदाचित् उपमा द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। जैसे 'वही यह है' तथा 'यह उसके समान है' (इस प्रकार से रूपक एव उपमामुख से निबन्धन किया जाता जाता है)। और शब्दशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य पदध्वनि का यही (ध्वनिवाद मे) विषय होता है। अथवा इस प्रकार के अनेक प्रयोग होने पर शब्दशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य वाक्य-ध्वनि के विषय होते है।

इत्यागतं झटिति योऽलिनमुन्ममाथ
मातङ्ग एव किमतःपरमुच्यतेऽसौ ॥ ३५ ॥

अत्र 'मातङ्ग–'शब्दः प्रस्तुते वारणमात्रे प्रवर्तते। शिष्ट्या वृत्त्या चाण्डाललक्षणस्याप्रस्तुतस्य वस्तुनः प्रतीतिमुत्पादयन् रूपकालङ्कारच्छायासंस्पर्शाद् गौर्वाहीकः इत्यनेन न्यायेन सादृश्यनिबन्धनस्योपचारस्य सम्भवात् प्रस्तुतस्य वस्तुनस्तत्त्वमध्यारोपयन् पर्यायवक्रतां पुष्णाति। यस्मादेवंविधे विषये प्रस्तुतस्याप्रस्तुतेन सम्बन्धोपनिबन्धो रूपकालङ्कारद्वारेण कदाचिदुपमामुखेन वा। यथा स एवायं, स इवायमिति वा। एप एव च शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य पदध्वनेर्विषयः, बहुपु चैवंविधेपु सत्सु वाक्यध्वनेर्वा।

यथा—

कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नुत्फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो व्यजृम्भत ग्रीष्माभिधानो महाकालः॥ ३६ ॥

यथा वा—

वृत्तेऽस्मिन् महाप्रलये धरणीधारणायाधुना त्वं शेप इति ॥ ३७ ॥

अत्र युगादयः शब्दाः प्रस्तुताभिधानपरत्वेन प्रयुज्यमानाः सन्तोऽप्यप्रस्तुतवस्तुप्रतीतिकारितया कामपि काव्यच्छायां समुन्मीलयन्तः प्रतीयमानालङ्कारव्यपदेशभाजनं भवन्ति।

और जैसे (हर्पचरित के द्वितीय उच्छ्‌वास मे निबद्ध ग्रीष्मऋतु के इस वर्णन मे)—

पुष्प-समय (वसन्तऋतु) के युग (काल-दो महीने) की परिसमाप्ति (उपसहार) करता हुआ, धवल प्रासाद जैसी खिली हुई शुभ्र मल्लिका (जुही) के (हास) विकास से युक्त ग्रीष्म नाम का 'महाकाल' जम्हाई लेने लगा (प्रारम्भ हो गया)॥ ३६ ॥

अथवा जैसे (वही हर्षचरित से ही लिया गया उदाहरण)—इस महाप्रलय (आनन्द के सर्वत विनाशरूप पिता प्रभाकर वर्द्धन आदि के विनाश) के हो जाने पर पृथ्वी को धारण करने के लिए अब तुम्ही (हर्प) ही शेष (बचे) हो ॥ ३७ ॥

(महाप्रलय के हो जाने पर पृथ्वी को धारण करने के लिए शेप भगवान् ही रह जाते है। ऊपर के दोनो ही उदाहरण शब्दशक्त्युत्थ वाक्यध्वनि के उदाहरण है जिन्हे यहाँ कुन्तक पर्यायवक्रता के अन्तर्गत प्रस्तुत किये है।)

यहाँ पर युग आदि शब्द प्रस्तुत अर्थ (ग्रीष्म समय आदि) के वाचकरूप मे प्रयुक्त किये जाते हुए भी अप्रस्तुत वस्तु (महाशिव आदि) की प्रतीति कराने वाले होने के कारण किसी अपूर्व काव्यसौन्दर्य को समुन्मीलित करते हुए प्रतीयमान (वाक्यगत शब्दशक्तिमूल) अलङ्कार ध्वनि के अभिधान के पात्र होते हैं।

विशेषण के माध्यम जैसे—उत्तम महिलावृन्द ने अतिशय मनोहारी, लावण्योपेत, शुभ्र तथा विशाल नेत्र, सुन्दर एव हाव-भावादि पूर्ण (इस) नायक को देखकर आज यह जाना कि भगवान् शङ्कर ने (जिस) काम को जलाकर राख कर दिया था

विशेषणेन यथा—

सुस्निग्धमुग्धधवलोरुदृशं विदग्ध-
मालोक्य यन्मधुरमद्यविलासदिग्धम् ।
भस्मीचकार मदनं ननु काष्ठमेव-
तन्नूनमीश इति वेत्ति पुरन्ध्रिलोकः ॥ ३८ ॥

अत्र काष्ठमिति विशेषणपदं वर्ण्यमानपदार्थापेक्षया मन्मथस्य नीरसतां प्रतिपादयद् रम्यच्छायान्तरस्पर्शिश्लेषच्छायामनोज्ञस्पर्शिश्लेषच्छायामनोज्ञ-विन्यासपरमस्मिन्वस्तुन्यप्रस्तुते मदनाभिधानपादपलक्षणे प्रतीतिमुत्पादयन् रूपकालङ्कारच्छायासंस्पर्शात् कामपि पर्यायवक्रतामुन्मीलयति ।

अयमपरः पर्यायप्रकारः पदपूर्वार्द्धवक्रतायाः कारणम्—यः स्वच्छायोत्कर्षपेशलः । स्वस्यात्मनश्छाया कान्तिर्या सुकुमारता तदुत्कर्षेण तदतिशयेन यः पेशलो हृदयहारी । तदिदमत्र तात्पर्यम् । यद्यपि वर्ण्यमानस्य वस्तुनः प्रकारान्तरोल्लासकत्वेन व्यवस्थितिस्तथापि परिस्पन्दसौन्दर्यसम्पदेव सहृदय-हृदयहारितां प्रतिपद्यते । यथा—

इत्थमुत्कयति ताण्डवलीलापण्डिताब्धिलहरीगुरुपादैः ।
उत्थितं विषमकाण्डकुटुम्बस्यांशुभिः स्मरवती विरहो माम् ॥ ३९ ॥

वह निश्चय ही काष्ठ ही था (अन्यथा ऐसे सौन्दर्योपेत कामरूप व्यक्ति की उपलब्धि कैसे हो सकती थी) ॥ ३८ ॥

यहाँ पर प्रस्तुत (कामदेव का) 'काष्ठ' यह विशेषण पद वर्ण्यमान (व्यक्तिरूप) पदार्थ की अपेक्षा काम की नीरसता को प्रतिपादित करता हुआ रमणीय दूसरी कान्ति का स्पर्श कर रहे श्लेष अलङ्कार की कान्ति से युक्त मनोज्ञ विन्यासयुक्त, अप्रस्तुत इस मदन नामक वृक्षरूप वस्तु मे प्रतीति पैदा करता हुआ रूपक नामक अलङ्कार की शोभा के सस्पर्श से किसी अपूर्व पर्यायवक्रता को उन्मीलित कर रहा है ।

पदपूर्वार्द्धवक्रता का हेतुभूत यह दूसरा पर्याय (का चौथा भेद) प्रकार है—जो अपनी शोभा के उत्कर्ष से ही रमणीय होता है । स्व की, अपनी छाया—जो कान्ति, सुकुमारता, उसके उत्कर्ष अतिशय के द्वारा जो (पर्याय) पेशल हृदयहारी होता है । तो यहाँ यह तात्पर्य है—यद्यपि वर्ण्यमान (प्रस्तुत) वस्तु की अवस्थिति अन्य प्रकार (अभिधेय से व्यतिरिक्त अर्थ) को प्रकाशित करने वाली होती है, फिर भी (वस्तु की) स्वभावगत सौन्दर्यसम्पत्ति ही सहृदयो की हृदयहारिता को प्राप्त हो पाती है । जैसे—ताण्डवलीला की विक्षचण, समुद्रलहरियो की आचार्य विषमशर (कामदेव) के कुटुम्बी (चन्द्रमा) की किरणो से इस प्रकार (परेशान होकर शयनादि से) उठे हुए मुझे कामिनी (प्रियतमा) का वियोग उत्कण्ठित कर रहा है ॥ ३९ ॥

यहाँ पर कवि ने इन्दु (चन्द्रमा) के पर्याय 'विषमकाण्डकुटुम्ब' शब्द का उपनिबन्धन किया है। (इस पर्याय विषमकाण्ड-विषमशर—पञ्चबाण-कामदेव—के कुटुम्बी सहायक अभीष्ट चन्द्रमा का प्रयोग यहाँ इसलिए किया गया है) क्योकि (विरहो-

अत्रेन्दुपर्यायो 'विषमकाण्डकुटुम्ब'शब्दः कविनोपनिबद्धः। यस्मान्मृगाङ्कोदयद्वेषिणा विरहविधुरहृदयेन केनचिदेतदुच्यते। यदयमप्रसिद्धोऽप्यपरिम्लानसमन्वयतया प्रसिद्धतमतामुपनीतस्तेन प्रथमतरोल्लिखितत्वेन च चेतनचमत्कारितामवगाहते। एष च स्वच्छायोत्कर्षपेशलः सहजसौकुमार्यसुभगत्वेन नूतनोल्लेखविलक्षणत्वेन च कविभिः पर्यायान्तरपरिहारपूर्वकमुपवर्ण्यते। यथा कृष्णकुटिलकेशीति वक्तव्ये यमुनाकल्लोलवक्रालकेति। यथा वा गौराङ्गीवदनोपमापरिचित इत्यत्र वनितावाचकसहस्रसद्भावेऽपि गौराङ्गीत्यभिधानमतीव रमणीयम्।

अयमपरः पर्यायप्रकारः पदपूर्वार्द्धवक्रताभिधायी—असम्भाव्यार्थपात्रत्वगर्भं यश्चाभिधीयते। वर्ण्यमानस्यासम्भाव्यः सम्भावयितुमशक्यो योऽर्थः कश्चित्परिस्पन्दस्तत्र पात्रत्वं भाजनत्वं गर्भोऽभिप्रायो यत्राभिधाने तत्तथाविधं कृत्वा यश्चाभिधीयते भण्यते।

द्दीपक होने के कारण) चन्द्रोदय से विद्वेष रखने वाले (प्रियतमा के) वियोग से व्यथित किसी के द्वारा यह बात कही जा रही है। जो (चन्द्रमा के पर्याय के रूप मे) अप्रसिद्ध भी यह ('विषमकाण्डकुटुम्ब' पर्याय) नूतनता—अपरिम्लानता से सम्बन्धित होने के कारण अत्यन्त प्रसिद्धिभाव को प्राप्त करा दिया गया है, इसलिए (चन्द्रमा के पर्यायरूप मे) सर्वप्रथम उल्लिखित होने के कारण सहृदय प्राणियो की चमत्कारिता का अवगाहन करता है। और अपनी ही कान्ति के अतिशय से रमणीय यह पर्याय, स्वाभाविक सुकुमारता से सुन्दर होने के कारण तथा (और प्रचलित पर्यायो की अपेक्षा) नवीन कथन होने से अपूर्व होने के कारण कवियो द्वारा अन्य पर्यायों का परित्याग करते हुए (काव्यादि मे) उपवर्णित किया जाता है। (अन्य उदाहरण देकर इसे और भी स्पष्ट करने का प्रयास करते है) जैसे—काले एवं 'कुञ्चित केशो वाली' (कृष्ण-कुटिल-केशी) ऐसा कथनीय होने पर 'यमुना की लहरियो की भॉति वक्र अलको वाली' (यमुनाकल्लोलवक्रालका) ऐसा कह देते है। अथवा (२।३४ के उद्धृत श्लोक मे आये पाद) 'गौराङ्गी वदनोपमा परिचितः' इस प्रयोग मे (स्त्रीवाचक) वनिता आदि सहस्रो बोधक शब्दो के रहते भी 'गौराङ्गी' यह कथन (अत्यन्त अग्राम्य होने के कारण) अतिशय रमणीय है।

पदपूर्वार्द्धवक्रता का अभिधायक यह अन्य (पॉचवॉ) पर्याय (वक्रता) का भेद हैं—जो (पर्याय) असंभाव्य अर्थ की पात्रता से गर्भित कहा जाता है—'असंभाव्यार्थपात्रत्वगर्भं यश्चाभिधीयते'। वर्ण्यमान विषय का असंभाव्य—अशक्य संभावित जो अर्थ, कोई (अनिर्वाच्य) स्वभाव, उसकी पात्रता—भाजनता (योग्यता, अर्हता आदि) का गर्भ—अभिप्राय जिस कथन मे (निहित होता है) वह (पर्याय) उस प्रकार से (ही असंभाव्यार्थ-पात्रत्वगर्भित) करके ही जो वाच्य होता है, कहा जाता है (उसे असंभाव्यार्थपात्रत्वगर्भ कहते है)। उदाहरण जैसे (रघुवंश २।३४ का यह श्लोक)—गुरु की धेनु नन्दिनी की सेवा मे तत्पर दिलीप आक्रमित गाय की रक्षार्थ आक्रमणकारी सिंह पर

यथा—

अलं महीपाल तव श्रमेण
प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात्।
न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः
शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥ ४० ॥

अत्र महीपालेति राज्ञः सकलपृथ्वीपरिरक्षणक्षमपौरुषस्यापि तथाविधप्रयत्नपरिपालनीयगुरुगोरूपजीवमात्रपरित्राणसामर्थ्यं स्वप्नेऽप्यसम्भावनीयं यत्तत्पात्रत्वगर्भमामन्त्रणमुपनिबद्धम्। यथा वा—

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौ-
रेका भवेत्स्वस्तिमती त्वदन्ते।
जीवन् पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः
प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि ॥ ४१ ॥

अत्र यदि प्राणिकरुणाकारणं निजप्राणपरित्यागमाचरसि तदप्ययुक्तम्। यस्मात्त्वदन्ते स्वस्तिमती भवेदियमेकैव गौरिति त्रितयमप्यनादरास्पदम्।

प्रहार के लिए तूणीर से बाण निकालना चाहते है, वे वहीं अवरुद्ध हो जाते है। इस पर सिह राजा से कहता है—भूपाल; आपका परिश्रम व्यर्थ है। मेरे ऊपर (आपके द्वारा) प्रयुक्त भी अस्त्र व्यर्थ ही होगा। वायु का (बड़े-बड़े) वृक्षो को उखाड़ फेकने की सामर्थ्य का वेग पाषाणसमूहो (पर्वतो) को मूर्छित नही कर पाता (इसी प्रकार बड़े-बड़े लोगो को उखाड़ फेकने वाले आपके बाणो का प्रभाव पर कुछ भी नही हो सकता) ॥ ४० ॥

सम्पूर्ण पृथ्वी की परिरक्षायोग्य पराक्रमवाले भी राजा दिलीप के लिए (सिह से कहा गया) 'महीपाल' यह सम्बोधन, यहाँ उस प्रकार के प्रयास से भी परिरक्षणीय गुरु की गायरूप एक प्राणिमात्र के परिरक्षण की (उनकी) असमर्थता, जिसकी स्वप्न मे भी कल्पना नही की जा सकती, उसकी पात्रता के अभिप्राय से (कवि ने) उपनिबन्धित किया है। (सम्पूर्ण पृथ्वी का रक्षक भी एक जीव की रक्षा करने मे असमर्थ है इस प्रकार राजा के महीपालत्व की हँसी उडायी गयी है।)

अथवा (वही आगे २।४८ का उदाहरण) जैसे—(सिंह, राजा को प्राणोत्सर्ग के लिए भी तैयार देखकर, पुन· कहता है—) (अपने प्राण-परित्याग से भी आप इसकी रक्षा करना चाहते है) यदि यह आपकी प्राणियो के प्रति करुणा के कारण है तो आपकी मृत्यु के बाद तो केवल यह एक गाय ही कल्याणयुक्त हो पायेगी। और हे प्रजाओ के स्वामी राजन्! जीवित रहते हुए आप तो प्रजाओं को निरन्तर पिता के समान उपद्रवो से बचाते रहेगे ॥ ४१ ॥

(सिह द्वारा) यहाँ यह कहा जा रहा है कि यदि जीवो के प्रति होने वाली करुणा के कारणभूत अपने प्राण-परित्याग का आचरण का रहे है तो वह भी अयुक्त

जीवन् पुनः शश्वत्सदैवोपप्लवेभ्योऽनर्थेभ्यः प्रजाः सकलभूतधात्रीवलयवर्तिनीः प्रजानाथ पासि रक्षसि। पितेवेत्यनादरातिशयः प्रथते। तदेवं यद्यपि सुस्पष्टसमन्वयोऽयं वाक्यार्थस्तथापि तात्पर्यान्तरमत्र प्रतीयते। यस्मात्सर्वस्य कस्यचित्प्रजानाथत्वे सति सदैव तत्परिरक्षणस्याकरणमसम्भाव्यम्। तत्पात्रत्वगर्भमेव तदभिहितम्। यस्मात्प्रत्यक्षप्राणिमात्रभक्ष्यमाणगुरुहोमधेनुप्राणपरिरक्षणापेक्षानिरपेक्षस्य सतो जीवतस्तवानेन न्यायेन कदाचिदपि प्रजापरिरक्षणं मनागपि न सम्भाव्यत इति प्रमाणोपपन्नम्। तदिदमुक्तम्—

प्रमाणवत्त्वादायातः प्रवाहः केन वार्यते ॥ ४२ ॥ इति। अत्राभिधानप्रतीतिगोचरीकृतानां पदार्थानां परस्परप्रतियोगित्वमुदाहरणप्रत्युदाहरणन्यायेनानुसन्धेयम्।

ही है क्योंकि १—आपके विनष्ट हो जाने के अनन्तर, २—कल्याणमती यह एक ही, ३—और वह भी गाय होगी, यह तीनो ही बाते आदर के योग्य नहीं है। और जीवित रहते हुए शश्वत्—सदैव, उपप्लवो—उपद्रवो से (अनर्थों से) सम्पूर्ण प्राणियो को धारण करने वाली पृथ्वी-मण्डल मे रहने वाली सकल प्रजाओ की, हे प्रजाओं के अधीश्वर, रक्षा करते रहेगे। 'पिता की भॉति' (पिता जैसे अपने बच्चो की निरन्तर उपद्रवो से रक्षा करता है। पुत्र-पालन से विमुख होकर एक जीव की रक्षार्थ प्राणोत्सर्ग) यह पद अनादर के आधिक्य को ही बढ़ाता है। तो इस प्रकार से यह वाक्यार्थ यद्यपि सुस्पष्ट समन्वययुक्त हो जाता है, तथापि यहॉ दूसरा भी तात्पर्य प्रतीत होता है। क्योकि, सब किसी के प्रजानाथ होने पर निरन्तर उस (प्रजा) की परिरक्षा न किया जाना असंभव है (जो भी प्रजानाथ होगा निरन्तर प्रजा की रक्षा करेगा ही। यदि आप सच मे प्रजानाथ है तो कर्तव्य है आपका कि इस गाय की रक्षा करे)। उसी पात्रता (प्रजारक्षण की असंभवता आपमे है) के अभिप्राय से ही (यहॉ राजा को) वह (प्रजानाथ) कहा गया है। क्योकि ऑखो के सामने ही एक जीव (सिंह) मात्र के द्वारा खायी जाती हुई, गुरु की, (वह भी) होम की गाय के प्राणो की परिरक्षा की अपेक्षा (जो आपसे कही जाती है) से उदासीन, वर्तमान आपके जीवित रहते, इस प्रकार से आपसे कभी भी प्रजा की स्वल्पमात्र भी परिरक्षा की सभावना नही की जा सकती यह तो (प्रत्यक्ष) प्रमाण से ही युक्तियुत् हो जाती है। यह कहा भी तो है—

प्रमाणयुक्त होने के कारण प्राप्त प्रवाह कैसे रोका जा सकता है ॥ ४२ ॥ (एक गाय की रक्षा के असामर्थ्य से ही प्रजा की अरक्षा सिद्ध ही हो जाती है)।

यहॉ (पर्यायवक्रता के इस भेद के विषय मे) उक्ति से प्रतीति गोचर किये गये पदार्थो की परस्पर प्रतियोगिता को उदाहरण प्रत्युदाहरण विधि से अन्वेषणीय है।

पर्याय का यह अन्य प्रकार (छठॉ भेद) पदपूर्वार्द्ध की सृष्टि करता है— 'अलङ्कारोपसंस्करण• से जो सुन्दर रचनावाला होता है। यहॉ 'अलङ्कारोपसंस्कार' शब्द मे तृतीया तत्पुरुष एवं षष्ठी तत्पुरुष समास करना चाहिए। उससे दो अर्थ

अयमपरः पर्यायप्रकारः पदपूर्वार्द्धवक्रतां विदधाति ।—'अलङ्कारोपसंस्कारमनोहारि निबन्धनः ।' अत्र 'अलङ्कारोपसंस्कार-'शब्दे तृतीयासमासः षष्ठीसमासश्च करणीयः । तेनार्थद्वयमभिहितं भवति । अलङ्कारेण रूपकादिनोपसंस्कारः शोभान्तराधानं यत्तेन मनोहारि हृदयरञ्जकं निबन्धनमुपनिबन्धो यस्य स तथोक्तः । अलंकारस्योत्प्रेक्षादेरुपसंस्कार शोभान्तराधानं चेति विगृह्य । तत्र तृतीयासमासपक्षोदाहरणं यथा—

यो लीलातालवृन्तो रहसि निरुपधिर्यश्च केलीप्रदीपः
कोपक्रीडासु योऽस्त्रं दशनकृतरुजो योऽधरस्यैकसेकः ।
आकल्पे दर्पणं यः श्रमशयनविधौ यश्च गण्डोपधानं
देव्या स व्यापदं वो हरतु हरजटाकन्दलीपुष्पमिन्दुः ॥ ४३ ॥

अत्र तालवृन्तादिकार्यसामान्यादभेदोपचारनिबन्धनो रूपकालङ्कारविन्यासः सर्वेषामेव पर्यायाणां शोभातिशयकारित्वेनोपनिबद्धः । षष्ठीसमासपक्षोदाहरणं यथा—

देवि त्वन्मुखपङ्कजेन शशिनः शोभा तिरस्कारिणा
पश्याब्जानि विनिर्जितानि सहसा गच्छन्ति विच्छायताम् ॥ ४४ ॥

कथित होते है । अलङ्कार-रूपक आदि (अलङ्कारो) से उपसंस्कार—अन्य शोभा की जो सृष्टि होती है, उससे मनोहारी— हृदयरञ्जक, निबन्धन—उपनिबन्ध होता है जिसका वह तथोक्त—अलङ्कारोपसस्कार मनोहारी निबन्धन—पर्यायवक्रत्व कहा जाता है। (षष्ठी के अनुसार) अलङ्कार का उत्प्रेक्षा आदि का उपसस्कार—अन्य शोभा की सृष्टि जिससे होती है, उससे मनोहारी निबन्धनयुक्त पर्यायवक्रता होती है । उसमे भी तृतीया (तत्पुरुष) समास के पक्ष का उदाहरण जैसे—जो (चन्द्रमा) देवी पार्वती की क्रीड़ा का बालव्यजन है, एकान्त मे होने वाली प्रणयक्रीड़ा का जो निर्विघ्न दीपक है, प्रणय मे होने वाली मानकेलियो मे जो अस्त्र है, (प्रणयलीला मे भगवान् शङ्कर जी, के) दाँतो से पैदा की गयी पीडायुक्त अधर का जो अपूर्व सेक है; सौन्दर्य-रचना (प्रसाधन) मे जो दर्पण का काम देता है, तथा (लीलाओ से थककर सोने की क्रिया मे जो कपोलतल का उपबर्ह (तकिया) है, भगवान् शङ्कर की जटाकन्दली का फूल वह चन्द्रमा आप लोगो की विपदाओ को दूर करे ॥ ४३ ॥

यहाँ तालवृन्त आदि कार्यसामान्य से अभेदोपचार लक्षण रूपक अलङ्कार का विन्यास हुआ है, जो (तालवृन्त आदि), सभी पर्यायो के शोभातिशयकारी के रूप मे उपनिबद्ध किया गया है । (यहाँ रूपक अलङ्कारों से शोभासृष्टि हो रही है अतः कारिका के 'अलङ्कारोपसंस्कार' आदि पद मे तृतीया-समासघटित अर्थ का यह उदाहरण हुआ) ।

उक्त पद मे ही षष्ठी समास के पक्ष का उदाहरण जैसे—(रत्नावली नाटिका में उदयन के द्वारा वासवदत्ता के प्रति कही गयी इस उक्ति मे)—'देवि, देखो चन्द्रमा

अत्र स्वरससम्प्रवृत्तसायंसमयसमुचितासरोरुहाणां विच्छायताप्रतिपत्तिर्नायकेन नागरकतया वल्लभोपलालनःप्रवृत्तेन तन्निदर्शनोपक्रमरमणीयत्वमुखेन निर्जितानीवेति प्रतीयमानोत्प्रेक्षालङ्कारकारित्वेन प्रतिपाद्यते। एतदेव च युक्तियुक्तम्। यस्मात्सर्वस्य कस्यचित्पङ्कजस्य शशाङ्कशोभातिरस्कारितां प्रतिपद्यते। त्वन्मुखपङ्कजेन पुन शशिनः शोभातिरस्कारिणा न्यायतो निर्जितानि सन्ति, विच्छायतां गच्छन्तीवेति प्रतीयमानस्योत्प्रेक्षालक्षणस्यालङ्कारस्य शोभातिशय समुल्लास्यते ॥ १२ ॥

एवं पर्यायवक्रतां विचार्य क्रमसमुचितावसरामुपचारवक्रतां विचारयति—

यत्र दूरान्तरेऽन्यस्मात्सामान्यमुपचर्यते।
लेशेनापि भवत्काञ्चिद्वक्तुमुद्रिक्तवृत्तिताम् ॥ १३ ॥
यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलङ्कृतिः।
उपचारप्रधानासौ वक्रता काचिदुच्यते ॥ १४ ॥

की शोभा का तिरस्कार करने वाले तुम्हारे मुखकमल से एकदम जीत लिये गये कमल एकाएक शोभाशून्य हो गये है ॥ ४४ ॥

यहाँ अपने आप होने वाली सायकाल के उपयुक्त कमलो की म्लानता की प्रतीति को, प्रियतमा को रुझाने मे लगे हुए नायक के द्वारा विदग्ध विधि से उन कमलो की साम्यप्रक्रिया से होने वाली रमणीयता के द्वारा (मुखकमल से ये कमल) 'विनिर्जित से हो गये है' इस प्रकार प्रतीयमान उत्प्रेक्षा अलङ्कार के उत्पादक के रूप मे प्रतिपादित किया जा रहा है। और यही युक्तियुत् भी है। क्योंकि सब किसी कमल की चन्द्रमा के द्वारा (सायंकाल मे कमलो के बन्द हो जाने के कारण उनके) शोभा की तिरस्कारिता तो प्रतिपन्न होती ही है। किन्तु चन्द्रमा की शोभा को भी तिरस्कृत कर देने वाले तुम्हारे मुखकमल से अन्य कमल उचित ही जीत लिये गये है पराजित कर दिये गये है (अत एव) 'मानो म्लानता को प्राप्त से हो रहे है' इस प्रकार यहाँ (प्रकरणानुकूल) उत्प्रेक्षारूप अलङ्कार का शोभातिशय समुल्लसित हो रहा है। (ध्यान देने योग्य है कि कुन्तक ने अब तक पर्यायवक्रता के अन्तर्गत लक्षणामूल एवं अभिधामूल ध्वनियो के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये है। अतः ध्वनिवादियो की ध्वनि का अंशतः समावेश पर्यायवक्रता मे ही किया जा सकता है)।

इस प्रकार पर्यायवक्रता (के छः भेदो) का विचार कर क्रम समुचित अवसर प्राप्त उपचारवक्रता का विचार करते है—

किसी अपूर्व अतिशयित व्यापार को कहने के लिए अत्यन्त व्यवधानपूर्ण प्रस्तुत वस्तु मे जहाँ दूसरी वस्तु से लेशमात्र भी सामान्य धर्म उपचरित (समारोपित) किया जाता है (वहाँ उपचारवक्रता होती है) ॥ १३ ॥

रूपक आदि अलङ्कार यन्मूलक होने से रसयुक्त बन जाते हैं, उपचारप्रधान वह कोई अपूर्व ही (उपचार) वक्रता कही जाती है ॥ १४ ॥

असौ काचिदपूर्वा वक्रतोच्यते वक्रभावोऽभिधीयते। कीदृशी—उपचारप्रधाना। उपचरणमुपचारः स एव प्रधानं यस्याः सा तथोक्ता। किं स्वरूपा च—यत्र यस्यामन्यस्मात् पदार्थान्तरात् प्रस्तुतत्वाद्वर्ण्यमाने वस्तुनि सामान्यमुपचर्यते साधारणो धर्मः कश्चिद्वक्तुमभिप्रेतः समारोप्यते। कस्मिन् वर्ण्यमाने वस्तुनि—दूरान्तरे। दूरमनल्पमन्तरं व्यवधानं यस्य तत्तथोक्तं तस्मिन्। ननु च व्यवधानममूर्त्तत्वाद्वर्ण्यमानस्य वस्तुनो देशविहितं तावन्न सम्भवति। कालविहितमपि नास्त्येव, तस्य क्रियाविषयत्वात्। क्रियास्वरूपं कारकस्वरूपं चेत्युभयात्मकं यद्यपि वर्ण्यमानं वस्तु, तथापि देशकालव्यवधानेनात्र न भवितव्यम्। यस्मात्पदार्थानामनुमानवत् सामान्यमात्रमेव शब्दैर्विषयीकर्तुं पार्यते, न विशेष। तत्कथं दूरान्तरत्वमुपपद्यते? सत्यमेतत्, किन्तु 'दूरान्तर'-शब्दो मुख्यतया देशकालविषये विप्रकर्षे प्रत्यासत्तिविरहे वर्तमानोऽप्युपचारात् स्वभावविप्रकर्षे वर्तते। सोऽयं स्वभावविप्रकर्षो विरुद्धधर्माध्यास-

---

वह कोई अपूर्व 'वक्रता कही जाती है',—वक्रभाव बताया जाता है। कैसी वक्रता?—जो उपचारप्रधान होती है। उपचरण को ही उपचार करते है। (उपचार का विवेचन विद्वानो ने इस प्रकार किया है—अत्यन्तं विशकलितयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमुपचार.।' 'अत्यन्त पृथग्भूत दो पदार्थो मे अतिशय सादृश्य के कारण भेदप्रतीति का न होना उपचार कहा जाता है')—विश्वनाथ। वही जिसमे प्रधान हो वह हुई तथोक्त—उपचारप्रधाना (वक्रता)। और क्या स्वरूप है उसका?—जहाँ, जिसमे (प्रकृत से) इतर दूसरे पदार्थ के द्वारा प्रस्तुत होने के कारण वर्ण्यमान वस्तु मे सामान्य उपचरित होता है, कहने के लिए अभीष्ट किसी साधारण धर्म का (उसमे) समारोप किया जाता है। किस वर्ण्यमान वस्तु मे (समारोप किया जाता है)?—दूर अन्तरवाली मे। दूर—अतिशय, अन्तर—व्यवधान हो जिसमे उस तथोक्त दूरान्तर वस्तु मे। (पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए कह रहे है कि—) वर्ण्यमान वस्तु क्योकि अमूर्त्त होती है इसलिए (आपने वर्ण्यमान वस्तु मे जो अतिशय व्यवधान की बात कही है) व्यवधान देशविहित तो हो नही सकता (इसलिए कि देशविहित व्यवधान केवल मूर्त्त वस्तु का ही हो सकता है। और उसमे कालकृत् व्यवधान भी नहीं हो सकता क्योकि कालकृत् व्यवधान क्रिया का विषय होता है। और यदि यह कहा जाय कि, यद्यपि काव्य-रचना के समय वर्ण्यमान वस्तु क्रियास्वरूप एवं कारकस्वरूप, उभयात्मक होती है (अतः काल-देशकृत् व्यवधान तो हो ही सकता है? इसका उत्तर है कि) तथापि यहाँ देश-कालकृत् व्यवधान नही हो सकता क्योंकि अनुमान प्रमाण की भाँति शब्दो से पदार्थो के सामान्यमात्र का ही ग्रहण किया जा सकता है, न कि विशेष का। तो फिर कारिकोक्त—'दूरान्तरता'—वस्तु का व्यवधान कैसे उपयुक्त हो सकता है? (उत्तर देते हैं)—यह सत्य है (आपका कथन कि, वर्ण्यमान वस्तु मे व्यवधान संभव नही है) किन्तु, दूरान्तर शब्द (का प्रयोग यहाँ)

लक्षणः पदार्थानाम् । यथा मूर्तिमत्त्वममूर्तत्वापेक्षया, द्रवत्वं च घनत्वापेक्षया, चेतनत्वमचेतनत्वापेक्षयेति। कीदृक् तत्सामान्यम्—लेशेनापि भवत्। मनाङ्मात्रेणापि सत्। किमर्थम्—कांश्चिदपूर्वामुद्रिक्तवृत्तितां वक्तुं सातिशय-परिस्पन्दतामभिधातुम्। यथा—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतः ॥ ४५ ॥

अत्र यथा बुद्धिपूर्वकारिणः केचिच्चेतनवर्णच्छायातिशयोत्पादनेच्छया केनचिद्विद्यमानलेपनशक्तिना मूर्तेन नीलादिना रञ्जनद्रव्यविशेषेण किञ्चिदेव लेपनीयं मूर्तिमद्वस्तुवस्त्रप्रायं लिम्पन्ति, तद्वदेव तत्कारित्वसामान्यं मनाङ्-मात्रेणापि विद्यमानं कामप्युद्रिक्तवृत्तितामभिधातुमुपचारात् स्निग्धश्यामलया कान्त्या लिप्तं वियद् द्यौरित्युपनिबद्धम्। 'स्निग्ध'शब्दोऽप्युपचारवक्र एव। यथा मूर्तं वस्तु दर्शनस्पर्शनसंवेद्यं स्नेहगुणयोगात् स्निग्धमित्युच्यते, तथैव कान्तिरमूर्ताप्युपचारात् स्निग्धेत्युक्ता।

मुख्यतया देशकालविषयक दूरी, सामीप्याभाव अर्थ मे वर्तमान रहते हुए भी उपचार से (वस्तु के) स्वभाव के व्यवधान (दूरत्व) मे भी लागू होता है। और वही यह स्वभाव विप्रकर्ष पदार्थों के विरुद्ध धर्मो का अध्यासरूप होता है। जैसे मूर्तिमत्ता अमूर्त्त की अपेक्षा, द्रवत्व घनत्व की अपेक्षा तथा चेतनता अचेतनता की अपेक्षा (दूरान्तरत्व स्वभाव वाली है)। दूरान्तरत्व पद की व्याख्या कर आगे उपचरित सामान्य मे सामान्य पद का विवेचन करते है)—वह सामान्य कैसा है?—लेशमात्र से भी उपस्थित होता हुआ। स्वल्पमात्र से भी विद्यमान। किसलिए (सामान्य उपचरित होता है) ? किसी अपूर्व उद्रिक्तवृत्तिता को कहने के लिए, अतिशययुक्त परिस्पन्दता स्वभाव, धर्म का वर्णन करने के लिए। उदाहरण जैसे—(२।२७ पर उद्धृत श्लोक का अश)—

स्निग्ध और श्याम अपनी कान्ति से आकाश को विलिप्त कर देने वाले (मेघ) ……॥ ४५ ॥

बुद्धिपूर्वक कार्य करने वाले कुछ लोग जैसे चेतन की भाँति वर्णो से की जाने वाली अतिशय कान्ति के निष्पादन की अभिलाषा से कुछ ही लेपनयोग्य किसी मूर्ति-मान् वस्तु को विद्यमान लेपनशक्ति मूर्त्त किसी नील (पीत) आदि रंगने के द्रव्य-विशेष से वस्त्र-सा रँग देते है, उसी प्रकार किसी अपूर्व सातिशयिता का अभिधान करने के लिए स्वल्पमात्र भी (मेघ मे) विद्यमान उस लेपनत्वकारितारूप सामान्य धर्म के कारण उपचार से आकाश, दिव (मेघ की) श्यामल कान्ति से लिप गया है, यह उपनिबद्ध किया है। 'स्निग्ध' शब्द भी यहाँ उपचारवक्रता से ही संवलित है। जैसे (कोई) मूर्त्त वस्तु दर्शन एव स्पर्शन के अनुभवयोग्य स्नेहरूप गुण से युक्त होने के कारण 'स्निग्ध है' ऐसा कही जाती है उसी प्रकार अमूर्त्त भी कान्ति-उपचार से 'स्निग्ध' ऐसा कही गयी है। अथवा जैसे—

यथा वा—

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।
सौदामिन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वी
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मास्म भूर्विक्लवास्ताः ॥ ४६ ॥

अत्रामूर्त्तानामपि तमसामतिबाहुल्याद् घनत्वान्मूर्तसमुचितं सूचिभेद्यत्वमुपचरितम्। यथा वा—

ग अणं च मत्तमेहं धारालुलि अज्जुणाइ अ वणाइ।
णिरहंकारमिअंका हरन्ति णीलाओ विणिसाओ ॥ ४७ ॥
गगनं च मत्तमेघं धारालुलितार्जुनानि च वनानि।
निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः ॥इतिच्छाया॥

(श्लोक पूर्व मेघ का ३७ वॉ है। विरहपीड़ित यक्ष ने अपनी प्रियतमा के पास सन्देश ले जाने वाले मेघ से राह मे पड़ने वाली उज्जयिनी के विषय मे कहा है)— मेघ, उस उज्जयिनी मे तुम रात्रि मे सूचीभेद्य (गहन) अन्धकार के द्वारा अवरुद्ध प्रकाश राजमार्ग से होकर प्रियतम के निवास स्थान को जाती हुई सुन्दरियो को स्वर्ण-कसौटी के समान स्निग्ध विद्युद्रेखा से (उन्हे) भूमि (राह) दिखाओ (किन्तु) जलदान एवं गर्जना से मुखर (तुम) न होना कि, वे भयविकल हो जाये ॥ ४६ ॥

यहॉ अमूर्त्त भी तमोवृन्द के अतिशय आधिक्य के कारण, घनत्व के कारण मूर्त्त वस्तु के समनुकूल (उस घनान्धकार पर) सूचिभेद्यता का उपचारपूर्वक प्रयोग किया गया है। अथवा जैसे दूसरा उदाहरण—(गाथा गौडवहो ४०६ की है। ध्वनिकार ने इसे अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि के उदाहरण मे प्रस्तुत किया है। बाद मे व्यक्ति-विवेककार महिमभट्ट तथा जयरथ आदि ने भी इसका उपयोग किया है। वर्षा का वर्णन है—) मत्त मेघ आकाश तथा धारावृष्टि से कम्पित अर्जुन वृक्ष एवं सहकार कानन और अहङ्कारविहीन चन्द्रमा वाली नील निशाये भी मन को हरण कर लेती हैं ॥ ४७ ॥

यहॉ चेतन प्राणियो का धर्मसामान्य 'मत्तत्व' एवं 'निरहङ्कारत्व' उपचरित हुए हैं। (मत्त और निरहङ्कार कोई चेतन प्राणी ही हो सकता है, मेघ और चॉद नही। किन्तु उन पर मत्तता एव निरहङ्कारता का आरोप (उपचार) किया गया है। वर्षा मे इधर-उधर भटकने वाले मेघ वैसे ही लगते है जैसे भटकता मत्त व्यक्ति। निधि खो जाने पर गलित-गर्व व्यक्ति की भॉति वर्षा मे मेघो से चन्द्र की अहङ्कारता भी समाप्त हो जाती है, वह प्रकाशशून्य हो जाता है। इस प्रकार यहॉ मेघ और चॉद दोनो मे चेतन धर्म की समानता पायी जाती जाती है।) तो यह उपचारवक्रता का प्रकार सत्कवि प्रवाह मे पड़कर हजारो प्रकार का हो सकता है, इसलिए सहृदयों को स्वयं ही समझ लेनी चाहिए। इसलिए इस उपचारवक्रता मे (कुछ भी) अन्तर समीप होने पर (पूर्वप्रतिपादित विधि से कमी होने पर) वक्रता का व्यवहार नही हो पाता। जैसे 'गौर्बाहीक.' मे। (उक्त गाथा का सौन्दर्य अभिनवगुप्त के शब्दो मे—

अत्र मत्तत्वं निरहंकारत्वं च चेतनधर्मसामान्यमुपचरितम्। सोऽयमुपचारवक्रताप्रकारः सत्कविप्रवाहे सहस्रशः सम्भवतीति सहृदयैः स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयाः। अत एव च प्रत्यासन्नान्तरेऽस्मिन्नुपचारे न वक्रताव्यवहारः, यथा गौर्वाहीक इति।

इदमुपचारवक्रतायाः स्वरूपम्—यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलङ्कृतिः। या मूलं यस्याः सा तथोक्ता। रूपकमादिर्यस्याः सा तथोक्ता। का सा?—अलङ्कृतिरलङ्करणं रूपकप्रभृतिरलङ्कारविच्छित्तिरित्यर्थः। कीदृशी?—सरसोल्लेखा। सरसः सास्वादः सचमत्कृतिरुल्लेखः समुन्मेषो यस्याः सा तथोक्ता। समानाधिकरणयोरत्र हेतुहेतुमद्भावः। यथा—

अतिगुरवो राजमाषा न भक्ष्या इति॥ ४८॥

यन्मूला सती रूपकादिरलङ्कृतिः सरसोल्लेखा। तेन रूपकादेरलङ्करणकलापस्य सकलस्यैवोपचारवक्रता जीवितमित्यर्थः।

'गगनं मत्तमेघमपि न केवलं ताराङ्कितम्। धाराललितार्जुनवृक्षाण्यपि वनानि न केवल मलयमारुतान्दोलितसहकाराणि। निरहङ्कारमृगाङ्का नीला अपि निशा न केवल सितकरकरधवलिताः। हरन्ति उत्सुकयन्तीत्यर्थः। मत्तशब्देन सर्वथैवेहासम्भवत्स्वार्थेन बाधितमघोपयोगक्षीबात्मकमुख्यार्थेन सादृश्यान्मेघॉल्लक्षयताऽसमञ्जसकारित्वदुर्निवारत्वादिधर्मसहस्रं ध्वन्यते। निरहङ्कारशब्देनापि चन्द्र लक्षयता तत्पारतन्त्र्यविच्छायत्वोजिगमिषारूपजिगीषात्यागप्रभृतिः-लोचन।)

उपचारवक्रता का यह (दूसरा) स्वरूप है। यन्मूलक होने से रूपक आदि अलङ्कार सरस वर्णनायुक्त हो जाते हैं। जो (उपचारवक्रता) जिस (रूपक आदि अलङ्कृति) का मूल होती है वह हुई तथोक्त यन्मूला। रूपक है आदि मे जिसके वह हुई तथोक्त रूपकादि (अलङ्कृति)। वह (यन्मूला रूपकादि) क्या है? अलङ्कृति-अलङ्कार, रूपकप्रभृति अलङ्कारो की कान्ति है (वह), यह अर्थ हुआ। वह कैसी है?—सरल उल्लेखवाली। सरस—आस्वादयुक्त, चमत्कारपूर्वक उल्लेख विधिवत् उन्मेष, प्रकाश जिसका वह होती है तथोक्त सरसोल्लेख रूपक आदि अलङ्कृति। समान अधिकरण (उपचारवक्रतारूप) वाले दोनो ही पदो (सरसोल्लेखा एवं रूपकादिरलङ्कृति) मे हेतु-हेतुमद्भाव सम्बन्ध है। उदाहरण जैसे—

अत्यन्त भारी अन्न नही खाने चाहिए॥ ४८॥ (यहाँ हेतुहेतुमद्भाव है।)

यन्मूलक होकर ही रूपक आदि अलङ्कार सरस उल्लेखवाले हो जाते है। इसलिए उपचारवक्रता समग्र ही रूपक आदि अलङ्कार-वृन्द का प्राण है, यह अर्थ हुआ।

(अभी-अभी) पूर्वप्रतिपादित उपचारवक्रता के प्रकार से (सम्प्रति प्रतिपाद्यमान) इसका क्या भेद है? पहिले वाली मे स्वभाव की अत्यन्त दूरी होने के कारण सामान्यतया स्वल्पमात्र ही साम्य का समाश्रयण कर सातिशयता का प्रतिपादन करने के लिए उस (वस्तु) के धर्ममात्र का अध्यारोप प्रवर्तित हो पाता है किन्तु इसमे कम

ननु च पूर्वस्मादुपचारवक्रताप्रकारादेतस्य को भेदः ? पूर्वस्मिन् स्वभावविप्रकर्षात् सामान्येन मनाङ्मात्रमेव साम्यं समाश्रित्य सातिशयत्वं प्रतिपादयितुं तद्धर्ममात्राध्यारोपः प्रवर्तते, एतस्मिन् पुनरदूरविप्रकृष्टसादृश्यसमुद्भवप्रत्यासत्तिसमुचितत्वादभेदोपचारनिबन्धनं तत्त्वमेवाध्यारोप्यते। यथा—

सत्स्वेव कालश्रवणोत्पलेषु सेनावनालीविषपल्लवेषु।
गाम्भीर्यपातालफणीश्वरेषु खड्गेषु को वा भवतां सुरारिः॥ ४९॥

अत्र कालश्रवणोत्पलादिसादृश्यजनितप्रत्यासत्तिविहितमभेदोपचारनिबन्धनं तत्त्वमध्यारोपितम्।

'आदिग्रहणादप्रस्तुतप्रशंसाप्रकारस्य कस्यचिदन्यापदेशलक्षणस्योपचारवक्रतैव जीवितत्वेन लक्ष्यते।

तथा च किमपि पदार्थान्तरं प्राधान्येन प्रतीयमानतया चेतसि निधाय तथाविधलक्षणसाम्यसमन्वयं समाश्रित्य पदार्थान्तरमभिधीयमानतां प्रापयन्तः प्रायशः कवयो दृश्यन्ते। यथा—

अनर्घः कोऽप्यन्तस्तव हरिणहेवाक महिमा
स्फुरत्येकस्यैव त्रिभुवनचमत्कारजनकः।

दूरी या भेद से युक्त सादृश्य से समुत्पन्न प्रत्यासत्ति के समुचित होने से अभेदोपचार निबन्धन तत्त्व (उस वस्तु) का ही अध्यारोप कर दिया जाता है। जैसे—

काल (मृत्यु) के कर्णोत्पल, सैन्य वनपंक्ति के पल्लव तथा गाम्भीर्य (गम्भीरता—अगाधता) के पाताल सर्प खड्गो के रहते वह देवशत्रु आपके लिए क्या है ? अर्थात् कुछ भी नही ॥ ४९ ॥

यहाँ पर (खड्ग से) कालश्रवणोत्पल आदि के सादृश्य से उत्पन्न सामीप्यविनिर्मित अभेदोपचार-निबन्धन (खड्गपर) कालकर्णोत्पलादि तत्त्व का ही अध्यारोप किया गया है।

कारिका मे प्रयुक्त 'आदि' पद के ग्रहण से (रूपक के अतिरिक्त) किसी और को उपदेश कर कहे जाने के रूप अप्रस्तुत प्रशसा प्रकार की भी उपचारवक्रता ही प्राणरूप है, यह प्रतीत होता है।

जैसे कि कविगण प्रायः किसी अन्य पदार्थ को प्रधानतया मन मे प्रतीयमान के रूप मे रखकर उसी प्रकार के स्वरूपसाम्य से युक्त वस्तु का समाश्रय कर किसी दूसरे पदार्थ को वर्ण्यमान विषय का पात्र बनाते हुए प्रायः देखे जाते है। जैसे—(चन्द्रमा को सम्वोधित कर कहा जा रहा है)—हे हरिण ! अकेले तुम्हारे अन्तर मे त्रैलोक्य मे भी चमत्कार पैदा करने वाला प्रभाव-माहात्म्य कुछ अमूल्य ही है, क्योंकि तुम्हारे लिए विहार की वनभूमि आकाश मे चन्द्रमा की मूर्ति है और अमृत की निरन्तर झरी प्रवाहित करने वाली (उसकी) किरण-समूहे (तुम्हारे लिए) घास का ग्रास हैं ॥ ५० ॥

यदिन्दोर्मूर्त्तिस्ते दिवि विहरणारण्यवसुधा
सुधासारस्यन्दी किरणनिकरः शष्पकवलः ॥ ५० ॥

अत्र लोकोत्तरत्वलक्षणमुभयानुयायि सामान्यं समाश्रित्य प्राधान्येन विवक्षितस्य वस्तुनः, प्रतीयमानवृत्तेरभेदोपचारनिबन्धनं तत्त्वमध्यारोपितम् ।

तथा चैतयोर्द्वयोरप्यलङ्कारयोस्तुल्येऽप्युपचारवक्रताजीवितत्वे वाच्यत्वमेकत्र प्रतीयमानत्वमपरस्मिन् स्वरूपभेदस्य निबन्धनम् । एतच्चोभयोरपि स्वलक्षणव्याख्यानावसरे समुन्मील्यते ॥ १४ ॥

एवमुपचारवक्रतां विवेच्य समनन्तरप्राप्तावकाशां विशेषणवक्रतां विविनक्ति—

विशेषणस्य माहात्म्यात् क्रियायाः कारकस्य वा ।
यत्रोल्लसति लावण्यं सा विशेषणवक्रता ॥ १५ ॥

सा विशेषणवक्रता विशेषणवक्रत्वविच्छित्तिरभिधीयते । कीदृशी—यत्र यस्यां लावण्यमुल्लसति रामणीयकमुद्भिद्यते । कस्य-क्रियायाः कारकस्य वा । क्रियालक्षणस्य वस्तुनः कारकलक्षणस्य वा । कस्मात्-विशेषणस्य माहात्म्यात् ।

यहाँ अलौकिकत्व रूप (प्रस्तुत सत्पुरुषादिवृत्त तथा अप्रस्तुत चन्द्रहरिणरूप वृत्त) उभयानुगामी सामान्य का समाश्रय कर प्रधानतया विवक्षित वस्तु की प्रतीयमान वृत्ति का अभेदोपचाररूप तत्त्व (हरिणत्व) का ही अध्यारोप किया गया है ।

इस प्रकार इन (रूपक एव अप्रस्तुतप्रशसा) दोनो ही अलङ्कारो मे उपचार-वक्रता की प्राणता समान होने पर भी एकत्र (रूपक मे) वाच्यता और अन्यत्र (अप्रस्तुतप्रशसा मे) प्रतीयमानता ही उनके स्वरूपभेद का कारण है । और यह इन दोनो ही अलङ्कारो के अपने-अपने लक्षण के विवेचन के समय सम्यक् प्रस्फुटित किया जायगा ॥ १४ ॥

इस प्रकार उपचारवक्रता का विवेचन कर उसके ठीक बाद अवसरप्राप्त विशेषण-वक्रता का व्याख्यान करते है—

जहाँ विशेषण के माहात्म्य से क्रिया अथवा कारक की रमणीयता समुद्भासित होती है, उसे विशेषणवक्रता कहा जाता है ॥ १५ ॥

वह विशेषणवक्रता—विशेषणवक्रता की शोभा कही जाती है । कैसी (है वह) ?—जहाँ—जिसमे लावण्य उल्लसित होता है—रमणीयता समुद्भूत हो जाती है । किसकी (रमणीयता समुद्भूत होती है) ?—क्रिया अथवा कारक की । क्रियारूप वस्तु अथवा कारकरूप वस्तु की (शोभा समुद्भूत होती है) । किससे (समुद्भूत होती है) ?—विशेषण के माहात्म्य से । इन दोनो (क्रिया—कारक) मे प्रत्येक का जो विशेषण—भेदक तत्त्व, उसके माहात्म्य से दूसरे पदार्थ मे अतिशयित भाव हो जाने के कारण । वह सातिशयत्व है क्या ? (वह सातिशयत्व) भावो के स्वभाव की सुकुमारता की समुल्लासकता और अलङ्कारो की कान्ति के अतिशय की परिपोषकता है । उदाहरण

एतयो प्रत्येकं यद्विशेषणं भेदकं (तस्य माहात्म्यात्) पदार्थान्तरस्य सातिशयत्वात् । किं तत्सातिशयत्वम्—भावस्वभावसौकुमार्यसमुल्लासकत्वमलङ्कारच्छायातिशयपरिपोषकत्वञ्च । यथा—

श्रमजलसेकजनितनवविलिखितनखपददाहमूर्छिता
वल्लभरभसलुलितललितालकवलयचयार्धनिन्हुता ।
स्मररसविविधविहितसुरतक्रमपरिमनत्रपालसा
जयति निशात्यये युवतिदृक् तनुमधुमदविशदपाटला ॥ ५१ ॥

यथा—करान्तरालीनकपोलभित्तिर्बाष्पोच्छलत्कूणितपत्रलेखा ।
श्रोत्रान्तरे पिण्डितचित्तवृत्तिः शृणोति गीतध्वनिमत्र तन्वी ॥ ५२ ॥

यथा वा—शुचिशीतलचन्द्रिकाप्लुताश्चिरनिशब्दमनोहरा दिशः ।
प्रशमस्य मनोभवस्य वा हृदि कस्याप्यथ हेतुतां ययुः ॥ ५३ ॥

क्रियाविशेषणवक्रत्वं यथा—

जैसे—(प्रभातकाल मे निद्रा से उठी परिभुक्ता नायिका का वर्णन है । उसके नेत्रो की स्वाभाविकता का चित्रण किया गया है—) (रति के समय नायक के द्वारा किये गये) अभिनव ताजे नखक्षतो पर गिर रहे पसीने की जलन से मूर्च्छित-सी, (सम्भोग मे) प्रियतम के द्वारा आवेगपूर्वक (खीचे जाने से अवमर्दित) बिखरे सुन्दर कच-कलाप से अधढँकी, कामजनित आनन्द से किये गये अनेक प्रकार के सम्भोग की परम्परा मे प्राप्त परिमर्दन की लाज से अलसायी तथा कुछ-कुछ अवशिष्ट सुरा के मद के कारण सफेद गुलाब वर्णों वाली युवतिजनो की ऑखे निशावसान मे सर्वसुन्दर लगती है ॥ ५१ ॥

यहाँ विविध विशेषणो के माध्यम सम्भुक्त युवती के प्रातःकालीन नेत्रो की सुन्दरता की स्वाभाविकता को रामणीयकतया प्रस्तुत किया गया है ।

अथवा दूसरा उदाहरण जैसे—

दोनों हाथो के बीच अपने दोनो कपोलो को पूरी तौर से रखे हुई, छलकते ऑसुओ से (गालो पर चित्रित धुल जाने के कारण) सिमटती पत्ररचनाओ वाली, कानो मे मनोवृत्ति को समेटे कृशाङ्गी यहॉ गीत की ध्वनि को सुन रही है ॥ ५२ ॥

यहॉ भी विशेषणो की सुन्दरता से वर्ण्यमान तन्वङ्गी का स्वभाव-सुन्दरता प्रकाशित की गयी है । इसके बाद शीतल-शुभ्र जोन्हाई से परिपूर्ण, बहुत देर से शान्त और मनोहारी दिशाएँ किसी के भी हृदय मे प्रशान्ति (विराग) अथवा अनुराग की कारणता को प्राप्त हो गयी ॥ ५३ ॥

यहॉ भी विशेषणो के माहात्म्य से दिशाओ के सौन्दर्य को प्रकाशित किया गया है । उपर्युक्त तीनों उदाहरणो मे क्रमश. युवतिदृक्, तन्वी एव दिशारूप कारको की विशेषणों के माहात्म्य से स्वाभाविक सुन्दरता प्रकाशित की गयी है । अतः ये सभी कारक विशेषणवक्रता के उदाहरण है । क्रियाविशेषणवक्रता का उदाहरण जैसे—

सस्मारवारणपतिर्विनिमीलिताक्षः
स्वेच्छाविहारवनवासमहोत्सवानाम् ॥ ५४ ॥

अत्र सर्वत्रैव स्वभावसौन्दर्यसमुल्लासकत्वं विशेषणानाम्। अलङ्कारच्छायाति(शय)परिपोषकत्वं विशेषणस्य यथा—

शशिनः शोभातिरस्काररिणा ॥ ५५ ॥

एतदेव विशेषणवक्रत्वं नाम प्रस्तुतौचित्यानुसारि सकलसत्काव्यजीवितत्वेन लक्ष्यते, यस्मादनेनैव रसः परां परिपोषपदवीमवतार्यते। यथा—

करान्तरालीन इति ॥ ५६ ॥

स्वमहिम्ना विधीयन्ते यत्र लोकोत्तरश्रियः।
रसस्वभावालङ्कारास्तद्विधेयं विशेषणम् ॥ ५७ ॥

इत्यन्तरश्लोकः ॥ १५ ॥

एवं विशेषणवक्रतां विचार्य क्रमसमर्पितावसरां संवृतिवक्रतां विचारयति—

यत्र संव्रियते वस्तु वैचित्र्यस्य विवक्षया।
सर्वनामादिभिः कैश्चित् सोक्ता संवृतिवक्रता ॥ १६ ॥

एकदम बन्द नेत्रो से गजेन्द्र ने (पकड़ लिये जाने पर) अपनी इच्छानुसार विचरण (आदि) वनवास के महोत्सवो का स्मरण किया ॥ ५४ ॥

यहाँ नेत्रनिमीलनरूप क्रियाविशेषण से सस्मरण-क्रिया का स्वाभाविक चित्र ही प्रस्तुत कर दिया गया है।

इन उपर्युक्त सभी उदाहरणों मे विशेषणों मे स्वाभाविक सौन्दर्य की प्रकाशकता प्रस्तुत है।

विशेषण के माहात्म्य से ही अलङ्कार की शोभातिशय की परिपोषकता का उदाहरण जैसे—(२।४४ के उदाहरण मे प्रस्तुत) चन्द्रमा की शोभा को तिरस्कृत करने वाले (तुम्हारे मुखकमल के द्वारा विनिर्जित कमल देखो मलिनता को प्राप्त हो रहे हैं) ॥ ५५ ॥ (यहाँ प्रतीयमान उत्प्रेक्षा अलङ्कार का शोभातिशय परिपुष्ट हो रहा है।)

यही विशेषणवक्रता प्रस्तुत वस्तु के औचित्य का अनुसरण करती है, समस्त उत्तम काव्यो की प्राणरूप से प्रतीत होती है; क्योकि इसी के द्वारा रस अत्यन्त परिपोष की अवस्था को प्राप्त कराया जाता है। जैसे—(२।५२ के उदाहरण) करान्तरालीन इत्यादि मे (विप्रलम्भ शृङ्गार का परिपोष हो रहा है) ॥ ५६ ॥

(कवियों द्वारा काव्य मे) ऐसे ही विशेषण का संविधान करना चाहिए जिसके अपने माहात्म्य से रस, स्वभाव (वस्तु) और अलङ्कार लोकातिशायी शोभायुक्त कर दिये जाते है ॥ ५७ ॥ यह अन्तरश्लोक है।

इस प्रकार विशेषणवक्रता का विचार कर क्रमप्राप्त अवसर (पदपूर्वार्द्धवक्रता के ही प्रकार) संवृतिवक्रता का विचार करते है—

वैचित्र्य के कथन की इच्छा से जहाँ वस्तु को किन्ही सर्वनाम आदि से छिपाया जाता है, वहाँ उसे संवृतिवक्रता कहते है ॥ १६ ॥

सोक्ता संवृतिवक्रता—या किलैवंविधा सा संवृतिवक्रतेत्युक्ता कथिता। संवृत्या वक्रता संवृतिप्रधाना वेति समासः। यत्र यस्यां वस्तु पदार्थलक्षणं संव्रियते समाच्छाद्यते। केन हेतुना—वैचित्र्यस्य विवक्षया विचित्रभावस्याभिधानेच्छया। यया पदार्थो विचित्रभावं समासादयतीत्यर्थः। केन संव्रियते—सर्वनामादिभिः कैश्चित्। सर्वस्य नाम सर्वनाम तदादिर्येषां ते तथोक्तास्तैः कैश्चिदपूर्वैर्वाचकैरित्यर्थः।

अत्र च बहवः प्रकाराः सम्भवन्ति। यत्र किमपि सातिशयं वस्तु वक्तुं शक्यमपि साक्षादभिधानादियत्तापरिच्छिन्नतया परिमितप्रायं मा प्रतिभासतामिति सामान्यवाचिना सर्वनाम्नाच्छाद्य तत्कार्याभिधायिना तदतिशयाभिधानपरेण वाक्यान्तरेण प्रतीति गोचरतां नीयते। यथा—

तत्पितर्यथ परिग्रहलिप्सौ स व्यधत्त करणीयमणीयः।
पुष्पचापशिखरस्थकपोलो मन्मथः किमपि येन निदध्यौ॥ ५८॥

अत्र सदाचारप्रवणतया गुरुभक्तिभावितान्तःकरणो लोकोत्तरौदार्यगुणयोगाद्विविधविषयोपभोगवितृष्णमना निजेन्द्रियनिग्रहमसम्भावनीयमपि

वह संवृतिवक्रता कही गयी है। जो इस प्रकार की है, वह सवृतिवक्रता ऐसा कही गयी है। संवृति से वक्रता (संवृत्या वक्रता) अथवा सवृतिप्रधान (वक्रता) इस प्रकार का यहाँ समास होता है। जहाँ-जिसमे, वस्तु-पदार्थरूप (वस्तु) सवृत किया जाता है, सम्यक् आच्छन्न कर लिया जाता है (उसे सवृतिवक्रता कहते है)। किस हेतु से (वस्तुरूप का संवरण किया जाता है) ?—वैचित्र्य के कथन की इच्छा से, विचित्रभाव के अभिधान की इच्छा से। जिससे पदार्थ विचित्रभाव को प्राप्त कर लेता है—(अर्थ हुआ यह)। किसके द्वारा वस्तु सवृत की जाती है ?— किन्हीं सर्वनाम आदि के द्वारा। सबका जो नाम वह सर्वनाम कहा जाता है। वह सर्वनाम ही जिनके आदि मे हो वे हुए तथोक्त (सर्वनामादि) उनके द्वारा अर्थात् किन्ही अपूर्व (अर्थो के) वाचक (शब्दो) के द्वारा (वस्तुसंवृत किया जाता है)।

इसमे अनेक प्रकार हो सकते है। (प्रथम प्रकार इस तरह का है)—जहाँ कोई भी अतिशययुक्त वस्तु का (साक्षात्) कहा जाना सभव होने पर भी (यह समझकर कि) साक्षात् कथन से (इसका भाव) इतने परिणाममात्र से युक्त होने के कारण सीमितप्राय न प्रतीत होने लगे, इसलिए (अभिधेय वस्तु को) सर्वनामवाची किसी सर्वनाम से आच्छन्न कर उस कार्य (अर्थ) के वाचक, उसके अतिशत के कथनपरक अन्य वाक्य से प्रतीतिविषयता को प्राप्त कराया जाता है। उदाहरण जैसे—

उन (भीष्म) के पिता (शान्तनु) के (सत्यवती से) पाणिग्रहण के अभिलाषी होने पर अत्यन्त छोटी वयवाले उन्होने करने योग्य (आजन्म ब्रह्मचर्य-व्रत-पालन की प्रतिज्ञारूप) कार्य किया जिससे पुष्प-धनुप की छोर पर गाल रखे कामदेव किसी (अनिर्वचनीय अवस्था मे) डुबो दिये गये॥ ५८॥

शान्तनवो विहितवानित्यभिधातुं शक्यमपि सामान्याभिधायिना सर्वनाम्नाच्छाद्योत्तरार्धेन कार्यान्तराभिधायिना वाक्यान्तरेण प्रतीतिगोचरतामानीयमानं कामपि चमत्कारितामावहति।

अयमपरः प्रकारो यत्र स्वपरिस्पन्दकाष्ठाधिरूढेः सातिशयं वस्तु वचसामगोचर इति प्रथयितुं सर्वनाम्ना समाच्छाद्य तत्कार्याभिधायिना तदतिशयवाचिना वाक्यान्तरेण समुन्मील्यते। यथा—

> याते द्वारवतीं तदा मधुरिपौ तद्दत्तसम्पादनां
> कालिन्दीजलकेलिवञ्जुललतामालम्ब्य सोत्कण्ठया।
> तद्गीतं गुरुबाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं राधया
> येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम् ॥ ५९ ॥

अत्र सर्वनाम्ना संवृतं वस्तु तत्कार्याभिधायिना वाक्यान्तरेण समुन्मील्य सहृदयहृदयहारितां प्रापितम्। यथा वा—

यहाँ, सदाचार-परायण होने के कारण गुरुजन (पिता) की भक्ति से भावित चित्त, अलौकिक औदार्य-गुण से युक्त होने के कारण विभिन्न विषयो के उपभोग से पराङ्मुख मन, शान्तनु के पुत्र (भीष्म) ने सभावना न होने पर भी अपनी इन्द्रियो का निग्रह कर लिया ऐसा कहना सभव होने पर भी, सामान्य के अभिधायक सर्वनाम से आच्छादित कर (मन्मथ-दशारूप) दूसरे कार्य को अभिव्यक्त करने वाले उत्तरार्द्ध के दूसरे वाक्य के द्वारा प्रतीति-पदवी को प्राप्त कराया जाता हुआ किसी अपूर्व चमत्कारिता को प्रस्तुत कर रहा है।

(सवृतिवक्रता का) यह अन्य प्रकार है, जहाँ अपने स्वभाव की सीमा पर अधिरूढ होने के कारण अतिशययुक्त वस्तु वागगोचर है, ऐसा प्रख्यापित करने के लिए किसी सर्वनाम के द्वारा उसे समाच्छादित कर उस कार्य को अभिहित करने वाले, उसके अतिशयवाची किसी अन्य वाक्य के द्वारा समुन्मीलित किया जा है। उदाहरण जैसे—(कृष्ण के वियोग से विधुरा राधा का चित्रण है—) उस समय मधुसूदन भगवान् कृष्ण के द्वारका चले जाने पर, उनके द्वारा प्रदान की गयी सत्क्रियावाली, यमुना के जल मे क्रीड़ा (मूलक) वञ्जुल (वेतस) लता का अवलम्बन कर उत्कण्ठायुक्त राधा ने अतिशय ऑसुओ से गद्गद्कण्ठ उच्च स्वर वह (करुण) गान किया कि जिससे जल के बीच विचरण करने जलचर जीवो से भी उन्मना होकर (विरहपूर्ण) चीत्कार किया जाने लगा ॥ ५९ ॥

यहाँ पर (तद्गीत के तत् इस) सर्वनाम से अच्छादित (राधा का विरहगीतरूप) वस्तु, उस कार्य को कहने वाले (राधा के अपूर्व विरहव्यथा को व्यक्त करने वाले) दूसरे वाक्य (श्लोक के अन्तिम पाद जलचारियो के करुण-कूजनरूप) के द्वारा विधिवत् प्रकाशित कर सहृदयो के हृदय की हारिता को प्राप्त करा दी गयी है। अथवा जैसे—

तह रुण्णं कण्ह विसाही आए रोहगग्गरगिराए।
जह कस्सवि जम्मसएवि कोइ मा वल्लहो होउ ॥ ६० ॥
तथा रुदितं कृष्ण विशाखया रोधगद्गद्गिरा।
यथा कस्यापि जन्मशतेऽपि कोऽपि मा वल्लभो भवतु ॥
॥ इतिच्छाया ॥

अत्र पूर्वार्द्धे संवृतं वस्तु रोदनलक्षणं तदतिशयाभिधायिना वाक्यान्तरेण कामपि तद्विदाह्लादकारितां नीतम्।

इदमपरमत्र प्रकारान्तरं यत्र सातिशयसुकुमारं वस्तु कार्यातिशयाभिधानं विना संवृतिमात्ररमणीयतया कामपि काष्ठामधिरोप्यते। यथा—

दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः।
वीक्ष्य बिम्बमनुबिम्बमात्मनः कानि कानि न चकार लज्जया ॥ ६१ ॥

अयमपरः प्रकारो यत्र स्वानुभवसंवेदनीयं वस्तु वचसा वक्तुमविषय इति ख्यापयितुं संव्रियते। यथा—

तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥ ६२ ॥

इति पूर्वमेव व्याख्यातम्।

हे कृष्ण (तुम्हारे वियोग में) अवरुद्ध गद्गद् वाणी से विशाखा ने वैसा (करुण) क्रन्दन किया कि (यह कहना पडता है कि) सैकडो जन्मो मे भी कोई भी किसी का भी प्रियतम न होवे (न कोई किसी का वल्लभ होगा, न वियोग मे ऐसे कष्ट होगे ॥ ६० ॥

यहाँ पर पूर्वार्द्ध मे रोदनरूप समावृत वस्तु उसके अतिशयवाची अन्य वाक्य (कि कोई भी किसी का सैकडो जन्मो मे भी प्रेमी न बने) के द्वारा किसी अनिर्वाच्य काव्यमर्मज्ञो को आनन्द प्रदान करने की अवस्था को प्राप्त करा दी गयी है।

यहाँ (सवृतिवक्रता मे) यह और दूसरा प्रकार है जहाँ अत्यन्त सुकुमार वस्तु (उसके) कार्य के अतिशय का वर्णन किये बिना सवरणमात्र की रमणीयता के कारण अनिर्वचनीय सीमा तक पहुँचा दी जाती है। जैसे—(कुमारसभव ८।११ के इस श्लोक मे, जहाँ पार्वती की श्रृङ्गारिक चेष्टाओ का वर्णन है—)

दर्पण मे (प्रिय भगवान् शिव के द्वारा सुरत मे कपोल आदि पर हुए) परिभोग को (नखक्षत, दन्तक्षत आदि चिन्हो को) देखती हुई पार्वती ने पीछे बैठे हुए प्रणयी (शिव) की छाया को अपनी छाया के पीछे देखकर लज्जा के कारण क्या-क्या नहीं किया ॥ ६१ ॥

यहाँ पर कानि-कानि सर्वनाम से पार्वती की लज्जाजनित चेष्टाओ का संवरण किया गया है किन्तु इन्ही पदों से सुन्दर वनिता की तात्कालिक छवि सम्मुख उपस्थित हो जाती है।

(सवृतिवक्रता का) यह और भी प्रकार है, जहाँ अपने अनुभव से जानने योग्य वस्तु, वाणी से कहने का विषय नही है ऐसा व्यक्त करने के लिए, समाच्छादित कर ली जाती है। जैसे—(१।५१, पर उदाहृत श्लोकाश)—'तान्यक्षराणि हृदये किमपि

इदमपि प्रकारान्तरं सम्भवति यत्र परानुभवसंवेद्यस्य वस्तुनो वक्तुरगोचरतां प्रतिपादयितुं संवृतिः क्रियते । यथा—

मन्मथः किमपि येन निदध्यौ ॥ ६३ ॥

अत्र त्रिभुवनप्रथितप्रतापमहिमा तथाविधशक्तिव्याघातविषण्णचेताः काम किमपि स्वानुभवसमुचितमचिन्तयदिति ।

इदमपरं प्रकारान्तरमत्र विद्यते—यत्र स्वभावेन कविविवक्षया वा केनचिदौपहत्येन युक्तं वस्तु महापातकमिव कीर्तनीयतां नार्हतीति समर्पयितुं संव्रियते । यथा—

दुर्वचं तदथ मास्मभून्मृगस्त्वय्यसौ यदकरिष्यदोजसा ।
नैनमाशु यदि वाहिनीपतिः प्रत्यपत्स्यत शितेन पत्रिणा ॥ ६४ ॥

ध्वनन्ति मे । जहाँ तानि पद से 'सम्भोगकाल मे प्रियतमा के उन अकथनीय वागगोचर अस्फुट अक्षरो, की सातिशयता प्रस्तुत की गयी है । पद की व्याख्या पहले ही की जा चुकी है ॥ ६२ ॥

(सवृतिवक्रता का) यह भी एक और भेद हो सकता है, जहाँ अन्य के द्वारा अनुभव सवेदनीय वस्तु की वक्ता के द्वारा की जाने वाली प्रतिपादना की अगोचरता को प्रतिपादित करने के लिए (सर्वनाम से) उस वस्तु का सवरण कर लिया जाता है । उदाहरण जैसे सवृतिवक्रता के ही प्रथम उदाहरण के अन्तिम पद मे—'जिससे कामदेव किसी अनिर्वचनीय अवस्था मे डुबा दिया गया ॥ ६३ ॥

(यहाँ भीष्म की अपूर्व प्रतिज्ञा से त्रिभुवन-विदित प्रताप शोचनीय अवस्था को प्राप्त काम की अवस्था का वर्णन किसी वक्ता से सभव नही है, प्रतिपादित करने के लिए ही 'यत्' सर्वनाम का प्रयोग किया गया है ।) यहाँ त्रैलोक्य-विख्यात अपने पराक्रम की महिमावाला (भीष्म के द्वारा की गयी प्रतिज्ञा से) उस प्रकार से अपनी शक्ति के विनाश से विषण्ण मन काम ने अपने अनुभव योग्य किसी अकथनीय बात को सोची (जिसे कोई और सोच न सकता और न ही कह सकता है) ।

इस (संवृतिवक्रता) मे और अन्य भेद भी है—जहाँ स्वभाव अथवा कविविवक्षा के कारण कोई वस्तु किसी दोष से युक्त महापातक की भाँति कथन के योग्य नही है, ऐसा प्रतिपादित करने के लिए छिपा ली जाती है । जैसे—(किरात के १३।१४ के इस श्लोक मे । शूकर-वेषधारी दानव पर किरात-वेष शिव एव अर्जुन के बाण-प्रहार के बाद किरात-नरेश के गण से हो रहे अर्जुन-सवाद मे किरात का कथन है)—

यदि (मेरे) सेनापति ने तीक्ष्ण बाण से इसे शीघ्र न मारा होता तो यह पशु (शूकर) अपने भयंकर पराक्रम से तुम्हारे प्रति जो करता, वह दुःख से ही कथनीय है और वह (तुम्हारे लिए) न हो ॥ ६४ ॥

मुचितभावस्तस्य विच्छित्तिमुपशोभां विकासयन् सम्मुल्लासयन्। केन—स्वमहिम्ना निजोत्कर्षेण। यथा—

वेल्लद्बलाका घनाः ॥ ६७ ॥

यथा वा—

स्निह्यत्कटाक्षे दृशौ ॥ इति ॥ ६८ ॥

अत्र वर्तमानकालाभिधायी शतृप्रत्ययः कामप्यतीतानागतविभ्रमविरहितां तात्कालिकपरिस्पन्दसुन्दरीं प्रस्तुतौचित्यविच्छित्तिं समुल्लासयन् सहृदयहृदयहारिणीं प्रत्ययवक्रतामावहति ॥ १७ ॥

इदानीमेतस्याः प्रकारान्तरं पर्यालोचयति—

आगमादिपरिस्पन्दसुन्दरः शब्दवक्रताम्।
परः कामपि पुष्णाति बन्धच्छायाविधायिनीम् ॥ १८ ॥

परो द्वितीयः प्रत्ययप्रकारः कामप्यपूर्वां शब्दवक्रतामाबध्नाति वाचकवक्रभावं विदधाति। कीदृक्—आगमादिपरिस्पन्दसुन्दरः। आगमो मुमादिरादिर्यस्य स तथोक्तः, तस्यागमादेः परिस्पन्दः स्वविलसितं तेन सुन्दरः सुकुमारः। कीदृशीं शब्दवक्रताम्—बन्धच्छायाविधायिनीम सन्निवेशकान्तिकारिणीमित्यर्थः।

मान वस्तु का जो औचित्य, उचितभाव, उसकी विच्छित्ति, शोभा विकासित, करता हुआ। किससे?—अपने महिमा से, अपने उत्कर्ष से। जैसे—(पूर्वोदाहृत २।२७ श्लोक के अंश)—वेल्लद्बलाका घना ॥ ६७॥ मे। अथवा जैसे—१।१२१ मे (उद्धृत) स्निह्यत् कटाक्षे दृशौ ॥ ६८ ॥ मे है।

यहाँ (ऊपर के दोनो उदाहरणो मे) वर्तमान काल को अभिहित करने वाला (वेल्लत् तथा स्निह्यत् दोनों मे प्रयुक्त) शतृ प्रत्यय, भूत-भविष्य के (प्रतिपादक) सौन्दर्य से विरहित, तात्कालिक स्वभाव-सुन्दर किसी अपूर्व प्रस्तुत के औचित्य की शोभा को समुल्लासित करता हुआ, सहृदय मनोहारिणी (अपूर्व) प्रत्ययवक्रता को प्रस्तुत कर रहा है ॥ १७ ॥

इस समय इस (प्रत्ययवक्रता) के अन्य भेद की पर्यालोचना करते है—

आगम आदि की शोभा से सुन्दर (प्रत्ययवक्रता का) दूसरा प्रभेद बन्ध की शोभा पैदा करने वाली अपूर्व शब्दवक्रता का परिपोष करता है ॥ १८ ॥

अन्य, दूसरा प्रत्यय प्रकार किसी अपूर्व शब्दवक्रता का आबन्धन करता है, शब्द के वक्रभाव का निर्माण करता है। किस प्रकार का (भेद)?—आगम आदि के परिस्पन्द से सुन्दर। आगम, मुम् आदि (मुम् आदि आगम) आदि मे है जिसके वह हुआ तथोक्त आगमादि, उस आगम आदि का परिस्पन्द, स्वकीय (सौन्दर्य) विलास, उससे सुन्दर, सुकुमार (प्रत्ययवक्रता का भेद)। किस प्रकार की शब्दवक्रता को (पोषित करता है?)—बन्ध की शोभा करने वाली (शब्दो का जो) सन्निवेश, उसको शोभा करने वाली, यह अर्थ हुआ।

यथा—

जाने सख्यास्तव मयि मनः सम्भृतस्नेहमस्मा-
दित्थंभूतां प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि।
वाचालं मां न खलु सुभगम्मन्यभावः करोति
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद् भ्रातरुक्तं मया यत् ॥ ६९ ॥

यथा वा—दाहोऽम्भः प्रसृतिम्पचः ॥ ७० ॥

यथा वा—

पायं पायं कलाची कलाचीकृतकदलदलम् ॥ ७१ ॥ इति ॥

अत्र सुभगंमन्यभावप्रभृतिशब्देषु मुमादिपरिस्पन्दसुन्दराः सन्निवेशच्छायाविधायिनीं वाचकवक्रतां प्रत्ययाः पुष्णन्ति ॥ १८ ॥

उदाहरण जैसे—(मेघदूत का यह ९०वॉ श्लोक है। पत्नी की वियोगावस्था का सुन्दर वर्णन करने के बाद यक्ष मेघ के प्रति उसमे अत्यधिक आस्था पैदा करने के लिए कह रहा है)—मै जानता हूँ, तुम्हारी सखी (मेरी पत्नी) का मन मेरे प्रति स्नेह से परिपूर्ण है, इसीलिए (इस) प्रथम-प्रथम वियोग मे मै उसे इस प्रकार की (जैसा की मैने इसके पूर्व मेरे वियोग मे होने वाली उसकी विरहदशा का वर्णन किया है) सोचता हूँ। अपने को सुन्दर मानने का भाव (सुभगम्मन्यभाव) मुझे बहुभाषी नही बना रहा है (मै अपने को बहुत सुन्दर समझता हूँ, इसीलिए यह समझता हूँ कि मेरे वियोग मे उसकी ये-ये अवस्थाएँ होगी। बात ऐसी नही है। कोई व्यर्थ प्रलाप मैने नही किया है, अधिक कहने से क्या) भाई, मैने जो भी कहा है, शीघ्र ही वह सम्पूर्ण तुम्हारी ऑखो के सामने होगा ॥ ६९ ॥

अथवा जैसे– पूर्वोदाहृत १।४८ के अश)—

दाहोऽम्भ प्रसृतिम्पचः ॥ ७० ॥ इत्यादि मे।

अथवा जैसे–(२।१० मे उदाहृत)—

पाय पायं कलाचीकृतकदलदलम् ॥ ७१ ॥ मे।

यहॉ (इन तीनो उदाहरणो मे) सुभगम्मन्यभाव आदि (प्रसृतिम्पचः, पाय-पायम्) शब्दो मे मुम् आदि के परिस्पन्द से सुन्दर प्रत्यय (सुभगमात्मान मन्यते इस अर्थ मे सुभग उपपद मन् धातु से खश् प्रत्यय एव मुम् का आगम होकर 'सुभगमन्य शब्द बनता है। 'सुभगम्मन्यभाव' पद से श्लोक मे सौन्दर्य का उत्कर्ष बढ़ गया है। इसी प्रकार 'प्रसृति पचति' इस अर्थ मे प्रसृति उपपद पच् धातु से खश्, मुम् होकर 'प्रसृतिम्पच' शब्द की निष्पत्ति होती है। यहॉ भी इस पद के प्रयोग से वियोगिनी की दहकती विरहाग्नि का बाहुल्य द्योतित होता है। 'पायं पायम्' मे भी पीत्वा-पीत्वा के अर्थ मे 'पा' धातु से णमुल् एवं युक् का आगम करके 'पायम्पायम्' शब्द निष्पन्न होता है, जिससे प्रकृत मे चारुता की वृद्धि हो गयी है। इस प्रकार तीनो ही उदाहरणो मे आगम हुआ है) रचना की शोभा करने वाली वाचक (शब्द) वक्रता को पोषित कर रहे है ॥ १८ ॥

एवं प्रसङ्गसमुचितां पदमध्यवर्तिप्रत्ययवक्रतां विचार्य समनन्तरसम्भाविनीं वृत्तिवक्रतां विचारयति—

अव्ययीभावमुख्यानां वृत्तीनां रमणीयता ।
यत्रोल्लसति सा ज्ञेया वृत्तिवैचित्र्यवक्रता ॥ १९ ॥

सा वृत्तिवैचित्र्यवक्रता ज्ञेया बोद्धव्या । वृत्तीनां वैचित्र्यं विचित्रभावः सजातीयापेक्षया सौकुमार्योत्कर्षस्तेन वक्रता वक्रभावविच्छित्तिः । कीदृशी—रमणीयता यत्रोल्लसति । रामणीयकं यस्यामुद्भिद्यते । कस्य वृत्तीनाम् । कासाम्—अव्ययीभावमुख्यानाम् । अव्ययीभावः समासः मुख्यः प्रधानभूतो यासां तास्तथोक्तास्तासां समासतद्धितसुब्धातुवृत्तीनां वैयाकरणप्रसिद्धानाम् । तदयमत्रार्थः—यत्र स्वपरिस्पन्दसौन्दर्यमेतासां समुचितभित्तिभागोपनिबन्धादभिव्यक्तिमासादयति ।

यथा—

अभिव्यक्तिं तावद्बहिरलभमानः कथमपि
स्फुरन्नन्त स्वात्मन्यधिकतरसम्मूर्च्छितभरः ।
मनोज्ञामुद्वृत्तां परपरिमलस्पन्दसुभगा-
महो धत्ते शोभामधिमधु लतानां नवरसः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार प्रसङ्गानुकूल पदो मे रहने वाली प्रत्ययवक्रता का विचार कर उसके तुरन्त बाद होने वाली वृत्तिवक्रता का विचार करते है—

जहाँ अव्ययीभाव प्रधान वृत्तियो की रमणीयता समुद्भासित होती है, उसे वृत्तिवैचित्र्यवक्रता जाननी चाहिए ॥ १६ ॥

उसे वृत्तिवैचित्र्यवक्रता जानना चाहिए, समझना चाहिए । वृत्तियो का वैचित्र्य, विचित्रभाव, सजातीय (शब्दो की) अपेक्षा सुकुमारता का उत्कर्ष उससे होने वाली वक्रता, वक्रभाव की सुन्दरता (वृत्तिवैचित्र्यवक्रता कही जाती है) । कैसी (है वह) ? जहाँ रमणीयता उल्लसित होती है । जिसमे रमणीयता उद्भूत होती है । किसकी (रमणीयता) ?—वृत्तियो की । किन (वृत्तियो) की ?—अव्ययीभाव प्रधान (वृत्तियों) की । अव्ययीभाव समास मुख्य, प्रधानभूत है जिनमे उन समास, तद्धित, सुप्, धातु-वृत्तियो का, जो वैयाकरणो मे प्रसिद्ध है । तो यहाँ यह अर्थ हुआ—जहाँ इन वृत्तियो का अपना सहज-सौन्दर्य समुचित भित्तिभाग (वस्तु आदि) मे उपनिबन्धित होने के कारण अभिव्यक्ति प्राप्त करता है (वहाँ वृत्तिवैचित्र्यवक्रता समुल्लसित होती है) ।

उदाहरण जैसे—ओ हो, मधुमास को प्राप्त कर लताओं का नया रस किसी भी प्रकार से बाहर न निकल पाने के कारण अपने अन्दर ही स्फुरित होता हुआ अतिशय समुत्पन्न मूर्छा के भार से युक्त, बाहर निकल पडने वाली मनोरम एवं अत्यधिक परिमल के निर्गम से सुसेव्य अपूर्व शोभा को धारण कर लेता है ॥ ७२ ॥

अत्र 'अधिमधु'शब्दे विभक्त्यर्थविहितः समास समयाभिधाय्यपि विषयसप्तमीप्रतीतिमुत्पादयन् 'नवरस'शब्दस्य श्लेषच्छायाच्छुरणवैचित्र्यमुन्मीलयति। एतद्वृत्तिविरहिते विन्यासान्तरे वस्तुप्रतीतौ सत्यामपि न तादृक्तद्विदाह्लादकारित्वम्। उद्वृत्तपरिमलस्पन्दसुभगशब्दानामुपचारवक्रत्वं परिस्फुरद्विभाव्यते। यथा च—

आस्वर्लोकादुरगनगरं नूतनालोकलक्ष्मी-
मातन्वद्भिः किमिव सिततां चेष्टितैस्ते न नीतम्।
अप्येतासां दयितविहिता विद्विषत्सुन्दरीणां
यैरानीता नखपदमयी मण्डना पाण्डिमानम्॥ ७३॥

अत्र पाण्डुत्व-पाण्डुता-पाण्डुभावशब्देभ्यः पाण्डिमशब्दस्य किमपि वृत्तिवैचित्र्यवक्रत्वं विद्यते। यथा च—

कान्तत्वीयति सिंहलीमुखरुचां चूर्णाभिषेकोल्लस-
ल्लावण्यामृतवाहिनिर्झरजुषामाचान्तिभिश्चन्द्रमाः।

यहाँ पर 'अधिमधु' शब्द मे ('अव्ययं विभक्ति समी०' आदि सूत्र से, 'मधौ इति अधिमधु' इस प्रकार के विग्रह करने पर) विभक्ति अर्थ मे किया गया (अव्ययीभाव) समास (वसन्तर्तु रूप) समय का वाचक होने पर भी विषय मे सप्तमी (मधौ इति) की प्रतीति उत्पन्न करता हुआ 'नवरस' शब्द की श्लेष की शोभा से मण्डित विचित्रता को उन्मीलित करता है। इस वृत्ति (अव्ययीभाव समास) के बिना दूसरे ढग मे रचना करने पर वस्तु की प्रतीति होने पर भी उस प्रकार की तद्विद् आह्लादकारिता नही हो पाती। (वृत्तिवक्रता के अतिरिक्त इसी उदाहरण मे प्रयुक्त) उद्वृत्त, परिमल, स्पन्द तथा सुभग शब्दो की उपचारवक्रता भी प्रकाशित होती प्रतीत हो रहा है।

अथवा जैसे—(सुभाषितावली की स० २९५४ पर उद्धृत इस श्लोक मे, जहाँ किसी विशिष्ट व्यक्ति का वैशिष्ट्य प्रतिपादित किया जा रहा है—) (श्रीमन्), स्वर्गलोक से लेकर नागलोक (पाताल) तक अभिनव कान्ति की शोभा का चतुर्दिक् विस्तार करने वाले तुम्हारे कार्यो (कीर्तिप्रतान) से कौन-सी वस्तु शुभ्रता को प्राप्त नहीं करा दी गयी (और यही नही) इन शत्रुवनिताओ की अपने प्रियतम से विरचित नखपदरूप अलङ्करण भी जिन (सुचरितो) से पाण्डुता को प्राप्त करा दिये गये है॥ ७३॥

यहाँ पाण्डुत्व, पाण्डुता तथा पाण्डुभाव शब्दो की अपेक्षा पाण्डिमा शब्द की कोई अपूर्व ही (तद्धितरूप) वृत्तिवैचित्र्यवक्रता वर्तमान है।

और जैसे—(चन्द्र-सौन्दर्य के इस वर्णन मे)—चूर्णलेपपूर्वक किये गये स्नान से छलकते कान्ति-सुधा को वहन करने वाले झरनो से सुमधुर सिंहल-सुन्दरियो के मुखसौन्दर्य के आचमनो से चन्द्रमा (इस प्रकार के) कान्तभाव को प्राप्त कर रहा है। जिससे (यह चन्द्रमा) देवेन्द्रपर्यन्त जगती को जीत लेने वाले मनोजन्मा भगवान् कामदेव के पानगोष्ठियो के महोत्सव-प्रसङ्गो मे एकछत्र (राजा) सा आचरण करता है॥ ७४॥

येनापानमहोत्सवव्यतिकरेष्वेकातपत्रायते
देवस्य त्रिदशाधिपावधिजगज्जिष्णोर्मनोजन्मनः ॥ ७४ ॥

अत्र सुब्धातुवृत्तेः समासवृत्तेश्च किमपि वक्रतावैचित्र्यं परिस्फुरति ।

एवं वृत्तिवक्रतां विचार्य पदपूर्वार्द्धभाविनीमुचितावसरां भाववक्रतां विचारयति—

साध्यतामप्यनादृत्य सिद्धत्वेनाभिधीयते ।
यत्र भावो भवत्येषा भाववैचित्र्यवक्रता ॥ २० ॥

एषा वर्णितस्वरूपा भाववैचित्र्यवक्रता भवत्यस्ति । भावो धात्वर्थरूपस्तस्य वैचित्र्यं विचित्रभावः प्रकारान्तराभिधानव्यतिरेकि रामणीयकं तेन वक्रता वक्रत्वविच्छित्तिः । कीदृशी ? यत्र यस्यां भावः सिद्धत्वेन परिनिष्पन्नत्वेनाभिधीयते भण्यते । किं कृत्वा—साध्यतामप्यनादृत्य निष्पाद्यमानतां प्रसिद्धामप्यवधीर्य । तदिदमत्र तात्पर्यम्—साध्यत्वेनापरिनिष्पत्तेः प्रस्तुतस्यार्थस्य दुर्बलः परिपोषः, तस्मात् सिद्धत्वेनाभिधानं परिनिष्पन्नत्वात्पर्याप्तं प्रकृतार्थपरिपोषमावहति । यथा—

यहाँ (कान्तत्वीयति मे प्रथमतः तो कान्तत्व मे तद्धित वृत्ति है, पुनः उस सुबन्त पद को आचारार्थ मे क्यङ् से धातु बनाकर कान्तत्वीयति मे तथा इसी प्रकार एकातपत्र शब्द से (एकातपत्रायते मे भी आचारार्थ क्यङ् प्रत्यय करके धातु बना कर) सुब्धातुवृत्ति एवं (अन्य पदो मे तत्पुरुषसमासादि रूप) समासवृत्ति का कोई अपूर्व ही वक्रत्व-सौन्दर्य प्रकाशित हो रहा है ।

इस प्रकार वृत्तिवक्रता का विचारकर पद के पूर्वार्द्ध मे होने वाली, उचित अवसरप्राप्त भाववक्रता का विचार करते है—

जहाँ (क्रिया की) साध्यता का भी तिरस्कार कर भाव (क्रिया या व्यापार) सिद्ध के रूप मे कहा जाता है, वहाँ यह भाववैचित्र्यवक्रता होती है ॥ २० ॥

यह (कारिका द्वारा) वर्णितस्वरूप वाली भाववैचित्र्यवक्रता होती है । भाव (कहते है) धातु के अर्थ (क्रिया या व्यापार) रूप को, उसका वैचित्र्य, विचित्रभाव, प्रकारान्तर से कहे जाने के कारण प्रकृष्ट रमणीयता, उससे होने वाली वक्रता अर्थात् वक्रत्व की शोभा (वृत्तिवैचित्र्यवक्रता कही जाती है) । कैसी ?—जहाँ, जिस (वक्रता) मे भाव सिद्धरूप से, परिनिष्पन्नरूप से अभिहित किया जाता है, कहा जाता है । क्या करके ?—(उसकी) साध्यता को भी तिरस्कृत कर, प्रसिद्ध भी निष्पाद्यमानता की अवधीरणा करके (सिद्धरूप से कहा जाता है) । यहाँ इसका तात्पर्य यह हुआ—(भाव का) साध्यरूप से वर्णन करने पर पूर्णतया निष्पन्न न हो पाने के कारण प्रस्तुत वस्तु का परिपोष दुर्बल पड़ जाता है, इसलिए सिद्धरूप से कथन पूर्णतः निष्पन्न होने के कारण पर्याप्तरूप मे (भाव) प्रकृत अर्थ का परिपोष करता है । जैसे—(विरहिणी का वर्णन है)—(निरन्तर) उच्छ्वास की पीड़ा से

श्वासायासमलीमसाधररुचेर्दोःकन्दलीतानवात्
केयूरायितमङ्गदैः परिणतं पाण्डिम्नि गण्डत्विषा ।
अस्याः किं च विलोचनोत्पलयुगेनात्यन्तमश्रुस्नुता
तारं तादृगपाङ्गयोररुणितं येनोत्प्रतापः स्मरः ॥ ७५ ॥

अत्र भावस्य सिद्धत्वेनाभिधानमतीव चमत्कारकारि ॥ २० ॥

एवं भाववक्रतां विचार्य प्रातिपदिकान्तर्वर्तिनीं लिङ्गवक्रतां विचारयति—

भिन्नयोर्लिङ्गयोर्यस्यां सामानाधिकरण्यतः ।
कापि शोभाभ्युदेत्येषा लिङ्गवैचित्र्यवक्रता ॥ २१ ॥

एषा कथितस्वरूपा लिङ्गवैचित्र्यवक्रता स्त्र्यादिविचित्रभाववक्रता विच्छित्तिः । भवतीति सम्बन्धः, क्रियान्तराभावात् । कीदृशी यस्यां यत्र विभिन्नयोर्विभक्तस्वरूपयोर्लिङ्गयोः सामानाधिकरण्यतस्तुल्याश्रयत्वादेकद्रव्यवृत्तित्वात् काप्यपूर्वा शोभाभ्युदेति कान्तिरुल्लसति । यथा—

मलिन अधर-कान्ति इस वियोगिनी के कङ्कण भुजवल्ली की कृशता के कारण भुजबन्ध का आचरण किये हुए (भुजबन्ध जैसे लगने लगे है), कपोल की कान्ति पीतिमा मे परिणत हो गयी है । (अधिक क्या) अतिशय आँसू बहाने वाले दोनो नयनकमल प्रान्त भाग मे वैसे अत्यधिक अरुणित हो गये है कि जिससे काम (और भी) उत्कट प्रताप वाला हो गया है ॥ ७५ ॥

यहाँ पर भाव का सिद्ध के रूप मे अभिधान अत्यन्त चमत्कारकारी हो गया है ॥ २० ॥

इस प्रकार भाववक्रता का विचारकर प्रातिपदिक के अन्तर्गत होने वाली लिङ्ग-वक्रता का विचार करते है—

जहाँ भिन्न-भिन्न लिङ्गों के (रहते भी प्रयोग मे) उनकी समान अधिकरणता के कारण कोई अपूर्व शोभा उदित हो जाती है (वह) यह लिङ्गवैचित्र्यवक्रता कही जाती है ॥ २१ ॥

यह (कारिका द्वारा) कथित स्वरूपवाली लिङ्गवैचित्र्यवक्रता, स्त्री आदि (लिङ्गों) के विचित्रभाव की वक्रता, विच्छित्ति होती है। भवति (होती है) इस क्रिया का 'लिङ्गवैचित्र्यवक्रता' से सम्बन्ध है, क्योकि दूसरी क्रिया का अभाव है । कैसी है (वह वक्रता) ?—जिसमे, जहाँ भिन्न-भिन्न, पृथक् स्वरूपवाले दो लिङ्गो के सामानाधिकरण्य, समान आश्रयता के कारण, एक द्रव्यश्रयी होने से कोई अपूर्व ही शोभा अभ्युदित होती है, कान्ति उल्लसित होती है (वहाँ लिङ्गवैचित्र्यवक्रता) होती है । उदाहरण जैसे—(राजशेखर के बाल-रामायण नाटक १।३०, मे रावण का कथन है—) जिस (शिवधनु) के आरोपण-कार्य से ही बहुतो के द्वारा वीरता का व्रत परित्यक्त करा दिया गया है । इन भुजाओं से मुझे उसी शिव-धनुष को बाणयुक्त

यस्यारोपणकर्मणापि बहवो वीरव्रतं त्याजिताः
कार्यं पुङ्खितबाणमीश्वरधनुस्तद्दोर्भिरेभिर्मया ।
स्त्रीरत्नं तद्गर्भसम्भवमितो लभ्यं च लीलायिता
तेनैषा मम फुल्लपङ्कजवनं जाता दृशां विंशतिः ॥ ७६ ॥

यथा वा—

नभस्वता लासितकल्पवल्लीप्रवालबालव्यजनेन तस्य ।
उरःस्थलेऽकीर्यत दक्षिणेन सर्वास्पदं सौरभमङ्गरागः ॥ ७७ ॥

यथा च—

आयोज्य मालामृतुभिः प्रयत्नसम्पादितामंसतटेऽस्य चक्रे ।
करारविन्दं मकरन्दबिन्दुस्यन्दिश्रिया विभ्रमकर्णपूरः ॥ ७८ ॥

इयमपरा लिङ्गवैचित्र्यवक्रता—

सति लिङ्गान्तरे यत्र स्त्रीलिङ्गं च प्रयुज्यते ।
शोभानिष्पत्तये यस्मान्नामैव स्त्रीति पेशलम् ॥ २२ ॥

यत्र यस्यां लिङ्गान्तरे सत्यन्यस्मिन् सम्भवत्यपि लिङ्गे स्त्रीलिङ्गं प्रयुज्यते निबध्यते । अनेकलिङ्गत्वेऽपि पदार्थस्य स्त्रीलिङ्गविषयः प्रयोगः क्रियते । किमर्थम्—शोभानिष्पत्तये । कस्मात् कारणात्—यस्मान्नामैव स्त्रीति पेशलम् ।

करना है और इस कार्य से गर्भ से अनुत्पन्न (अयोनिजा) सीतारूप उस स्त्रीरत्न को प्राप्त करना है, तभी तो मेरे नेत्रों की सुन्दर यह बीसी खिले कमलवन के समान हो गयी है ॥ ७६ ॥ अथवा जैसे—(रचना बालरामायण, ७।६६ की है)—

दक्षिण पवन के द्वारा उसके वक्षःस्थल पर नचायी गयी कल्पलता के अभिनव पल्लवरूप बालव्यजन से सर्वनिधान सौरभयुक्त (विलेपनरूप) अङ्गराग बिखेर दिया गया ॥ ७७ ॥

अथवा जैसे—ऋतुओं ने प्रयत्नपूर्वक बनायी गयी माला को इसके स्कन्ध-प्रान्त में डालकर टपकते मकरन्द बिन्दुयुक्त कर-कमल को शोभापूर्वक सुन्दर कर्णपूर बना दिया ॥ ७८ ॥

(उपर्युक्त तीनों ही उदाहरणों में क्रमशः प्रथम में 'फुल्लपङ्कजवनम्' तथा 'दृशां विंशतिः' में यद्यपि नपुंसकलिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग है, किन्तु एकाश्रय में होने से 'जाता' स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग 'लिङ्गवैचित्र्य' के सौन्दर्य को प्रस्तुत करता है । द्वितीय में सर्वास्पदं सौरभम्' तथा 'अङ्गराग.' में क्रमशः नपुंसक एवं पुल्लिङ्ग होने पर भी सामानाधिकरण्य से प्रयोग है । इसी प्रकार अन्तिम में भी 'करारविन्दम्' और 'विभ्रमकर्णपूरः' में भी पूर्ववत् सौन्दर्य है ।)

यह दूसरी लिङ्गवैचित्र्यवक्रता है—जहाँ अन्य लिङ्ग के सम्भव होने पर भी 'स्त्री नाम ही सुन्दर होता है' ऐसा मानकर सौन्दर्य-सम्पादन के लिए स्त्रीलिङ्ग का ही प्रयोग किया जाता है (वहाँ भी लिङ्गवैचित्र्यवक्रता पायी जाती है) ।

स्त्रीत्यभिधानमेव हृदयहारि। विच्छित्त्यन्तरेण रसादियोजनयोग्यत्वात्। उदाहरणं यथा—

यथेयं ग्रीष्मोष्मव्यतिकरवती पाण्डुरभिदा
मुखोद्भिन्नम्लानानिलतरलवल्लीकिसलया।
तटी तारं ताम्यत्यतिशशियशाः कोऽपि जलद-
स्तथा मन्ये भावी भुवनवलया क्रान्तिसुभगा॥ ७९॥

अत्र त्रिलिङ्गत्वे सत्यपि 'तट'शब्दस्य सौकुमार्यात् स्त्रीलिङ्गमेव प्रयुक्तम्। तेन विच्छित्त्यन्तरेण भावी नायकव्यवहारः कश्चिदासूत्रित इत्यतीव रमणीयत्वाद्वक्रतामावहति॥ २२॥

इदमपरमेतस्याः प्रकारान्तरं लक्षयति—

विशिष्टं योज्यते लिङ्गमन्यस्मिन् सम्भवत्यपि।
यत्र विच्छित्तये सान्या वाच्यौचित्यानुसारतः॥ २३॥

सा चोक्तस्वरूपान्यापरा विद्यते। यत्र यस्या विशिष्टं (लिङ्गं) योज्यते लिङ्गत्रयाणामेकतमं किमपि कविविवक्षया निबध्यते कथम्—अन्यस्मिन्

जहाँ, जिसमे दूसरे लिङ्ग के रहते, दूसरे लिङ्ग के सम्भव होने पर भी स्त्रीलिङ्ग (ही) प्रयुक्त किया गया है, निबन्धित किया जाता है। पदार्थ की अनेकलिङ्गता रहने पर भी स्त्रीलिङ्ग विषय का ही प्रयोग किया जाता है। किसलिए ?—शोभा की निष्पत्ति के लिए। किस कारण से ?—क्योंकि 'स्त्री यह नाम ही पेशल' होता है। स्त्री यह कथन ही हृदयहारी होता है। शोभान्तर की सृष्टि करने से स्त्रीलिङ्ग या अभिधान रसादि की समायोजना के योग होने के कारण (स्त्री यह अभिधान ही हृदयहारी होता है)। उदाहरण जैसे—

जिस प्रकार से यह ग्रीष्म की ऊष्मा से युक्त, पीत वर्ण के भेद को प्राप्त मुख (प्रवेशद्वार) से निकलती हुई ऊष्म वायु से लहराती लताकिसलयो से युक्त (मुख से प्रकट म्लान तथा लहराती तनुलता करादि किसलयवती) तलहटी (नायिका) अत्यधिक सन्तप्त हो रही है, उससे तो ऐसा लगता है कि, चन्द्रमा की कीर्ति (ज्योत्स्ना) को भी अतिक्रान्त (आच्छादित) कर देने वाला तथा समस्त लोक-मण्डल को व्याप्त कर लेने के कारण मनोहारी कोई मेघ (नायक) उपस्थित होने ही वाला है॥ ७९॥

तट शब्द की त्रिलिङ्गता (तटः, तटी, तटम् इस प्रकार पुलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग) होने पर भी यहाँ सुकुमारता के कारण स्त्रीलिङ्ग का ही प्रयोग किया गया है। उससे (तटः, तटम् से उत्पन्न होने वाले सौन्दर्य से व्यतिरिक्त) अन्य ही शोभासृष्टि के द्वारा भावी किसी अपूर्व नायक के व्यवहार को निबन्धित किया गया है, इस प्रकार (यह 'तटी' रूप स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग) अत्यन्त रमणीय होने के कारण सौन्दर्य की सृष्टि कर रहा है॥ ३॥

इस (लिङ्गवक्रता) का यह तीसरा अन्य प्रकार है—जहाँ अन्य लिङ्ग के सम्भव होने पर भी अर्थ के औचित्य का अनुसरण करते हुए शोभा-निष्पत्ति के लिए किसी

सम्भवत्यपि, लिङ्गान्तरे विद्यमानेऽपि। किमर्थम्—विच्छित्तये, शोभायै। कस्मात् कारणात्—वाच्यौचित्यानुसारतः। वाच्यस्य वर्ण्यमानस्य वस्तुनो यदौचित्यमुचितभावस्तस्यानुसरणमनुसारस्तस्मात्। पदार्थौचित्यमनुसृत्येत्यर्थः।

यथा—

त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे।
अदर्शयन् वक्तुमशक्नुवन्त्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः॥ ८०॥

अत्र सीतया सह रामः पुष्पकेणावतरंस्तस्याः स्वयमेव तद्विरहवैधुर्यमावेदयति—यत् त्वं रावणेन तथाविधत्वरावरतन्त्रचेतसा मार्गे यस्मिन्नपनीता तत्र तदुपमर्दवशात्तथाविधसंस्थानयुक्तत्वं लतानामुन्मुखत्वं मम त्वन्मार्गानुमानस्य निमित्ततामापन्नमिति वस्तुविच्छित्त्यन्तरेण रामेण योज्यते। यथा—हे भीरु स्वाभाविक सौकुमार्यकातरान्तःकरणे, रावणेन तथाविधक्रूरकर्मकारिणा यस्मिन्मार्गे त्वमपनीता तमेताः साक्षात्कारपरिदृश्यमान-

---

विशेष लिङ्ग का ही प्रयोग किया जाता है, वह अन्य प्रकार की ही (लिङ्गवैचित्र्यवक्रता) है॥ २३॥

और वह प्रकृत कारिका से कथित स्वरूप, अन्य (पूर्वोक्त दो प्रकारो से भिन्न) और ही लिङ्गवक्रता होती है। जहाँ, जिस लिङ्गवक्रता मे विशेष प्रकार के ही लिङ्ग की योजना की जाती है, कवि के कथन की इच्छा से तीनो लिङ्गो मे किसी एक का ही निबन्धन किया जाता है। कैसे ?—अन्य लिङ्ग के सम्भव होने पर भी, अन्य लिङ्ग के विद्यमान रहने पर भी (किसी विशिष्ट का ही प्रयोग करते है)। किसलिए ?—शोभा के लिए। किस कारण से ?—वाच्य वस्तु के औचित्य के अनुसार। वाच्य, वर्ण्यमान वस्तु का जो औचित्य, उचित भाव उसका अनुसरण ही अनुसार (कहा जाता है) अनुसरण करने के कारण। अर्थात् पदार्थ का जो औचित्य उसका अनुसरण करके ही (विशिष्ट प्रकार के लिङ्ग का प्रयोग किया जाता है।) उदाहरण जैसे—(रघुवंश १३।१४ के इस श्लोक मे है। लङ्का से लौटते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सीताजी से राह मे पड़ने वाले स्थानो का परिचय करा रहे है। कहते हैं—)

अयि भीरु! सीते! राक्षस रावण के द्वारा तुम जिस मार्ग ले जायी गयी थी उस मार्ग को बोलने मे असमर्थ इन लताओ ने झुके हुए पल्लवशाखाओं से दयापूर्वक मुझे दिखाया था॥ ८०॥

सीता के साथ पुष्पक विमान से सप्रयाण करते हुए श्रीरामचन्द्रजी यहाँ स्वयं ही उनके विरह की विकलता को निवेदित कर रहे है—कि तुम, उस प्रकार की शीघ्रता से पराधीन चित्त रावण के द्वारा, जिस मार्ग मे से होकर ले जायी गयी थी, उस मार्ग मे उससे किये सघर्षण के कारण, उस प्रकार के अवस्थानो से युक्त होना, लताओ का उसी ओर को उन्मुख होना मेरे लिए तुम्हारे अपहृत मार्ग के अनुमान की निमित्तता

मूर्तयो लताः किल मामदर्शयन्निति। तन्मार्गप्रदर्शनं परमार्थतस्तासां निश्चेतनया न सम्भाव्यमिति प्रतीयमानवृत्तिरुत्प्रेक्षालङ्कार कवेरभिप्रेतः। यथा—तव भीरुत्वं रावणस्य क्रौर्यं ममापि त्वत्परित्राणप्रयत्नपरतां पर्यालोच्य स्त्रीस्वभावादार्द्रहृदयत्वेन समुचितस्वविषयपक्षपातमाहात्म्यादेताः कृपयैव मम मार्गप्रदर्शनमकुर्वन्निति। केन करणभूतेन—शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः यस्माद्वागिन्द्रियवर्जितत्वाद्वक्तुमशक्नुवन्त्यः। यत् किल ये केचिदजल्पन्तो मार्गप्रदर्शनं प्रकुर्वन्ति ते तदुन्मुखीभूतहस्तपल्लवैर्बाहुभिरित्येतदतीव युक्तियुक्तम् तथा चात्रैव वाक्यान्तरमपि विद्यते—

मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम्।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि॥ ८१॥

हरिण्यश्च मां समबोधयन्। कीदृशम्—तवागतिज्ञम्, लताप्रदर्शितमार्गमजानन्तम्। ततस्ताः सम्यगवबोधयन्निति, यतस्तास्तदपेक्षया किञ्चित्प्रबुद्धा

को प्राप्त हुआ। इस प्रकार की वस्तु वाच्य को श्रीरामचन्द्रजी के द्वारा शोभान्तर से संयोजित की जा रही है। जैसे कि—हे भीरु; स्वाभाविक सुकुमारता के कारण भयत्रस्त-हृदय सीते; उस प्रकार के (अकल्पनीय) क्रूर कर्म करने वाले रावण के द्वारा जिस मार्ग मे से होकर तुम ले जायी गयी थी उस मार्ग को प्रत्यक्ष परिदृश्यमान-स्वरूप इन लताओ ने (मानो) मुझे दिखाया था। उनके द्वारा मार्ग का प्रदर्शन वस्तुतः उनके अचेतन होने के कारण (मानो) सम्भव नही था, इस प्रकार प्रतीयमान वृत्ति उत्प्रेक्षा अलङ्कार ही यहाँ कवि का अभिप्रेत है। जैसे—तुम्हारी (सीता की) भीरुता, रावण की क्रूरता और मेरी तुम्हारे परित्राण के प्रयास की तत्परता को भी विचारकर इन लताओ ने अपने स्त्री-स्वभाव के कारण द्रवितहृदय होने से अपने विषय (स्त्रीपक्ष) के प्रति समुचित पक्षपात के प्रभाव से कृपापूर्वक ही मेरे मार्ग का प्रदर्शन किया था। हेतुभूत किससे? (मार्ग प्रदर्शन किया?)—झुके पल्लवयुक्त शाखाओं से। क्योंकि वे वाक् इन्द्रिय से युक्त नही है (वाक्शक्तिहीन है), इसलिए कहने मे असमर्थ होते हुए (शाखाओं से मार्ग-प्रदर्शन किया)। क्योकि जो कोई भी बिना बोले मार्ग-प्रदर्शन करते है, वे उस मार्ग की ओर उन्मुख हुए हस्तपल्लव भुजाओ से ही (मार्ग-प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकार यह समायोजना अत्यन्त युक्तियुक्त है। और यही उसी प्रकार एक दूसरा भी वाक्य (रघुवंश १३।२५) प्रस्तुत है—पुनः श्रीरामचन्द्रजी का कथन है कि)—अपने घास के अँकुरो की बिलकुल अपेक्षा किये बिना ही ऊपर उठी हुई पलकोंयुक्त सुन्दर नेत्रो को दक्षिण दिशा मे लगाती हुई मृगियो ने तुम्हारे जाने के मार्ग से अनभिज्ञ मुझे (मार्ग) बताया॥ ८१॥

और हरिणियो ने मुझे (तुम्हारा मार्ग) बताया। किस प्रकार के मुझको—तुम्हारे जाने के मार्ग को न जानने वाले, लताओ द्वारा प्रदर्शित किये जाने पर भी मार्ग को न जानने वाले मुझे। तदनन्तर (लताओं के द्वारा किये प्रदर्शन के बाद)

इति। ताश्च कीदृश्यः—तथाविधवैशससन्दर्शनवशाद् दुःखितत्वेन परित्यक्ततृणग्रासाः। किं कुर्वाणाः—तस्यां दिशि नयनानि समर्पयन्त्यः। कीदृशानि—ऊर्ध्वीकृतपक्ष्मपङ्क्तीनि। तदेवं तथाविधस्थानकयुक्तत्वेन दक्षिणां दिशमन्तरिक्षेण नीतेति संज्ञया निवेदयन्त्यः। अत्र वृक्षमृगादिषु लिङ्गान्तरेषु सम्भवत्स्वपि स्त्रीलिङ्गमेव पदार्थौचित्यानुसारेण चेतनचमत्कारकारितया कवेरभिप्रेतम्। तस्मात् कामपि वक्रतामावहति ॥ २३ ॥

एवं प्रातिपदिकलक्षणस्य सुबन्तसम्भविनः पदपूर्वार्धस्य यथासम्भवं वक्रभावं विचार्येदानीमुभयोरपि सुप्तिङन्तयोर्धातुस्वरूपः पूर्वभागो यः सम्भवति तस्य वक्रतां विचारयति। तस्य च क्रियावैचित्र्यनिबन्धनत्वमेवं वक्रत्वं विद्यते। तस्मात् क्रियावैचित्र्यस्यैव कीदृशाः कियन्तश्च प्रकाराः सम्भवन्तीति तत्स्वरूपनिरूपणार्थमाह—

कर्तुरत्यन्तरङ्गत्वं कर्त्रन्तरविचित्रता।
स्वविशेषणवैचित्र्यमुपचारमनोज्ञता ॥ २४ ॥

उन हरिणियो ने मुझे विधिवत् बतलाया (यह भाव है)। क्योंकि वे हरिणियाँ उन लताओ की अपेक्षा कुछ अधिक प्रबुद्ध थी (इसीलिए लताओ के प्रदर्शन के बाद भी मै तुम्हारे गमन-मार्ग से अनभिज्ञ रहा और बाद मे इन्होने सम्यक् बता दिया)। और वे हरिणियाँ कैसी थी ?—उस प्रकार के (अकथनीय सीतापहरणरूप) दुःख के अवलोकन से सजात दुःख के कारण घास के कवलो को एकदम छोड़े हुई। क्या करती हुई ?—उसी (दक्षिण) दिशा मे नेत्रो को समर्पित करती हुई। कैसे नेत्रो को ?—ऊपर किये हुए पक्ष्मपक्तियो वाले (नेत्रो को)। तो इस प्रकार वैसे (ऊर्ध्वीकृत पक्ष्मपक्ति नेत्रो-रूप) अवस्थानो से युक्त होने के कारण संकेतपूर्वक यह निवेदित करती हुई कि अन्तरिक्ष-मार्ग से दक्षिण दिशा को (सीता) ले जायी गयी है। यहाँ (ऊपर के दोनो ही उदाहरणो मे लता, मृगी की अपेक्षा) वृक्ष, मृग आदि (पुलिङ्ग रूप) अन्य लिङ्गो के संभव होने पर भी पदार्थ के औचित्य के अनुसार चेतन सहृदयो के चमत्कार का जनक होने के कारण कवि को स्त्रीलिङ्ग का ही प्रयोग यहाँ अभिप्रेत है। इसलिए वह (स्त्रीलिङ्ग प्रयोग) किसी अपूर्व ही वक्रता की सृष्टि कर रहा है ॥ २३ ॥

इस प्रकार सुबन्त मे होने वाले प्रातिपदिकरूप पदपूर्वार्द्ध (वक्रता) के वक्रभाव का यथासंभव विचार कर अब आगे सुबन्त और तिङन्त दोनो ही धातुरूप जो पूर्वभाग हो सकता है, उसकी वक्रता का विचार करते हैं। और क्रियावैचित्र्य का निबन्धन ही उस (धातु) की वक्रता है। इसलिए क्रियावैचित्र्य के ही किस प्रकार के और कितने प्रकार संभव हो सकते हैं, इसके लिए उसके स्वरूप का निरूपण करने के लिए कहते हैं—

कर्मादिसंवृतिः पञ्च प्रस्तुतौचित्यचारवः ।
क्रियावैचित्र्यवक्रत्वप्रकारास्त इमे स्मृताः ॥ २५ ॥

क्रियावैचित्र्यवक्रत्वप्रकारा धात्वर्थविचित्रभाववक्रताप्रभेदास्त इमे स्मृता वर्ण्यमानस्वरूपाः कीर्तिताः । कियन्तः—पञ्च पञ्चसंख्याविशिष्टाः । कीदृशाः—प्रस्तुतौचित्यचारवः । प्रस्तुतं वर्ण्यमानं वस्तु तस्य यदौचित्यमुचितभावस्तेन चारवो रमणीयाः । तत्र प्रथमस्तावत् प्रकारो यः—कर्तुरत्यन्तरङ्गत्वं नाम । कर्तुः स्वतन्त्रतया मुख्यभूतस्य कारकस्य क्रियां प्रतिनिर्वर्तयितुर्यदत्यन्तरङ्गत्वम् अत्यन्तमान्तरतम्यम् । यथा—

चूडारत्ननिषण्णदुर्वहजगद्भारोन्नमत्कन्धरो,
धत्तामुद्धुरतामसौ भगवतः शेषस्य मूर्धा परम् ।
स्वैरं संस्पृशतीषदप्यवनतिं यस्मिन्लुठन्त्यक्रमं,
शून्ये नूनमियन्ति नाम भुवनान्युद्दामकम्पोत्तरम् ॥ ८२ ॥

अत्रोद्धुरता धारणलक्षणक्रिया कर्तुः फणीश्वरमस्तकस्य प्रस्तुतौचित्य-माहात्म्यादन्तर्भावं यथा भजते तथा नान्या काचिदिति क्रियावैचित्र्यवक्रता-मावहति । यथा वा—

किं शोभिताहमनयेति पिनाकपाणेः
पृष्टस्य पातु परिचुम्बनमुत्तरं वः ॥ ८३ ॥

---

(१) कर्ता की अतिशय अन्तरङ्गता, (२) अन्य कर्ता से होने वाली विचित्रता, (३) अपने विशेषण से होने वाला वैचित्र्य, (४) उपचार से जायमान रमणीयता तथा (५) कर्म आदि कारको का संवरण, प्रस्तुत वस्तु के औचित्य से सुन्दर ये पॉच क्रियावैचित्र्यवक्रता के प्रकार कहे गये है ॥ २४–२५ ॥

क्रियावैचित्र्यवक्रता के प्रकार, धात्वर्थ के विचित्रभाव की वक्रता के प्रभेद ये कहे गये हैं (उपर्युक्त दो कारिकाओ से) कथित लक्षण वाले बताये गये है । कितने है ?—पॉच, पॉचकी संख्या से विशेषित है । कैसे है ?—प्रस्तुत औचित्य से सुन्दर । प्रस्तुत हुआ वर्णमान वस्तु, उसका जो औचित्य उचित भाव, उससे सुन्दर, रमणीय होते है । उनमे भी पहला प्रकार जो है (वह है), कर्ता की अतिशय अन्तरङ्गता । कर्ता के (स्वतन्त्र कर्ता । पा० १-४-५४ के अनुसार) स्वतन्त्र होने के कारण (कर्तारूप) प्रधानभूत कारक की, क्रिया को निष्पन्न करने वाले (कारक) की जो अतिशय अन्तरङ्गता, आन्तरतमता (अत्यन्त सामीप्य, वह क्रियावैचित्र्यवक्रता का प्रथम प्रकार है । उदाहरण जैसे—

चूडारत्न पर अवस्थित, दुःख से वहन किये जाते हुए संसार के भार से उन्नमित (झुकती) हुई कन्धरा से युक्त भगवान् शेष का शिर (फणभाग) अत्यन्त दृढ़ता को धारण करे, जिसके स्वल्पमात्र भी अवनति का संस्पर्श कर लेने पर आकाश मे ये इतने सारे लोक प्रचण्ड कम्पनपूर्वक धीरे-धीरे व्युत्क्रम से लुण्ठित हो उठते है ॥ ८२ ॥

अत्र चुम्बनव्यतिरेकेण भगवता तथाविधलोकोत्तरं गौरीशोभातिशयाभिधानं न केनचित् क्रियान्तरेण कर्तुं पार्यत इति क्रियावैचित्र्यनिबन्धनं वक्रभावमावहति। यथा च—

रुद्दस्स तइअणअणं पव्वइ परिचुम्बिअं जअइ ॥ ८४ ॥

(रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वती परिचुम्बितं जयति) ॥ इतिच्छाया। यथा वा—

सिढिलिअचाओ जअइ मअरद्धओ ॥ ८५ ॥

(शिथिलितचापो जयति मकरध्वजः ॥) इतिच्छाया ॥ एतयोर्वैचित्र्यं पूर्वमेव व्याख्यातम्।

अयमपरः क्रियावैचित्र्यवक्रतायाः प्रकारः—कर्त्रन्तरविचित्रता। अन्यः कर्ता कर्त्रन्तरं तस्माद्विचित्रता वैचित्र्यम्। प्रस्तुतत्वाद् सजातीयत्वाच्च कर्तुरेव।

यहाँ प्रस्तुत वस्तु (शेषनाग के माहात्म्य) के औचित्य के माहात्म्य से प्रयुक्त सर्पराज शेषनाग के मस्तकरूप कर्ता की धारणरूप क्रिया 'उद्धुरता' जिस प्रकार अन्तरतमता को प्राप्त हो रही है उस प्रकार से अन्य कोई भी क्रिया अन्तरङ्गता को प्राप्त नहीं कर सकती, इस प्रकार यहाँ 'उद्धुरता' पद क्रियावैचित्र्य की सुन्दरता की सृष्टि कर रहा है। अथवा जैसे—(कुमारसंभव ३।३३ का यह श्लोक १।८१ के उदाहरण मे आ चुका है। भगवान् शिव के मस्तक की चन्द्रलेखा को खीचकर अपने सिर पर बाँध कर गौरी प्रिय शिवजी से पूछ रही है कि)—क्या मैं इससे अलङ्कृत (सुशोभित) लगती हूँ, इस प्रकार भगवती पार्वती से पूँछे गये (भगवान् शङ्कर का) उत्तररूप परिचुम्बन आप सबकी रक्षा करे ॥ ८३ ॥

भगवती पार्वती के उस प्रकार के अलौकिक शोभातिशय का बखान भगवान् शङ्कर के द्वारा चुम्बन से व्यतिरिक्त किसी अन्य क्रिया के द्वारा किया जाना सम्भव नहीं था, इस प्रकार क्रियावैचित्र्य निबन्धनरूप (परिचुम्बन क्रिया उत्तरदाता शिवरूप कर्ता की अत्यन्त अन्तरतमता के कारण) वक्रभाव को प्रस्तुत कर रही है।

अथवा जैसे—(उदाहरण सं० १।५८ पर यह भी आ चुका है)—

पार्वती से चुम्बित भगवान् शङ्कर का तीसरा नेत्र सर्वोत्कृष्ट है ॥ ८४ ॥

अथवा जैसे—(१।६१ पर उदाहृत श्लोकांश में) धनुष को ढीला किये हुए काम सर्वजयी (सर्वोत्कृष्ट) है ॥ ८५ ॥

इन दोनों का ही वैचित्र्य पहले ही (१।५८, १।६१) कहा जा चुका है।

२—'कर्त्रन्तरविचित्रता—यह क्रियावैचित्र्यवक्रता का दूसरा ही प्रकार है। दूसरा जो कर्ता वह है कर्त्रन्तर उससे होने वाली विचित्रिता को कर्त्रन्तरविचित्रता कहते है। प्रस्तुत (वर्ण्यमान) और सजातीय होने के कारण (वह कर्त्रन्तरवैचित्र्य)

एतदेव च तस्य वैचित्र्यं यत् क्रियामेव कर्त्रन्तरापेक्षया विचित्रस्वरूपां सम्पादयति। यथा—

नैकत्र शक्तिविरतिः क्वचिदस्ति सर्वे,
भावाः स्वभावपरिनिष्ठिततारतम्याः।
आकल्पमौर्वदहनेन निपीयमान-
मम्भोधिमेकचुलुकेन पपावगस्त्यः ॥ ८६ ॥

अत्रैकचुलुकेनाम्भोधिपानं सततताध्यवसायाभ्यासकाष्ठाधिरूढिप्रौढत्वाद्वाडवाग्नेः किमपि क्रियावैचित्र्यमुद्वहत् कामपि वक्रतामुन्मीलयति। यथा वा—

प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः ॥ ८७ ॥

यथा वा—

स दहतु दुरितं शाम्भवो व शराग्निः ॥ ८८ ॥

एतयोर्वैचित्र्यं पूर्वमेव प्रदर्शितम्।

अयमपरः क्रियावैचित्र्यवक्रतायाः प्रभेदः—स्वविशेषणवैचित्र्यम्। सुख्यतया प्रस्तुतत्वात क्रियायाः स्वस्यात्मनो यद् विशेषणं भेदकं तेन वैचित्र्यं विचित्रभावः। यथा—

कर्ता का ही होता है। यही उसकी विचित्रता है कि वह (कर्ता ही) दूसरे कर्ता की अपेक्षा (अधिक उत्कर्षयुक्त) विचित्र स्वरूप वाली क्रिया का ही सम्पादन करता है उदाहरण जैसे—(यह श्लोक सुभाषितावली मे सं० ९९२ पर उद्धृत है)–शक्ति की समाप्ति कहीं एक जगह ही नही होती। (संसार मे) सभी पदार्थ (अपने) स्वभाव के अनुसार तरतमभाव से युक्त होते है। कल्प के प्रारम्भ से ही वाडवाग्नि से पान किये जाते हुए समुद्र को अगस्त्य ने एक चूल्लू से ही पी डाला ॥ ८६ ॥

यहाँ निरन्तर परिश्रम एवं अभ्यास की चरम सीमा को प्राप्त होने से प्रौढ होने के कारण वाडवाग्नि के (समुद्रपान की अपेक्षा भगवान् अगस्त्य के द्वारा) एक ही चुल्लू से समुद्र-पान (रूप क्रिया) किसी अपूर्व क्रियावैचित्र्य को धारण करती हुई अनिर्वचनीय वक्रता को प्रकाशित करती है। अथवा जैसे—(१।५९ पर उद्धृत श्लोकाश मे)—शरणप्राप्त लोगो की पीडा को काटने वाले (भगवान् नृसिह के) नाखून (सर्वातिशायी है) ॥ ८७ ॥

अथवा जैसे—(१।६० पर उद्धृत) भगवान् शङ्कर के बाण की वह अग्नि तुम्हारे पापों का दहन करे ॥ ८८ ॥

इन दोनो का भी वैचित्र्य पहले ही (१।५९, १।६० पर) प्रदर्शित किया जा चुका है।

३—क्रियावैचित्र्यवक्रता का यह अन्य (तीसरा) प्रभेद है-अपने विशेषण से होने वाली विचित्रता। प्रधानतया प्रस्तुत होने के कारण क्रिया का स्वकीय अपना जो

इत्युद्गते शशिनि पेशलकान्तिदूतीसंलापसंवलितलोचनमानसाभिः ।
अग्राहि मण्डनविधिर्विपरीतभूषाविन्यासहासितसखीजनमङ्गनाभिः ॥ ८९ ॥

अत्र मण्डनविधिग्रहणलक्षणायाः क्रियाया विपरीतभूषाविन्यासहासितसखीजनमिति विशेषणेन किमपि सौकुमार्यमुन्मीलितम् । यस्मात्तथाविधादरोपरचितं प्रसाधनं यस्य व्यञ्जकत्वेनोपात्तं मुख्यतया वर्ण्यमानवृत्तेर्वल्लभानुरागस्य सोऽप्यनेन सुतरां समुत्तेजितः । यथा वा—

मय्यासक्तश्चकितहरिणा हारि नेत्रत्रिभागः ॥ ९० ॥

अस्य वैचित्र्यं पूर्वमेवोदाहृतम् । एतच्च क्रियाविशेषणं द्वयोरपि क्रियाकारकयोर्वक्रत्वमुल्लासयति । यस्माद्विचित्रक्रियाकारित्वमेव कारकवैचित्र्यम् ।

इदमपरं क्रियावैचित्र्यवक्रतायाः प्रकारान्तरम्—उपचारमनोज्ञता । उपचारः सादृश्यादिसमन्वयं समाश्रित्य धर्मान्तराध्यारोपस्तेन मनोज्ञता

विशेषण (इतर से) भेदकतत्त्व, उससे होने वाला वैचित्र्य, विचित्रभाव । उदाहरण जैसे—(यह श्लोक काव्यमीमासा के अध्याय १३ अर्थहरण प्रकरण मे व्युत्क्रम के उदाहरण मे पृ० १७६ पर, दशरूपकावलोक २।३८ तथा रसार्णव सुधाकर १।२७२ पर भी उद्धृत है—) इस प्रकार चन्द्रमा के उदित हो जाने पर रमणीय कान्तिमण्डित दूतीजनो से वार्तालाप मे चञ्चल नयन एवं मनवाली वनिताओ ने विपरीत आभूषणो के विन्यास से सखी-जनो को हँसाने वाली अलङ्करण विधि को धारण किया ॥ ८९ ॥

यहाँ मण्डनविधि ग्रहणरूप क्रिया का 'विपरीत अलङ्कार-विन्यास से सखी-जनो को हँसाने वाली' इस विशेषण के द्वारा (मण्डनविधि ग्रहण क्रिया की) अपूर्व सुकुमारता उन्मीलित की गयी है। क्योकि उस प्रकार आदर से विरचित अलङ्करण जिस (वल्लभानुराग) की व्यञ्जकता के रूप मे प्रस्तुत किया गया है, प्रधानतया वर्ण्यमान वस्तु प्रियतम के प्रति होने वाले अनुराग को भी इससे विधिवत् समुत्तेजित किया गया है। अथवा जैसे—(उदाहरण १।४९ मे उद्धृत श्लोकाश मे)—(उसने) भयत्रस्त मृगी के मनोहारी नेत्र के समान सुन्दर नेत्र के त्र्यश भाग (कटाक्ष) को मेरे पर लगा दिया ॥ ९० ॥

इसका सौन्दर्य पहले ही कह दिया गया है। यह क्रियाविशेषण (का वैचित्र्य) क्रिया और कारक दोनो के ही वक्रत्व को समुल्लासित करता है। क्योकि विचित्र क्रिया का सम्पादन ही कारक का वैचित्र्य है।

४–क्रियावैचित्र्यवक्रता का यह अन्य ही प्रकार है–उपचारमनोज्ञता। सादृश्य आदि के सम्यक् सम्बन्ध का समाश्रय कर अन्य (वस्तु के) धर्म का अध्यारोप, उससे होने वाली मनोज्ञता, वक्रता को उपचार मनोज्ञता कहते है। (यहाँ कुन्तक का उपचार, अन्य साहित्यिकों के उपचार के समान ही है–'उपचारो हि नामात्यन्तं विशकलितयोः शब्दयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम् । सा० द० पृ०४९)। उदाहरण जैसे—(यह श्लोक सदुक्ति कर्णामृतम्, हेमचन्द्र-काव्यानुशासन,

वक्रत्वम्। यथा—

तरन्तीवाङ्गानि स्खलदमललावण्यजलधौ,
प्रथिम्नः प्रागल्भ्यं स्तनजघनमुन्मुद्रयति च।
दृशोर्लीलारम्भाः स्फुटमपवदन्ते सरलता-
महो सारङ्गाक्ष्यास्तरुणिमनि गाढः परिचयः॥ ९१॥

अत्र स्खलदमललावण्यजलधौ समुल्लसद्विमलसौन्दर्यसम्भारसिन्धौ परिस्फुरन्त्यपि स्पन्दतया प्लवमानत्वेन लक्ष्यमाणानि पारप्राप्तिमासादयितुं व्यवस्यन्तीवेति चेतनपदार्थसम्भाविसादृश्योपचारात्तारुण्यतरलतरुणीगात्राणां तरणमुत्प्रेक्षितम्। उत्प्रेक्षायाश्चोपचार एव भूयसा जीवितत्वेन परिस्फुरतीत्युत्प्रेक्षावसर एव विचारयिष्यते।

प्रथिम्नः प्रागल्भ्यं स्तनजघनमुन्मुद्रयति च (इति)—अत्र स्तनजघनंकर्तृ प्रथिम्नः प्रागल्भ्यं महत्त्वस्य प्रौढिमुन्मुद्रयत्युन्मीलयति। यथा कश्चिच्चेतनः किमपि रक्षणीयं वस्तु मुद्रयित्वा कमपि समयमवस्थाप्य समुचितोपयोगावसरे स्वयमुन्मुद्रयत्युद्घाटयति, तदेवं तत्कारित्वसाम्यात्

वाग्भट (द्वितीय) के काव्यानुशासन अलङ्कार-तिलक आदि मे भी आया है।)

(अहो, इस मृगनयनी के) अङ्ग झरते हुए निर्मल लावण्य के समुद्र मे तैर से रहे है, स्तन और जघन भाग पृथुलता (मासलता) की प्रगल्भता (अधिकता) को प्रकाशित कर रहे है। नेत्रो के (कटाक्ष आदि) लीला के प्रारम्भ स्पष्टतया सरलता की निन्दा से कर रहे है। अरे इस मृगनयनी का तो (अब) तरुणाई से गहरा सम्बन्ध हो गया है॥ ९१॥

यहाँ पर, झरते निर्मल लावण्य-समुद्र मे, शोभायमान विमल सौन्दर्य-सामग्री के समुद्र मे, प्रकाशमान भी स्पन्दन होने के कारण सतरण करते हुए से प्रतीत हो रहे (अङ्ग) दूसरे किनारे की प्राप्ति को पाने के लिए प्रयास-सा कर रहे है, इस प्रकार चेतन पदार्थ मे सम्भव होने वाले (सतरण, पर पार प्राप्ति प्रयास आदि) सादृश्य के उपचार से तरुणाई के कारण लहराते तरुणी के अङ्गो के सतरण की उत्प्रेक्षा (संभावना) की गयी है। और उपचार ही उत्प्रेक्षा के सबसे भारी प्राण के रूप मे परिस्फुरित होता है। इसका विचार उत्प्रेक्षा-विवेचन के अवसर पर ही करेंगे।

स्तन और जघन भाग पृथुलता की प्रगल्भता को प्रकाशित (समुद्घाटित) कर रहे है इस प्रकार यहाँ स्तन और जघनरूप कर्ता पृथुता की प्रगल्भता महानता की धुरीणता को उन्मुद्रित कर रहे है, उन्मीलित कर रहे है। (वैसे ही) जैसे कोई चेतन व्यक्ति रक्षण योग किसी सुन्दर वस्तु को मुद्रित कर किसी समय पर रखकर, उपयोग के समुचित अवसर आने पर स्वयं उन्मुद्रित करता है, खोलता है। तो इसी प्रकार (चेतन की) उद्घाटनकारिता के साम्य से स्तन और जघन के उन्मुद्रण का उपचारतः प्रयोग किया गया है। तो इस पर यह कहा जायगा कि—जो ही (स्तन और जघन

स्तनजघनस्योन्मुद्रमुपचरितम्। तदिदमुक्तं भवति—यत् यदेव शैशवदशायां शक्त्यात्मना निर्मीलितस्वरूपमनवस्थितमासीत्, तस्यप्रथिम्नः प्रागल्भ्यस्य प्रथमतरतारुण्यावतारावसरसमुचितं प्रथनप्रसरं समर्पयति।

दृशोर्लीलारम्भाः स्फुटमपवदन्ते सरलताम् (इति)—अत्र शैशवप्रतिष्ठितां सरलतां प्रकटमेवापसार्य दृशोर्विलासोल्लासाः कमपि नवयौवनसमुचितं विभ्रममधिरोपयन्ति। यथा केचिच्चेतनाः कुत्रचिद्विषये कमपि व्यवहारं समासादितप्रसरमपसार्य किमपि स्वाभिप्रायाभिमतं परिस्पन्दान्तरं प्रतिष्ठापयन्तीति तत्कारित्वसादृश्याल्लीलावतीलोचनविलासोल्लासानां सरलत्वापवदनमुपचरितम्। तदेवंविधेनोपचारेणैतास्तिस्रोऽपि क्रियाः कामपि वक्रतामधिरोपिताः। वाक्येऽस्मिन्नपरेऽपि वक्रताप्रकाराः प्रतिपदं सम्भवन्तीत्यवसरान्तरे विचार्यन्ते।

इदमपरं क्रियावैचित्र्यवक्रतायाः प्रकारान्तरम्—कर्मादिसंवृतिः। कर्मप्रभृतीनां कारकाणां संवृतिः संवरणम्, प्रस्तुतौचित्यानुसारेण सातिशय प्रतीतये समाच्छाद्याभिधा। सा च क्रियावैचित्र्यकारित्वात् प्रकारत्वेनाभिधीयते।

की पृथुता) शैशव अवस्था मे शक्तिरूप से निमीलितस्वरूप अतएव अनवस्थित थी, उसी पृथुता की प्रगल्भता को (स्तन और जघन) तरुणाई के सर्वप्रथम समागमन समय के उपयुक्त विस्तार के अवकाश को समर्पित करते है।

नेत्रो के (कटाक्ष आदि) लीला के प्रारम्भ स्पष्टतया सरलता की निन्दा से कर रहे हैं—इस प्रकार यहाँ नेत्रो के विलास के विकास शैशव अवस्था मे प्रतिष्ठित सरलता को स्पष्टतः दूर हटाकर नई जवानी के सम्यक् उपयुक्त अपूर्व शोभा को आरोपित कर रहे हैं। जैसे कोई चेतन प्राणी किसी विषय मे प्रसारप्राप्त किसी व्यवहार को दूर कर अपने अभिप्राय से सम्मत किसी अपूर्व अन्य व्यवहार को प्रतिष्ठापित करते हैं, उस अन्य व्यवहारकारिता के सादृश्य से सुन्दरियो के नेत्रविलास के विकास की सरलता के अपवाद (निन्दा) का यहाँ उपचार से प्रयोग किया गया है। इसलिए इस प्रकार के उपचार से ये तीनो ही क्रियाएँ (तरन्ति, उन्मुद्रयन्ति एवं अपवदन्ते) अपूर्व वक्रता को पहुँचा दी गयी हैं। इस वाक्य मे प्रतिपद अन्य भी वक्रता के प्रकार हो सकते हैं। इसका विचार दूसरे अवसर पर करेंगे।

५—क्रियावैचित्र्यवक्रता का यह दूसरा (५वाँ) अन्य ही प्रकार है—कर्मादि संवृति। कर्म आदि कारकों की संवृति, संवरण, गोपन अर्थात् प्रस्तुत वस्तु के औचित्य के अनुसार अतिशय समन्वित प्रतीति के लिए (कर्म आदि) का समाच्छादन कर अभिधान (कर्मादि संवृति कहा जाता है)। (फिर तो उसे कारकवक्रता कहना चाहिए ? उत्तर देते हैं) और क्रिया की शोभाजनक होने से वह (कर्मादि संवृति) क्रियावैचित्र्यवक्रता के प्रकार के रूप में कही जाती है।

कारणे कार्योपचाराद् यथा—

नेत्रान्तरे मधुरमर्पयतीव किञ्चित्
कर्णान्तिके कथयतीव किमप्यपूर्वम् ।
अन्तः समुल्लिखति किञ्चिदिवायताक्ष्या
रागालसे मनसि रम्यपदार्थलक्ष्मीः ॥ ९२ ॥

अत्र तदनुभवैकगोचरत्वादनाख्येयत्वेन किमपि सातिशयं प्रतिपदं कर्मसम्पादयन्त्यः क्रियाः स्वात्मनि कमपि वक्रभावमुद्भावयन्ति । उपचारमनोज्ञताप्यत्र विद्यते । यस्मादर्पणकथनोल्लेखनान्युपचारनिबन्धनान्येव चेतनपदार्थधर्मत्वात् । यथा च—

नृत्तारम्भाद्विरतरभसस्तिष्ठ तावन्मुहूर्तं
यावन्मौलौ श्लथमचलतां भूषणं ते नयामि ।
इत्याख्याय प्रणयमधुरं कान्तया योज्यमाने
चूडाचन्द्रे जयति सुखिनः कोऽपि शर्वस्य गर्वः ॥ ९३ ॥

कारण में कार्य का उपचार होने से (कर्मादि सवृति क्रियावैचित्र्यवक्रता का) उदाहरण जैसे—

अनुराग से छलकते मनवाली युवती का चित्रण है—

विशाल नेत्रों वाली (इस युवती) के मन के अनुराग से अलस हो जाने पर रमणीय पदार्थ शोभा आँखों में कुछ मीठा-सा भर देती है, कानों के समीप कुछ अश्राव्य अनिर्वाच्य-सा कह देती है और हृदय में कुछ उँकेर-सा देती है ॥ ९२ ॥

यहाँ उस (युवती) के ही अनुभवमात्र का गोचर होने के कारण किन्हीं अनिर्वाच्य उत्कर्षयुक्त कर्मों का प्रतिपद संपादन करती हुई क्रियाएँ अपने में अपूर्व वक्रभाव की उद्भावना कर रही है। (अर्पयति, कथयति तथा समुल्लिखति क्रियाओं के कर्म को किञ्चिद्, अपूर्व आदि शब्दों से समाच्छादित कर दिया गया है। अतएव यहाँ कर्मादिसवृतिरूप क्रियावैचित्र्यवक्रता की शोभा विद्यमान है। इन क्रियाओं का वैचित्र्य अपने में ही अपूर्व है, कहने योग्य नहीं है।) उपचारमनोज्ञता भी यहाँ विद्यमान है क्योंकि चेतन पदार्थ का धर्म होने के कारण अर्पण, कथन और उल्लेखन क्रियाएँ (सादृश्यात्) उपचार निबन्धन ही है।

अथवा जैसे इसी का दूसरा उदाहरण—जल्दबाजी से विरत होकर तब तक थोडी देर के लिए नृत्त के प्रारम्भ से रुक जाइये, जब तक मैं (तुम्हारे) शिर पर के ढीले आभूषण (चन्द्रमा) को (कसकर) अचलता प्रदान कर देती हूँ। इस प्रकार प्रेम से भरे मीठे वचन कहकर प्रियतमा (पार्वती) के द्वारा चूडा पर चन्द्रकला के लगा दिये जाने पर प्रसन्न भगवान् शङ्कर अपूर्व अभिमान सर्वातिशायी हैं ॥ ९३ ॥

यहाँ 'कोऽपि' इस सर्वनाम पद से मात्र उन (भगवान् शङ्कर) के ही अनुभवगम्य होने के कारण अनभिधानीय होने से उत्कर्षपूर्ण भगवान् शङ्कर का गर्व है, इस

अत्र 'कोऽपि' इत्यनेन सर्वनामपदेन तदनुभवैवकगोचरत्वादव्यपदेश्यत्वेन सातिशयः शर्वस्य गर्व इति कर्त्तृसंवृतिः। जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति क्रियावैचित्र्यनिबन्धनम्।

इत्ययं पदपूर्वार्द्ध वक्रभावो व्यवस्थितः।
दिङ्मात्रमेवमेतस्य शिष्टं लक्ष्ये निरूप्यते ॥ ९४ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकः ॥ २५ ॥

तदेवं सुप्तिङन्तयोर्द्वयोरपि पदपूर्वार्धस्य प्रातिपदिकस्य धातोश्च यथायुक्ति वक्रतां विचार्येदानीं तयोरेव यथास्वमपरार्धस्य प्रत्ययलक्षणस्य वक्रतां विचारयति। तत्र क्रियावैचित्र्यवक्रतायाः समनन्तरसम्भविनः क्रमसमन्वितत्वात् कालस्य वक्रत्वं पर्यालोच्यते, क्रियापरिच्छेदकत्वात्तस्य।

औचित्यान्तरतम्येन समयो रमणीयताम्।
याति यत्र भवत्येषा कालवैचित्र्यवक्रता ॥ २६ ॥

एषा प्रक्रान्तस्वरूपा भवत्यस्ति कालवैचित्र्यवक्रता। कालो वैयाकरणादिप्रसिद्धो वर्तमानादिर्लट्प्रभृतिप्रत्ययवाच्यो य पदार्थानामुदय-

---

प्रकार (कोऽपि पद से) कर्ता का सवरण किया गया है। (गर्वः) जयति, जयनशील है, सर्वोत्कर्षपूर्ण है, इस प्रकार क्रियावैचित्र्य का भी निबन्धक है (इस प्रकार यहाँ भी कर्मादिसवृतिरूप क्रियावैचित्र्यवक्रता विद्यमान है)।

इस प्रकार (यहाँ तक) यह पदपूर्वार्द्धवक्रता व्यवस्थित की गयी। इस प्रकार (यहाँ) इसका संक्षेपमात्र से प्रदर्शन किया गया। अवशिष्ट (विस्तार) लक्ष्य (काव्यादि ग्रन्थो) से निरूपित होता है ॥ ९४ ॥ इस प्रकार यह सग्रह-श्लोक है ॥ २५ ॥

इस प्रकार सुबन्त और तिङन्त दोनो ही पद के पूर्वार्द्ध अर्थात् प्रातिपदिक और धातु की वक्रता का युक्तिपूर्वक विचारकर अब उन्ही (सुबन्ततिङन्त, प्रातिपदिक धातु) के उत्तरार्द्ध प्रत्ययरूप वक्रता का यथास्वरूप विचार करते है। उसमे भी क्रिया का परिच्छेदक होने के कारण क्रियावैचित्र्यवक्रता के ठीक बाद होने वाले तथा क्रमयुक्त होने से काल की वक्रता की पर्यालोचना करते है।

जहाँ (प्रस्तुत वस्तु की) अन्तरङ्गता से (वर्तमान आदि) समय रमणीयता को प्राप्त हो जाता है (वहाँ) यह कालवैचित्र्यवक्रता होती है ॥ २६ ॥

यह वर्ण्यमानस्वरूप कालवैचित्र्यवक्रता है, होती है। काल का अर्थ है वैयाकरण आदि सिद्धान्तो मे प्रसिद्ध वर्तमान आदि काल, लट् आदि प्रत्ययो से वाच्य जो पदार्थों का उदय और तिरोधान करने वाला होता है। उसका वैचित्र्य, विचित्रभाव, उस प्रकार (विचित्रभाव) के रूप मे होने वाला उपनिबन्धन उससे होने वाली वक्रता, बाँकपन की शोभा (कालवैचित्र्यवक्रता कही जाती है)। कैसी है वह ?—जहाँ, जिसमे समय, काल नाम वाच्य, रमणीयता को प्राप्त होता है, रामणीयक की

तिरोधानविधायी तस्य वैचित्र्यं विचित्रभावस्तथाविधत्वेनोपनिबन्धस्तेन वक्रता वक्रत्वविच्छित्तिः। कीदृशी—यत्र यस्यां समयः कालाख्यो रमणीयतां याति रामणीयकं गच्छति। केन हेतुना—औचित्यान्तरतम्येन। प्रस्तुतत्वात्प्रस्तावाधिकृतस्य वस्तुनो यदौचित्यमुचितभावस्तस्यान्तरतम्येनान्तरङ्गत्वेन। तदतिशयोत्पादकत्वेनेत्यर्थः। यथा—

समविसमणिव्विसेसा समंतदो मंदमंदसंचारा।
अइरा होहिंति पहा मणोरहाणं पि दुल्लंघा॥ ९५॥
समविषमनिर्विशेषाः समन्ततो मन्दमन्दसञ्चाराः।
अचिराद्भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्याः॥

इतिच्छाया॥

अत्र वल्लभाविरहवैधुर्यकातरान्तःकरणेन भाविनः समयस्य सम्भावनानुमानमाहात्म्यमुत्प्रेक्ष्य उद्दीपनविभावत्वविभवविलसितं तत्परिस्पन्दसौन्दर्यसन्दर्शनासहिष्णुना किमपि भयविसंष्ठुलत्वमनुभूय शङ्काकुलत्वेन केनचिदेतदभिधीयते—यदचिराद्भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामप्यलङ्घनीया इति भविष्यत्कालाभिधायी प्रत्ययः कामप्यपरार्धवक्रतां विकासयति।

सृष्टि करता है। किस कारण से?—औचित्य के अन्तरतमभाव से। प्रस्तुत होने के कारण, प्रकरण के रूप मे अधिकृत वस्तु जो औचित्य, उचित भाव, उसके अन्तरतमभाव से, अन्तरङ्गता से। अर्थात् उस (प्रस्तुत वस्तु) के अतिशय का उत्पादक होने के कारण।

उदाहरण जैसे—ऊँचे-नीचे के भेद से रहित चारो ओर मन्द-मन्द चलने लायक ये मार्ग अभिलाषाओं के लिए भी शीघ्र ही दुर्लङ्घ्य हो जायेगे॥ ९५॥

यहाँ प्रियतमा के विरह की विधुरता से व्यथित मनवाले तथा भावी (वर्षांत के) समय की संभावना के अनुमान के महत्त्व की कल्पना कर, उद्दीपन विभाव के ऐश्वर्य-विलास तथा उसके स्वभाव-सौन्दर्य के समवलोकन को न सह सकने वाले, किसी अनिर्वाच्य भयजनित विषमता का अनुभव कर शङ्का से व्याप्त किसी के द्वारा यह कहा जा रहा है—कि मार्ग शीघ्र ही मनोरथों के भी अलङ्घनीय हो जायेगे। इस प्रकार भविष्यत्काल का अभिधान करने वाला (लृट् का) प्रत्यय (स्य) किसी अपूर्व पदोत्तरार्द्धवक्रता को प्रकाशित कर रहा है। (ध्यान देने की बात है कि गाथा-सप्तशती की इस ६७५वी गाथा को ध्वनिकार ने भी कालव्यञ्जकता के उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया है। और वह कहते हैं—'अत्र ह्यचिराद्भविष्यन्ति पन्थान इत्यत्र भविष्यन्तीत्यस्मिन् पदे प्रत्ययः कालविशेषाभिधायी रसपरिपोषहेतुः प्रकाशते। अय हि गाथार्थः प्रवासविप्रलम्भश्रृङ्गारविभावतया विभाव्यमानो रसवान्।...'अत्र प्रत्ययांशो व्यञ्जकः।' ध्व० पृ० ३९०)। अथवा जैसे—(मधुमास के प्रारम्भ मे ही) जब कि जगत् के ये समस्त अभिनव पदार्थ तरल मनवालों को कुछ अपूर्व

यथा वा—

यावत्किञ्चिदपूर्वमार्द्रमनसामावेदयन्तो नवाः
सौभाग्यातिशयस्य कामपि दशां गन्तुं व्यवस्यन्त्यमी।
भावास्तावदनन्यजस्य विधुरः कोऽप्युद्यमो जृम्भते,
पर्याप्ते मधुविभ्रमे तु किमयं कर्तेति कम्पामहे॥ ९६॥

अत्र व्यवस्यन्ति जृम्भते कर्ता कम्पामहे चेति प्रत्ययाः प्रत्येकं प्रतिनियतकालाभिधायिनः कामपि पदपरार्धवक्रतां प्रख्यापयन्ति। तथा च—प्रथमतरावतीर्णमधुसमयसौकुमार्यसमुल्लसितसुन्दरपदार्थसार्थसमुन्मेषसमुद्दीपितसहजविभवविलसितत्वेन मकरकेतोर्मनाङ्मात्रमाधवसानाध्यसमुल्लसितातुलशक्तेः सरसहृदयविधुरताविधायी कोऽपि संरम्भः समुज्जृम्भते। तस्मादनेनानुमानेन परं परिपोषमधिरोहति कुसुमाकरविभवविभ्रमे मानिनीमानदलनदुर्ललितसमुदितसहजसौकुमार्यसम्पत्सञ्जनितसमुचितजिगीषावसरः किमसौ विधास्यतीति विकल्पयन्तस्तत्कुसुमशरनिकरनिपातकातरान्तःकरणाः किमपि कम्पामहे चकितचेतसः सम्पद्यामहे इति प्रियतमाविरहविधुरचेतसः सरसहृदयस्य कस्यचिदेतदभिधानम्॥ २६॥

निवेदन करते हुए सौभाग्य के अतिशय की अनिर्वचनीय दशा को प्राप्त करने का प्रयास कर रहे है (उद्योग कर रहे हैं)। तब तक काम का व्यथित कर देने वाला कोई अनिर्वचनीय अपूर्व उद्योग फैलने लगा है फिर तो वसन्तविलास परिपूर्ण हो जाने पर यह क्या कर डालेगा यह सोचकर हम कॉप उठते है ॥ ९६ ॥ यहाँ 'व्यवस्यन्ति', 'जृम्भते', 'कर्ता' तथा 'कम्पामहे' मे प्रत्येक (कालवाची लडादि) प्रत्यय नियतकाल के वाचक होकर अपूर्व पदपरार्धवक्रता को प्रख्यापित करते है। जैसे कि—सद्यः अवतीर्ण मधुमास की सुकुमारता से सुशोभित सुन्दर पदार्थ-वृन्दो के समुन्मेष से विधिवत् उद्दीप्त किये गये स्वाभाविक संपत्ति-विलास से युक्त होने के कारण, वसन्त ऋतु की स्वल्प मात्र सहायता से अतुलशक्ति समन्वित काम का सरसहृदय वालो मे व्यथा पैदा करने वाला कोई अपूर्व उद्योग फैलने लगा है। (क्योकि प्रथमतर अवतीर्ण मधुमास मे काम का यह कृत्य है) इसलिए इस अनुमान से कि, वसन्त के ऐश्वर्य-विलास के चरम परिपोष को प्राप्त होने पर मानिनी युवतिवृन्द के मान को चूर्णित कर देने से प्रगल्भ, स्वाभाविक सुकुमार भाव प्राप्त विभव से उत्पन्न विजयेच्छा का समुचित अवसर प्राप्त कर यह काम क्या कर डालेगा ऐसा सोचते हुए उस कामदेव के पुष्पमय बाणों के प्रहार से भयत्रस्त हृदय हम कुछ कॉप उठते हैं, चकितचित्त हो जाते है। इस प्रकार प्रियतमा के वियोग से व्यथित चित्त किसी सरसहृदय की यह उक्ति है।

इस प्रकार पदपूरार्द्धवक्रता के भेद कालवक्रता का विचार कर क्रमसमुचित प्राप्त अवसर कारकवक्रता का विचार करते है—

एवं कालवक्रतां विचार्य क्रमसमुचितावसरां कारकवक्रतां विचारयति—

यत्र कारकसामान्यं प्राधान्येन निबध्यते।
तत्त्वाध्यारोपणान्मुख्यगुणभावाभिधानतः ॥ २७ ॥
परिपोषयितुं काञ्चिद्भङ्गीभणितिरम्यताम् ॥
कारकाणां विपर्यासः सोक्ता कारकवक्रता ॥ २८ ॥

सोक्ता कारकवक्रता सा कारकवक्रत्वविच्छित्तिरभिहिता। कीदृशी—यस्यां कारकाणां विपर्यासः साधनानां विपरिवर्तनम्, गौणमुख्ययोरितरेतरत्वापत्तिः। कथम्—यत् कारकसामान्यं मुख्यापेक्षया करणादि तत् प्राधान्येन मुख्यभावेन प्रयुज्यते। कया युक्त्या तत्त्वाध्यारोपणात्। तदिति, मुख्यपरामर्शः, तस्य भावस्तत्त्वं तदध्यारोपणात् मुख्यभावसमर्पणात्। तदेवं मुख्यस्य का व्यवस्थेत्याह—मुख्यगुणभावाभिधानतः। मुख्यस्य यो गुणभावस्तदभिधानादमुख्यत्वेनोपनिबन्धादित्यर्थः। किमर्थम्—परिपोपयितु काञ्चिद् भङ्गीभणितिरम्यताम्। काञ्चिदपूर्वां विच्छित्युक्तिरमणीयतामुल्लासयितुम्। तदेवमचेतनस्यापि चेतनसम्भविस्वातन्त्र्यसमर्पणादमुख्यस्य करणादेर्वा कर्तृत्वाध्यारोपणाद्यत्र कारकविपर्यासश्चमत्कारकारी सम्पद्यते।

जहाँ किसी अपूर्व वक्रत्वविच्छित्ति की रमणीयता को परिपुष्ट करने के लिए तत्त्व (मुख्यत्व) का अध्यारोप करने से कारक सामान्य (गौण कारक) प्रधानरूप से तथा (गौणत्व का आरोप कर) प्रधान कारक गुणभाव के अभिधानपूर्वक निबन्धित किया जाता है, (इस प्रकार) कारको का विपर्ययरूप वह कारकवक्रता कही गयी है ॥ २७–२८ ॥

वह कारकवक्रता कही गयी है, कारको की वक्रता की शोभा बतायी गयी है। कैसी ?–जिसमे कारको का विपर्यास, साधनो का विपर्यय, गौण-मुख्य कारको की इतरेतरभाव प्राप्ति (गौण का मुख्यभाव एव मुख्य का गौणभाव) हो जाती है। कैसे ?—जो कारक सामान्य अर्थात् प्रधान कारक की अपेक्षा (गौण) करण आदि वह प्रधानतया, मुख्यरूप से प्रयुक्त होता है। किस युक्ति द्वारा—तत्त्व के अध्यारोपण से। तत् इस पद से मुख्य (कारक) ग्रहण होता है, उसका भाव हुआ तत्त्व उसके (गौण पर) अध्यारोपण से, मुख्यभाव के समर्पण से। तो ऐसा होने पर प्रधान (कारक) की क्या व्यवस्था होती है, इस पर कहते है—मुख्य के गुणभाव का अभिधानपूर्वक (निबन्धन किया जाता है)। मुख्य कारक का जो अमुख्यभाव उसके कथन से अर्थात् अमुख्यरूप से उपनिबन्धन करने से (कारकवक्रता होती है)। किसलिए ?—भङ्गीभणिति की अपूर्व रमणीयता का परिपोष करने के लिए। किसी अपूर्व वक्रत्व कथन की रमणीयता को समुल्लासित करने के लिए। तो इस प्रकार चेतन मे होने वाली स्वच्छन्दता का समर्पण करने से अचेतन की भी अथवा अमुख्य करण आदि का (उनमे) कर्तृत्व आदि का अध्यारोप करने से जहाँ कारको का विपर्यय चमत्कारी होता है (वहाँ कारकवक्रता कही जाती है)।

यथा—

याञ्चां दैन्यपरिग्रहप्रणयिनीं नेक्ष्वाकव शिक्षिताः
सेवासंवलितः कदा रघुकुले मौलौ निबद्धोऽञ्जलिः ।
सर्वं तद्विहितं तथाप्युदधिना नैवोपरोधः कृतः
पाणिः सम्प्रति मे हठात् किमपरं स्प्रष्टुं धनुर्धावति ॥ ९७ ॥

अत्र पाणिना धनुर्ग्रहीतुमिच्छामीति वक्तव्ये पाणेः करणभूतस्य कर्तृत्वाध्यारोपः कामपि कारकवक्रतां प्रतिपद्यते । यथा वा—

स्तनद्वन्द्वम्, इत्यादौ ॥ ९८ ॥

यथा वा—

निष्पर्यायनिवेशपेशलरसैरन्योन्यनिर्भर्त्सिभि-
र्हस्ताग्रैर्युगपन्निपत्य दशभिर्वामैर्धृतं कार्मुकम् ।
सत्यानां पुनरप्रथीयसि विधावस्मिन् गुणारोपणे
मत्सेवाविदुषामहं प्रथमिका काप्यम्बरे वर्तते ॥ ९९ ॥

अत्र पूर्ववदेव कर्तृत्वाध्यारोपनिबन्धनं कारकवक्रत्वम् ।

उदाहरण जैसे—

(समुद्र पर सेतुबन्धन के पूर्व समुद्र पर कुपित राम की उक्ति है । यह श्लोक 'महानाटक' ४।७८ तथा 'सरस्वतीकण्ठाभरण' मे भी आया है)—

दीनता को स्वीकार करने प्रणयिनी याचनावृत्ति को इक्ष्वाकुवशीय राजाओ ने (कभी नही) सीखी तथा रघुवंश मे कब (किसी ने) सेवा मे बँधी हुई अञ्जलि सर पर बाँधी । (किन्तु मै राम ने) वह सब कुछ किया फिर भी समुद्र ने कृपा नही की, अब और क्या जबरन मेरा हाथ धनुष को छूने के लिए बढ रहा है ॥ ९७ ॥

यहाँ 'हाथ से धनुष ग्रहण करना चाहता हूँ' ऐसा कहने की अपेक्षा साधनभूत हाथ पर कर्तृत्व का अध्यारोप कर दिया गया है (जो) अपूर्व कारकवक्रता को प्रतिपन्न कर रहा है । अथवा जैसे—(१।६५ पर उद्धृत) 'स्तनद्वन्द्वम्' इत्यादि रचना मे (अचेतन बाष्पसमूहकरण मे कर्तृत्वभाव का अध्यारोप किया गया है) ॥ ९८ ॥

अथवा जैसे राजशेखरकृत बालरामायण (१।५०) मे रावण की इस उक्ति मे—अक्रम (एक साथ) धनुष पर विन्यस्त होने के कारण रमणीय आनन्द-निमग्न (मैं ही पकड़ूँ इस प्रकार) परस्पर (एक दूसरे की) निर्भर्त्सना करने वाले दसो बाये हाँथों से एक साथ पहुँचकर (शिव) धनुष पकड लिया गया है । और फिर धनुष के आरोपरूप इस छोटे से कार्य मे (पहुँचने के लिए) मेरा अभिमत कार्य समझने वाले दाहिने दसो हाँथो की 'प्रथम मैं पहुँचूँ, प्रथम मै पहुँचूँ' इस प्रकार की कुछ अनिर्वचनीय (अहम्प्रथमिका) आकाश मे हो रही है ॥ ९९ ॥

यथा वा—

बद्धस्पर्ध । इति ॥ १०० ॥ २८ ॥

एवं कारकवक्रतां विचार्य क्रमसमन्वितां संख्यावक्रतां विचारयति, तत्परिच्छेदकत्वात् संख्यायाः—

कुर्वन्ति काव्यवैचित्र्यविवक्षापरतन्त्रिताः ।
यत्र संख्याविपर्यासं तां संख्यावक्रतां विदुः ॥ २९ ॥

यत्र यस्यां कवयः काव्यवैचित्र्यविवक्षापरतन्त्रिताः स्वकर्मविचित्रभावाभिधित्सापरवशाः संख्याविपर्यासं वचनविपरिवर्तनं कुर्वन्ति विदधते तां संख्यावक्रतां विदुः तद्वचनवक्रत्वं जानन्ति तद्विदः। तदयमत्रार्थः—यदेकवचने द्विवचने प्रयोक्तव्ये वैचित्र्यार्थं वचनान्तरं यत्र प्रयुज्यते, भिन्नवचनयोर्वा यत्र सामानाधिकरण्यं विधीयते । यथा—

कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता
निपीतो निश्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः ।

यहाँ भी पहले की ही भाँति (करणभूत वाम-दक्ष हाथो पर धनुर्ग्रहण और आरोपणहेतु अहम्प्रथमिकारूप कार्य के) कर्तृत्व का अध्यारोपपूर्वक निबन्धन कारकवक्रता की सृष्टि कर रहा है।

अथवा जैसे (१।६६ मे आये श्लोक मे परशुराम के प्रति रावण की इस उक्ति मे कि)—

(तुम्हारे परशु से) होड़ बाँधे (मेरी यह खड्ग लज्जित हो रही) ॥ १०० ॥

यहाँ भी तलवार पर स्पर्धा बाँधनेरूप कार्य के कर्तृत्व का अध्यारोप किया गया है ॥ २८ ॥

इस प्रकार कारकवक्रता का विचार कर क्रमसमन्वित सख्यावक्रता का विचार करते है क्योकि संख्या (वचन) कारक का परिच्छेदक होती है—

काव्य मे वैचित्र्यप्रतिपादन के पराधीन कविगण जहाँ सख्या (वचन) का विपर्यय कर देते हैं, उसे संख्यावक्रता कहते हैं ॥ २९ ॥

जहाँ जिस उक्ति मे कविगण काव्यसौन्दर्य के प्रतिपादन की इच्छा से नियन्त्रित होकर अपने कविकर्म (काव्य) के विचित्रभाव के कथन की इच्छा के पराधीन होकर संख्या का विपर्यास, वचन का विपरिवर्तन कर देते है, उसे संख्यावक्रता कहते है, जानते हैं। काव्यविद् उसे वचनवक्रता ऐसा जानते है। इस प्रकार यहाँ पर अर्थ हुआ—कि एकवचन अथवा द्विवचन के प्रयोग करने के स्थान पर विचित्रता के लिए जहाँ अन्य वचन प्रयोग किये जाते है, अथवा भिन्न वचनो का जहाँ सामानाधिकरण्य कर दिया जाता है (वहाँ (वचन) संख्यावक्रता होती है)।

उदाहरण जैसे—(अमरुशतक ८५, सुभाषितावली १६२७, कवीन्द्रवचन ३७७, सदुक्तिकर्णामृतम् २।२४५, तथा ध्वन्यालोक पृ० २३२ एवं सरस्वतीकण्ठाभरण में उदाहृत इस श्लोक मे जहाँ नायक रूठी प्रियतमा को मनाते हुए कह रहा है)—

मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति बाष्पः स्तनतटीं
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम् ॥ १०१ ॥

अत्र 'न त्वहम्' इति वक्तव्ये, 'न तु वयम्' इत्यनन्तरङ्गत्वप्रतिपादनार्थं ताटस्थ्यप्रतीतये बहुवचनं प्रयुक्तम् । यथा वा—

वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकरहतास्त्वं खलु कृती ॥ १०२ ॥

अत्रापि पूर्ववदेव ताटस्थ्यप्रतीतिः । यथा वा—

फुल्लेन्दीवरकाननानि नयने पाणी सरोजाकराः ॥ १०३ ॥

अत्र द्विवचनबहुवचनयोः सामानाधिकरण्यलक्षणः संख्याविपर्यासः सहृदयहृदयहारितामावहति । यथा वा—

शास्त्राणि चक्षुर्नवम् ॥ १०४ ॥ इति ॥

अत्र पूर्ववदेवैकवचनबहुवचनयोः सामानाधिकरण्यं वैचित्र्यविधायि ॥२९॥

एवं संख्यावक्रतां विचार्य तद्विषयत्वात् पुरुषाणां क्रमसमर्पितावसरां पुरुषवक्रतां विचारयति—

(निरन्तर रोते रहने के करण) गालो पर बनायी गयी पत्रावली तू ने हाँथो की रगड से मसल डाला है । अमृत के समान अच्छा लगने वाला यह तुम्हारा अधररस निःश्वासो के द्वारा एकदम पी लिया गया है । बार-बार गले मे लगा यह आँसू स्तन के छोर को कम्पित कर दे रहा है । अयि ! अनुरोध न मानने वाली तुम्हारा तो क्रोध हो गया है, न कि हम ॥ १०१ ॥

यहाँ 'न कि मै' ऐसा कहने के बजाय 'न कि हम' यह बहुवचन, अपने अन्तरङ्ग न होने का प्रतिपादन करने के लिए तथा उदासीनता की प्रतीति कराने के लिए प्रयुक्त किया गया है । अथवा जैसे—(अभिज्ञान-शाकुन्तल १।२४ के अन्तिम पाद मे)—राजा दुष्यन्त का कथन है—मधुकर ! हम तो यथास्थिति (शकुन्तला क्षत्रिया है या नहीं, विवाह योग्य है अथवा नही) की खोज मे ही मारे गये और तुम कृतार्थ हो गये है ॥ १०२ ॥

यहाँ भी पहले की ही तरह 'अहम्' के स्थान पर 'वयम्' का प्रयोग करने से तटस्थता की प्रतीति हो रही है ।

अथवा जैसे—(१।६४ पर उदाहृत श्लोकाश मे)—

आँखे खिले हुए नील-कमलो के वन तथा हाँथ कमलों के निधान है ॥ १०३ ॥

यहाँ (नयने—काननानि तथा पाणी—सरोजाकरा', इस प्रकार से) द्विवचन और बहुवचनो का सामानाधिकरण्यरूप सख्यापरिवर्तन सहृदय-हृदय को अच्छा लगने वाला हो गया है ।

अथवा जैसे—(२।२९ मे प्रयुक्त बालरामायण १।३६ के श्लोकाश मे)—

शास्त्र ही (रावण के) अभिनव नेत्र है ॥ १०४ ॥

यहाँ भी पहले की ही तरह (चक्षुः—शास्त्राणि के) एकवचन और बहुवचन का सामानाधिकरण्य विचित्रता की सृष्टि करने वाला है ॥ २९ ॥

प्रत्यक्तापरभावश्च विपर्यासेन योज्यते ।
यत्र विच्छित्तये सैषा ज्ञेया पुरुषवक्रता ॥ ३० ॥

यत्र यस्यां प्रत्यक्ता निजात्मभावः परभावश्च अन्यत्वमुभयमप्येतद्विपर्यासेन योज्यते विपरिवर्तनेन निबध्यते । किमर्थम्—विच्छित्तये वैचित्र्याय । सैषा वर्णितस्वरूपा ज्ञेया ज्ञातव्या पुरुषवक्रता पुरुषवक्रत्वविच्छित्तिः । तदयमत्रार्थः—यदन्यस्मिन्नुत्तमे मध्यमे वा पुरुषे प्रयोक्तव्ये वैचित्र्यायान्यः कदाचित्प्रथमः प्रयुज्यते । तस्माच्च पुरुषैकयोगक्षेमत्वादस्मदादेः प्रातिपदिकमात्रस्य च विपर्यासः पर्यवस्यति । यथा—

कौशाम्बीं परिभूय नः कृपणकैर्विद्वेषिभिः स्वीकृतां
जानाम्येव तथा प्रमादपरतां पत्युर्नयद्वेषिणः ।
स्त्रीणां च प्रियविप्रयोगविधुरं चेतः सदैवात्र मे
वक्तुं नोत्सहते मनः परमतो जानातु देवी स्वयम् ॥ १०५ ॥

'अत्र 'जानातु देवी स्वयम्' इति युष्मदि मध्यमपुरुषे प्रयोक्तव्ये प्रातिपदिकमात्रप्रयोगेण वक्तुस्तदशक्त्यानुष्ठानतां मन्यमानस्यौदासीन्यप्रतीतिः ।

इस प्रकार संख्यावक्रता का विचारकर पुरुषों के संख्या का विषय होने के कारण क्रम प्राप्त अवसर पुरुषवक्रता का विचार करते है—

विच्छित्ति के लिए जहॉ आत्मभाव और परभाव का विपर्ययपूर्वक निबन्धन किया जाता है, ऐसी वह पुरुषवक्रता जाननी चाहिए ॥ ३० ॥

जहॉ जिस उक्ति मे 'प्रत्यक्ता' अपना आत्मभाव तथा परभाव, अन्यत्व ये दोनो ही विपर्यासपूर्वक संयोजित किये जाते है परिवर्तनपूर्वक निबन्धित किये जाते है (वहॉ पुरुषवक्रता होती है)। किसलिए ?—विच्छित्त के लिए, वैचित्र्य के लिए। वह इस प्रकार की वर्णितस्वरूप पुरुषवक्रता, पुरुषवक्रता की विच्छित्ति जाननी चाहिए। तो इसका यहॉ यह अर्थ होता है—जहॉ अन्य, उत्तम अथवा मध्यमपुरुष के प्रयोग करने की स्थिति मे वैचित्र्य के लिए–अन्य अर्थात् कभी-कभी प्रथमपुरुष का प्रयोग कर दिया जाता है। और उस पुरुष (विपर्यास) के समान ही योगक्षेयुक्त होने के कारण अस्मदादि (उत्तमादि पुरुष) और प्रातिपदिक मात्र का भी विपर्यय पर्यवसित होता है। उदाहरण जैसे—(श्लोक तापसवत्सराज १।६७ का है)—मन्त्री यौगन्धरायण का कथन है—तुच्छ आपने शत्रुओ से अधीन की गयी कौशाम्बी को जीतकर नय से द्वेष रखने वाली महाराज की वैसी प्रमादपरता (असावधानी) को तो मै जानता ही हूँ स्त्रियो का हृदय अपने प्रियतम के वियोग से सदैव व्यथित रहता है तथापि मेरा मन इस विषय मे कुछ भी कहना नही चाहता, इसके आगे देवी (आप) स्वयं समझे ॥ १०५ ॥

यहॉ मध्यमपुरुष के युष्मद् शब्द (त्वम्) के प्रयोग करने के स्थान पर 'देवी स्वयं जाने, इस प्रकार से 'देवी' इस प्रातिपदिकमात्र के प्रयोग से उस अपने कथन

तस्याश्च प्रभुत्वात् स्वातन्त्र्येण हिताहितविचारपूर्वकं स्वयमेव कर्तव्यार्थप्रतिपत्तिः कमपि वाक्यवक्रभावमावहति। यस्मादेतदेवास्य वाक्यस्य जीवितत्वेन परिस्फुरति।

एवं पुरुषवक्रतां विचार्य पुरुषाश्रयत्वादात्मनेपदपरस्मैपदयोरुचितावसरां वक्रतां विचारयति। धातूनां लक्षणानुसारेण नियतपदाश्रयः प्रयोगः पूर्वाचार्याणाम् 'उपग्रह'शब्दाभिधेयतया प्रसिद्धाः। तस्मात्तदभिधानेनैव व्यवहरतिः—

पदयोरुभयोरेकमौचित्याद् विनियुज्यते।
शोभायै यत्र जल्पन्ति तामुपग्रहवक्रताम्॥ ३१॥

तामुक्तस्वरूपामुपग्रहवक्रतामुपग्रहवक्रत्वविच्छित्ति जल्पन्ति कवयः कथयन्ति। कीदृशी-यत्र यस्यां पदयोरुभयोर्मध्यादेकमात्मनेपदं परस्मैपदं वा विनियुज्यते विनिबध्यते नियमेन। कस्मात्कारणात्—औचित्यात्। वर्ण्यमानस्य वस्तुनो यदौचित्यमुचितभावस्तस्मात्, तं समाश्रित्येत्यर्थः। किमर्थम्—शोभायै विच्छित्तये। यथा—

की (देवी के द्वारा) परिपालन किये जाने की अशक्यता मानने वाले वक्ता (मन्त्री यौगन्धरायण) की (आप माने या न माने इस प्रकार की) उदासीनता की प्रतीति हो रही है। और उस देवी के समर्थ होने के कारण स्वतन्त्रतापूर्वक हित और अनहित के विचारपूर्वक स्वयं ही करणीय अर्थ का निर्धारण करना चाहिए इस प्रकार की अपूर्व वाक्य की वक्रता को (देवी पद का प्रयोग) प्रस्तुत कर रहा है। क्योकि यही इस वाक्य के प्राण के रूप मे समुल्लसित हो रहा है।

इस प्रकार से पुरुषवक्रता का विचार कर आत्मनेपद और परस्मैपद के पुरुष के आश्रित होने से उचित अवसर प्राप्त उनकी वक्रता का विचार करते है। धातुओ का लक्षण के अनुसार निश्चित पद (परस्मैपद, आत्मनेपद या उभयपद) के आश्रित होने वाला प्रयोग प्राचीन आचार्यों मे 'उपग्रह' शब्द के नाम से प्रसिद्ध है। इसलिए उस नाम (उपग्रह नाम) से ही यहाँ भी उन्हे (परस्मैपद-आत्मनेपद को) व्यवहृत कर रहे है—

(कविगण) जहाँ (काव्य की) शोभा के लिए दोनो (परस्मैपद आत्मनेपद) पदों मे से औचित्यवश किसी एक का निबन्धन करते हैं, उसे उपग्रहवक्रता कहते है॥ ३१॥

उस (कारिका से) कथित स्वरूपवाली उपग्रहवक्रता, उपग्रहवक्रत्वविच्छित्ति को कहते है, कविगण बताते है। कैसी है?—जहाँ, जिसमे दोनो पदो मे से एक आत्मनेपद अथवा परस्मैपद का नियमपूर्वक विनियोग, विशेष निबन्धन करते है। किस कारण से?—औचित्य के कारण से। वर्ण्यमान वस्तु का जो औचित्य, उचित भाव उसके कारण अर्थात् वर्ण्यमान वस्तु के औचित्य का समाश्रय करके विनिबन्धन करते है। किसलिए?—शोभाहेतु, विच्छित्ति-निर्माण के लिए। उदाहरण जैसे—

तस्या परेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः
कर्णान्तमेत्य बिभिदे निविडोऽपि मुष्टिः।
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरयत्सुनेत्रैः
प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि ॥ १०६ ॥

अत्र राज्ञः सुललितविलासवतीलोचनविलासेषु स्मरणगोचरमवतरत्सु तत्परायत्तचित्तवृत्तेराङ्गिकप्रयत्नपरिस्पन्दविनिवर्तनान्मुष्टिर्बिभिदे भिद्यते स्म। स्वयमेवेति कर्मकर्तृनिबन्धनमात्मनेपदमतीव चमत्कारकारिणीं कामपि वाक्यवक्रतामावहति ॥ ३१ ॥

एवमुपग्रहवक्रतां विचार्य तदनुसम्भविनीं प्रत्ययान्तरवक्रतां विचारयति—

विहितः प्रत्ययादन्यः प्रत्यय कमनीयताम्।
यत्र कामपि पुष्णाति सान्या प्रत्ययवक्रता ॥ ३२ ॥

सान्या प्रत्ययवक्रता सा समाम्नातरूपादन्यापरा काचित् प्रत्ययवक्रत्वविच्छित्ति। अस्तीति सम्बन्धः। यत्र यस्यां प्रत्ययः कामप्यपूर्वां कमनीयतां रम्यतां पुष्णाति पुष्यति। कीदृशः—प्रत्ययात् तिङादेर्विहितः पदत्वेन विनिर्मितोऽन्यः कश्चिदिति।

(रघुवश ९।५८ मे महाराज दशरथ के द्वारा मृगया किये जा रहे वृत्तान्त का वर्णन है)—भय से अत्यन्त चञ्चल नेत्रो से प्रियतमा के नेत्रो की उत्कृष्ट विभ्रम चेष्टाओ का स्मरण दिलाने वाले दूसरे मृगो पर भी बाण-प्रहार की इच्छा रखने वाले उन महाराज दशरथ की गहरी भी मूँठ (पकड़) ढीली पड़ गयी ॥ १०६ ॥

यहाँ (भयत्रस्त अतएव और भी चञ्चल मृगनेत्रो के दर्शन से) वल्लभा के सुन्दर नेत्र विभ्रमो के स्मृतिगोचर होने पर उस (प्रियतमा दृष्टि) के पराधीन मनोवृत्ति राजा दशरथ के द्वारा (शर-प्रहाररूप) प्रयत्नभाव से विरत हो जाने से मुट्ठी विलग हो गयी, ढीली पड़ गयी। स्वयं ही (मूँठ ढीली पड गयी) इस प्रकार कर्मकर्तृनिबन्धन आत्मनेपद अतिशय सौन्दर्य पैदा करने वाली अपूर्व वाक्यवक्रता को ला रहा है ॥ ३१ ॥

इस प्रकार उपग्रहवक्रता का विचारकर उसके पश्चात् हो सकने वाली दूसरे प्रत्ययों की वक्रता का विचार करते है—

जहाँ एक प्रत्यय से किया गया अन्य प्रत्यय अपूर्व वक्रता को पुष्ट करता है, वह अन्य प्रकार की प्रत्ययवक्रता होती है ॥ ३२ ॥

वह अन्य ही प्रत्ययवक्रता है। वह अर्थात् इसके पूर्व कथित स्वरूप (परस्मैपद तथा आत्मेनपद प्रत्ययरूप) से भिन्न अन्य दूमरी ही कोई प्रत्ययवक्रता की विच्छित्ति हैं। अस्ति–होती है इस क्रिया का सम्बन्ध है। जहाँ जिसमे प्रत्यय किसी अपूर्व ही वक्रता कमनीयता का पोषण करता है, पुष्टि करता है। कैसा प्रत्यय ?—तिङादि प्रत्यय से किया गया अर्थात् पद के रूप मे बनाया गया कोई और प्रत्यय (जहाँ कमनीयता का पोष करता है वहाँ दूसरे प्रकार की प्रत्ययवक्रता होती है)।

यथा—

लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्वं गिरा कृष्यते
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदंवाचैव यो वाक्पतिः।
वन्दे द्वावपि तावहं कविवरौ वन्देतरां तं पुन-
र्यो विज्ञातपरिश्रमोऽयमनयोर्भारावतारक्षमः॥ १०७॥

'वन्देतराम्' इत्यत्र कापि प्रत्ययवक्रता कवेश्चेतसि परिस्फुरति। तत एव 'पुनः'—शब्दः पूर्वस्माद्विशेषाभिधायित्वेन प्रयुक्तः॥ ३२॥

एवं नामाख्यातस्वरूपयोः पदयोः प्रत्येकं प्रकृत्याद्यवयवविभागद्वारेण यथासम्भवं वक्रत्वं विचार्येदानीमुपसर्गनिपातयोरव्युत्पन्नत्वादसम्भवद्विभक्तिकत्वाच्च निरस्तावयवत्वे सत्यविभक्तयोः साकल्येन वक्रतां विचारयति—

रसादिद्योतनं यस्यामुपसर्गनिपातयोः।
वाक्यैकजीवितत्वेन सा परा पदवक्रता॥ ३३॥

सापरा पदवक्रता—समर्पितस्वरूपापरा पूर्वोक्तव्यतिरिक्ता पदवक्रत्व-

---

उदाहरण जैसे—वस्तु मे अन्तर्निहित सूक्ष्म तथा सुन्दर तत्त्व को जो अपनी वाणी से बाहर खीच निकालता है अथवा जो इस बहिर्जगत् को वाणी से ही मनोरम बनाने मे समर्थ हो सकता है, मै उन दोनो ही कविपुङ्गवो को मैं प्रणाम करता हूँ और उसको इन दोनो से भी अधिक प्रणाम करता हूँ जो इन दोनो के परिश्रम का जानकार (और इस प्रकार इनके) भार को उतारने मे समर्थ होता है॥ १०७॥

(प्रथम तो यहाँ विहित प्रत्यय लडादि का मिप् रूप वन्दे प्रत्युक्त है किन्तु इस प्रत्यय से अन्य प्रत्यय 'वन्देतराम्' मे तरप् प्रत्यय किया गया है, इस प्रकार यहाँ) 'वन्देतराम्' इस प्रयोग मे कवि के चित्त मे कोई अपूर्व प्रत्ययवक्रता समुल्लसित हो रही थी (जिसके वशीभूत होकर उसने इसका प्रयोग किया है) इसीलिए तो पहले की अपेक्षा विशेष के प्रतिपादक के रूप मे 'पुनः' शब्द का प्रयोग किया गया है॥ ३२॥

इस प्रकार नाम (प्रतिपादिकरूप सुबन्त) और आख्यात धातु या क्रियारूप तिङन्त) स्वरूप दोनो प्रकार के पदो की प्रकृति आदि (प्रत्यय) के अवयव के विभागपूर्वक यथासभव प्रत्येक वक्रता का विचार कर इस समय (पदजातो मे अवशिष्ट दो) उपसर्ग और निपात की अव्युत्पन्न होने के कारण तथा उनमे विभक्ति संभव न होने के कारण उनके अवयवरहित होने पर अविभक्त उन दोनो की सम्पूर्ण रूप से होने वाली वक्रता का विचार करते है—

जहाँ उपसर्ग और निपात के द्वारा वाक्य के एकमात्र प्राणस्वरूप (शृङ्गार आदि) रस आदि (भावादि) का द्योतन होता है। वह (पूर्वप्रतिपादित पदवक्रता से भिन्न) अन्य प्रकार की पदवक्रता होती है॥ ३३॥

वह अन्य पदवक्रता है। वह अपर अर्थात् वर्णितस्वरूप से भिन्न इतर, पूर्वोक्त से व्यतिरिक्त, पदवक्रता की शोभा होती है। 'अस्ति' इस क्रिया का (सापरा पदवक्रता

विच्छित्तिः । अस्तीति सम्बन्धः । कीदृशी—यस्यां वक्रतायामुपसर्गनिपातयो वैयाकरणप्रसिद्धाभिधानयो रसादिद्योतनं शृङ्गारप्रभृतिप्रकाशनम् । कथम्—वाक्यैक्यजीवितत्वेन । वाक्यस्य श्लोकादेरेकजीवितं वाक्यैकजीवितं तस्य भावस्तत्त्वं तेन । तदिदमुक्तं भवति—यद्वाक्यस्यैकस्फुरितभानेन परिस्फुरति यो रसादिस्तत्प्रकाशनेनेत्यर्थः । यथा—

वैदेही तु कथं भविष्यति ह हा हा देवि धीरा भव ॥ १०८ ॥

अत्र रघुपतेस्तत्कालज्वलितोद्दीपनविभावसम्पत्समुल्लासितः सम्भ्रमो निश्चितजनितजानकीविपत्तिसम्भावनस्तत्परित्राणकरणोत्साहकारणतां प्रतिपद्यमानस्तदेकाग्रतोल्लिखितसाक्षात्कारस्तदाकारतया विस्मृतविप्रकर्षः प्रत्यग्ररसपरिस्पन्दसुन्दरो निपातपरम्पराप्रतिपद्यमानवृत्तिर्वाक्यैकजीवितत्वेन प्रतिभासमानः कामपि वाक्यवक्रतां समुन्मीलयति । तु-शब्दस्य च वक्रभावः पूर्वमेव व्याख्यातः ।

से) सम्बन्ध है । कैसी (है वह पदवक्रता) ?—जिस वक्रता में वैयाकरण-ग्रन्थों में प्रसिद्ध नाम उपसर्ग और निपातों के द्वारा रसादि का द्योतन, शृङ्गार आदि रसादि का प्रकाशन होता है । कैसे ? क्योंकि (रसादि ही) वाक्य का एकमात्र जीवन है । वाक्य, श्लोक आदि का एकजीवित है जो वह हुआ वाक्यैकजीवित, उसका जो भाव वह हुआ वाक्यैकजीवितत्त्व, वाक्य के एकमात्र जीवनरूप (रसादि के) होने से । तो यहाँ यह कहा जा सकता है—वाक्य के एकमात्र जीवित रूप से प्रकाशित होता है जो रसादि उसके प्रकाशन से (जो उपसर्ग-निपात का प्रयोग किया जाता है, वह और ही पदवक्रता है) यह अर्थ हुआ ।

उदाहरण जैसे—(२।२७ पर उदाहृत श्लोकांश में)—

(राम मैं तो सब कुछ सह लूँगा) किन्तु हाय, (इस उमडते-घुमडते बादलों वाले वर्षाकाल में) विदेहपुत्री सीता कैसे होगी ? हा देवि ! धीरज रखो ॥ १०८ ॥

यहाँ उस (स्निग्ध-श्यामलकान्तिलिप्त विपदादि युक्त) वर्षाकाल में प्रदीप्त उद्दीपन विभावों की शोभा से सविधि प्रकाशित, निश्चितरूप से सीता की मृत्युरूप विपत्ति की संभावनायुक्त श्री रघुनाथ रामचन्द्र जी की अकुलाहट, उन सीता की रक्षा करने के लिए उत्साह की कारणता को प्राप्त होता हुआ, सीता की एकाग्रता से चित्रित साक्षात्कारस्वरूप, तदाकारित होने के कारण वियोग को भुला देने वाला, अभिनव (विप्रलम्भ शृंगार) रस के परिस्फुरण से सुन्दर (ह, ह आदि निपात-समूह से प्रस्तुत रामचन्द्रजी का व्यापार (विप्रयोग विप्रकर्षाद्यनुभूति) वाक्य के एकमात्र प्राण के रूप में प्रतीत होता हुआ अपूर्व वाक्यवक्रता को विभासित कर रहा है । और 'तु' शब्द का वक्रभाव पहले (२।२७) ही व्याख्यात हो चुका है ।

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो वा ।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥ १०९ ॥

अत्र द्वयोः परस्परं सुदुःसहत्वोद्दीपनसामर्थ्यसमेतयोः प्रियाविरह-वर्षाकालयोस्तुल्यकालत्वप्रतिपादनपरं 'च'—शब्दद्वितयं समसमयसमुल्लसितवह्निदाहदक्षदक्षिणवातव्यजनसमानतां समर्थयत् कामपि वाक्यवक्रतां समुद्दीपयति । 'सु'—'दु' शब्दाभ्यां च प्रियाविरहस्याशक्यप्रतीकारता प्रतीयते । यथा च—

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् ।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ॥ ११० ॥

अत्र नायकस्य प्रथमाभिलाषविवशवृत्तेरनुभवस्मृतिसमुल्लिखिततत्कालसमुचिततद्वदनेन्दुसौन्दर्यस्य पूर्वपरिचुम्बनस्खलितसमुद्दीपितपश्चात्तापवशावेशद्योतनपरः 'तु-' शब्दः कामपि वाक्यवक्रतामुत्तेजयति ।

एतदुत्तरत्र प्रत्ययवक्रत्वमेवंविधप्रत्ययान्तरवक्रभावान्तर्भूतत्वात् पृथक्त्वेन नोक्तमिति स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयम् ।

अथवा जैसे—(विक्रमोर्वशीय ४।३ इस श्लोक मे । यह श्लोक ध्वन्यालोक मे भी निपातो की व्यञ्जकता मे उदाहृत किया गया है)—उर्वशी के वियोग से पीडित पुरुरवा कहता है कि, उस प्रियतमा उर्वशी से मेरा अत्यन्त असह्य वियोग तथा अभिनव जलधर मेघों के उदय से आतपरहित रमणीय होने वाले दिन एक साथ ही मेरे समक्ष आ पडे॥ १०९ ॥

यहाँ परस्पर अत्यन्त दुःसहत्व तथा उद्दीपन की शक्ति से युक्त प्रियावियोग तथा वर्षाकाल दोनों की समकालता को प्रतिपादित करने मे समर्थ (निपातरूप मे प्रयुक्त) दोनो 'च' शब्द एक साथ प्रकाशित अग्नि को प्रज्ज्वलित करने मे सक्षम दक्षिण मलय-मारुत तथा बालव्यजन की समानता का समर्थन करते हुए अपूर्व वाक्यवक्रता को समुद्दीप्त करते है। और 'सु' तथा 'दु' निपातरूप दोनो ही शब्दो से प्रिया-वियोग की असम्भाव्य प्रतीकारता प्रतीत होती है। अथवा जैसे—(अभिज्ञान शाकुन्तल ३।७८ का श्लोक जिसमे राजा दुष्यन्त द्वारा एकान्त मे भी प्रियतमा शकुन्तला के होठों का पान न कर सकने का पश्चात्ताप वर्णित है। यह भी श्लोक ध्वन्यालोक मे (पृ० ३८६) निपातो की व्यञ्जकता के उदाहरण के रूप मे आया है)—

बार-बार अँगुलियों से ढाँपे गये अधरोष्ठयुक्त तथा निषेध के (न-न) अक्षरो से घबराये अतएव सुन्दर उस पक्ष्मलाक्षी शकुन्तला के स्कन्ध तक परावर्तित मुख को मैंने किसी-किसी प्रकार से ऊपर उठा तो लिया किन्तु चुम्बन नही कर पाया (बीच मे गौतमी आ पडी) ॥११०॥

यहाँ प्राप्ति की प्रथम अभिलाषा से विवश व्यापार नायक दुष्यन्त के (एकान्त सङ्गम मे मुख को ऊपर उठाने आदि के) अनुभव के स्मरण से चित्रित उस समय के उपयुक्त शकुन्तला के मुखचन्द्र की सुन्दरता का पहले ही परिचुम्बन (न ले पाने) मे होने वाली भूल से समुद्दीपित पश्चात्ताप के कारण समुत्पन्न आवेश को द्योतित

यथा—

येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥ १११ ॥

अत्र 'अतितराम्' इत्यतीव चमत्कारकारि। एवमन्येषामपि सजातीयलक्षणद्वारेण लक्षणनिष्पत्तिः स्वयमनुसर्तव्या। तदेवमियमनेकाकारा वक्रत्वविच्छित्तिश्चतुर्विधपदविषया वाक्यैकदेशजीवितत्वेनापि परिस्फुरन्ती सकलवाक्यवैचित्र्यनिबन्धनतामुपयाति।

वक्रतायाः प्रकाराणामेकोऽपि कविकर्मणः।
तद्विदाह्लादकारित्व हेतुतां प्रतिपद्यते ॥ ११२ ॥

इत्यन्तरश्लोकः।

करने वाला 'तु' शब्द अपूर्व वाक्यवक्रता को उद्भासित कर रहा है। (ऊपर के दोनो श्लोको मे होने वाली व्यञ्जना को लोचनकार ने इस प्रकार व्यक्त किया है—द्वौ 'च' शब्दावेवमाहतुः, काकतालीयन्यायेन गण्डस्योपरि स्फोट इतिवत्तद्वियोगश्च वर्षासमयश्च समुपनतौ एतदल प्राणहरणाय। .... 'तु शब्दः पश्चत्तापसूचकस्सन् तावन्मात्र परिचुम्बनलाभेनापि कृतकृत्यता स्यादिति ध्वनति। लोचन पृ० ३८६)।

इन (उपसर्गादि) के अन्त मे लगने वाले प्रत्ययो की वक्रता इस प्रकार की (पूर्वपादित रूप) अन्य प्रत्ययो की वक्रता मे अन्तर्भूत हो जाती है, इसलिए उन्हे पृथक् रूप से नही कहा है। इसे स्वय ही समझ लेना चाहिए। उदाहरणार्थ जैसे—श्लोक मेघदूत के १५वे श्लोक का उत्तरार्द्ध है। पूर्वार्द्ध इस प्रकार है—

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ता-
द्वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुः खण्डमाखण्डलस्य ॥

मेघ के रामगिरि से आगे जाने की बात है। विभिन्न मणियो की कान्ति के मिश्रण की भाँति दर्शनीय इन्द्रधनुष का टुकडा बाँबियो से निकल रहा है।) जिससे तुम्हारा श्यामशरीर छिटकते प्रकाश मयूरपंख से गोपवेषधारी भगवान् कृष्ण के श्यामशरीर की भाँति अत्यन्त शोभा को प्राप्त कर लेगा ॥ १११ ॥

यहाँ 'अतितराम्' पद अत्यन्त चमत्कारकारी है। (ऐसे उपसर्ग आदि के बाद आने वाले 'तरप्' आदि प्रत्ययो को पूर्वप्रतिपादित प्रत्ययवक्रता मे अन्तर्भूत कर लेना चाहिए।) इसी प्रकार समान जातोय लक्षणा के द्वारा अन्य वक्रताओ के भी लक्षणो का निर्माण स्वयं समझ कर कर लेना चाहिए। इस प्रकार यह अनेक स्वरूपो वाली वक्रता की विच्छित्ति (नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपातरूप) चार प्रकार के पदो की विषयक होती हुई वाक्य के एकाशमात्र के भी जीवन के रूप मे प्रकाशित होती हुई सम्पूर्ण वाक्य की विचित्रता के निबन्धन की हेतुता को प्राप्त होती है।

वक्रता के अनेक भेदों मे से एक भी प्रकार कविकर्म (काव्य) के तद्विद (सहृदय) की आह्लादकारिता की कारणता को प्राप्त कर लेता है ॥ ११२ ॥ यह अन्तर श्लोक है।

यद्येवमेकस्यापि वक्रताप्रकारस्य यदेवंविधो महिमा तदेते बहवः सम्पतिताः सन्तः किं सम्पादयन्तीत्याह—

परस्परस्य शोभायै बहवः पतिताः क्वचित् ।
प्रकारा जनयन्त्येतां चित्रच्छायामनोहराम् ॥ ३४ ॥

क्वचिदेकस्मिन् पदमात्र वाक्ये वा वक्रताप्रकारा वक्रत्वप्रभेदा बहवः प्रभूताः कविप्रतिभामाहात्म्यसमुल्लसिताः। किमर्थम्—परस्परस्य शोभायै, अन्योन्यस्य विच्छित्तये। एतामेव चित्रच्छायामनोहरामनेकाकारकान्ति रमणीयां वक्रतां जनयन्त्युत्पादयन्ति ।
यथा—

तरन्तीव इति ॥ ११३ ॥

अत्र क्रियापदानां त्रयाणामपि प्रत्येकं त्रिप्रकारं वैचित्र्यं परिस्फुरति—क्रियावैचित्र्यं कारकवैचित्र्यं कालवैचित्र्यं च। प्रथिम-स्तनजघन-तरुणिम्नां त्रयाणामपि वृत्तिवैचित्र्यम्। लावण्यजलधि-प्रागल्भ्य-सरलता-परिचयशब्दानामुपचार-वैचित्र्यम्। तदेवमेते बहवो वक्रताप्रकारा एकस्मिन् पदे वाक्ये वा सम्पतिताश्चित्रच्छायामनोहरामेतामेव चेतनचमत्कारकारिणीं वाक्यवक्रतामावहन्ति ॥ ३४ ॥

यदि इस प्रकार से एक भी वक्रता के प्रकार का यदि इस प्रकार का माहात्म्य है तो ये अनेक प्रकार उपस्थित होकर क्या करते है, इस पर कहते है—

एक-दूसरे की शोभा के लिए कही कही उपस्थित (वक्रता के) अनेक प्रकार इस वक्रता को अनेक प्रकार की कान्ति से मनोरम बना देते है ॥ ३४ ॥

कहीं एक ही पदमात्र अथवा वाक्यमात्र मे वक्रता के प्रकार, वक्रता के प्रभेद, बहुत से अनेक कवि-प्रतिभा के माहात्म्य से समुल्लसित होते है। किसलिए ?—एक-दूसरे की शोभा के लिए। अन्योन्य की विच्छित्ति के लिए। इसी विभिन्न कान्ति से मनोहर, अनेक स्वरूपो की कान्ति से रमणीय वक्रता को जन्म देते हैं, उत्पन्न करते है। उदाहरण जैसे—(२।९१ मे उद्धृत श्लोक—

'तरन्तीवाङ्गानि' इत्यादि मे ॥ ११३ ॥

यहाँ तीनो ही (तरन्ति, उन्मुद्रयन्ति, अपवदन्ते) क्रियापदों मे प्रत्येक की तीन प्रकार की वक्रता समुल्लसित हो रही है—क्रियावैचित्र्य, कारकवैचित्र्य और कालवैचित्र्य। प्रथिमा, स्तन-जघन और तरुणिमा तीनो पदो मे (तद्धित-समासादिरूप) वृत्तिवैचित्र्य है। लावण्यजलधि, प्रागल्भ्य, सरलता तथा परिचय शब्दो की उपचारवक्रता है। इसलिए इस प्रकार से ये अनेक वक्रता के भेद एक पद अथवा वाक्य मे उपस्थित होकर विभिन्न शोभा से मनोहर इसी चेतन (सहृदय) को चमत्कृत करने वाली वाक्यवक्रता को निष्पन्न करते हैं ॥ ३४ ॥

एवं नामाख्यातोपसर्गनिपातलक्षणस्य चतुर्विधस्यापि पदस्य वक्रताप्रकारान् विचार्येदानीं प्रकरणमुपसंहृत्यान्यदवतारयति—

वाग्वल्ल्याः पदपल्लवास्पदतया या वक्रतोद्भासिनी
विच्छित्तिः सरसत्वसम्पदुचिता काप्युज्ज्वला जृम्भते।
तामालोच्य विदग्धषट्पदगणैर्वाक्यप्रसूनाश्रयैः
स्फारामोदमनोहरं मधु नवोत्कण्ठाकुलं पीयताम्॥ ३५॥

वागेव वल्ली वाणी लता तस्याः काप्यलौकिकी विच्छित्तिर्जृम्भते शोभा समुल्लसति। कथम्—पदपल्लवास्पदतया। पदान्येव पल्लवानि सुप्तिङन्तान्येव पत्राणि तदास्पदतया तदाश्रयत्वेन। कीदृशी विच्छित्तिः—सरसत्वसम्पदुचिता, रसवत्त्वातिशयोपपन्ना। किं विशिष्टा च—वक्रतया वक्रभावेनोद्भासते भ्राजते या सा तथोक्ता। कीदृशी—उज्ज्वला, छायातिशयरमणीया। तामेवंविधामालोच्य विचार्य विदग्धषट्पदगणैर्विबुधषट्चरणचक्रैर्मधुपीयतां मकरन्द आस्वाद्यताम्। कीदृशम्—वाक्यप्रसूनाश्रयम्। वाक्यान्येव पदसमुदायरूपाणि प्रसूनानि पुष्पाण्याश्रयःस्थानं यस्य तत्तथोक्तम्। अन्यच्च कीदृशम्—स्फारामोदमनोहरम्। स्फारः स्फीतो योऽसावामोदस्तद्धर्मविशेषस्तेन मनोहरं

इस प्रकार नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपातरूप चारो प्रकार के पदो के वक्रता के भेदों का विचार कर इस समय इस प्रकरण का उपसहार कर अन्य अवतारणा करते है—वाणीरूप लता के पदरूप किसलयो के आश्रय मे रहने वाली, वक्रता से समुद्भासित सरसत्व श्री विभूपित जो कोई अपूर्व उज्ज्वल शोभा प्रस्फुटित होती है, उसकी आलोचना कर (उसे निभालित कर) पण्डितरूप भ्रमणगण वाक्यरूप पुष्पो मे रहने वाले अतिशय आमोद से मनोहर मधु को नयी उत्कण्ठा से व्यग्र होकर पीयें ॥ ३५ ॥

वाक् ही वल्ली है, वाणी लता है, उसकी कोई अलौकिक शोभा प्रकाशित होती है, समुल्लसित होती है। कैसे ?—पदपल्लव मे रहने वाली। पद ही हुए पल्लव अर्थात् सुबन्त, तिङन्तरूप पद ही पत्ते है उसके आस्पद होने के कारण, उसके आश्रय में रहने वाली। कैसी विच्छित्ति ?—सरसत्व सम्पत्ति से युक्त, अतिशय रसवत्ता से भरपूर। और किस विशेप से युक्त है ?—वक्रता से वक्रभाव से जो उद्भासित होती है, शोभित होती है वह तथोक्त वक्रतोद्भासिनी विच्छित्ति। कैसी ?—उज्ज्जव, शोभातिशय से रमणीय। उस इस प्रकार की विच्छित्ति को आलोचित कर, विचार कर, विदग्ध भ्रमर-समूहो द्वारा, पण्डितरूप भ्रमर वृन्दो द्वारा मधु पीया जाये, मकरन्द का आस्वाद लिया जाये। कैसे मधु का ?—वाक्यरूप पुष्पो मे रहने वाले। पदसमुदायरूप वाक्य ही प्रसून, पुष्प ही आश्रयस्थान है जिसके उस तथोक्त वाक्यप्रसूनाश्रय मधु को। और कैसे ?—स्फार आमोद से मनोहर। स्फार, स्फीत (अतिशय) जो यह आमोद उसका धर्मविशेप (सौगन्ध्य) उससे मनोहर हृदयहारी मधु को। कैसे पान किया जाये ?—नयी उत्कण्ठा से आकुल होकर

हृदयहारि । कथमास्वाद्यताम्—नवोत्कण्ठाकुलम् नूतनोत्कलिकाव्यग्रम् । मधुकरसमूहाः खलु वल्ल्याः प्रथमोल्लसितपल्लवोल्लेखमालोच्य प्रतीतचेतसः समनन्तरोद्भिन्नसुकुमारकुसुममकरन्दपानमहोत्सवमनुभवन्ति । तद्वदेव सहृदयाः पदास्पदां कामपि वक्रतां विच्छित्तिमालोच्य नवोत्कलिकाकलितचेतसो वाक्याश्रयं किमपि वक्रताजीवितसर्वस्वं विचारयन्त्विति तात्पर्यार्थः । अत्रैकत्व सरसत्वं स्वसमयसम्भविरसाढ्यत्वम्, अन्यत्र शृङ्गारादिव्यञ्जकत्वम् । वक्रतैकत्र बालेन्दुसुन्दरसंस्थानयुक्तत्वम्, इतरत्रोक्त्यादिवैचित्र्यम् । विच्छित्तिरेकत्र सुविभक्तपत्रत्वम् अन्यत्र कविकौशलकमनीयता । उज्ज्वलत्वमेकत्र पर्णच्छायामुक्तत्वम् अपरत्र सन्निवेशसौन्दर्यसमुदयः । आमोदः पुष्पेषु सौरभम्, वाक्येषु तद्विदाह्लादकारिता । मधुकुसुमेषु मकरन्दः, वाक्येषु सकलकाव्यकारणसम्पत्समुदय इति ।

इतिश्रीमत्कुन्तकविरचिते वक्रोक्तिजीविते
द्वितीय उन्मेषः ॥

अभिनव उत्कलिका से व्यग्र (अधीर) होकर । भ्रमरवृन्द लता की प्रथमतः निकली पल्लवरेखा को देखकर विश्वस्तमना होकर पल्लव के बाद निकसे कोमल पुष्प के पराग के पीने का आनन्द उठाते है । उसी प्रकार सहृदयगण पदो मे रहने वाली अलौकिक वक्रता की शोभा को देखकर अभिनव उत्कण्ठा से व्याप्त मन वाक्याश्रित अलौकिक अपूर्व वक्रतारूप प्राणधन का विचार करते हैं, यह तात्पर्यार्थ हुआ ।

यहाँ इस श्लोक मे एकत्र (लतापक्ष मे) सरसत्व का अर्थ है अपने समय पर होने वाली रस की अधिकता । अन्यत्र वाक् (काव्यपक्ष) मे सरसत्व का अर्थ है शृङ्गार आदि की व्यञ्जकता । वक्रता से तात्पर्य प्रथम पक्ष मे द्वितीया के चन्द्रमा के समान सुन्दर अवयवो से युक्त होना है, अपरत्र काव्यपक्ष मे कथन आदि की विचित्रता है । विच्छित्ति एकत्र तो पत्तो का अच्छी तरह से अलग-अलग होना है, दूसरी ओर कवि के कौशल की मनोहरता है । उज्ज्वलता से तात्पर्य एकत्र पत्तो की शोभा से युक्त होना है, अपरत्र पदादि के सौन्दर्य का समुल्लास है । आमोद का अर्थ फूलो मे सौरभ और वाक्यो मे है तद्विद् की आह्लादकारिता । मधु का अर्थ फूलो मे मकरन्द से है तथा वाक्यो (काव्य) मे समस्त काव्य के कारण-सम्पत्ति का विधिवत् आविर्भाव है ।

श्रीमान् कुन्तकविरचित वक्रोक्तिजीवित मे (हिन्दी अनुवाद का)
द्वितीय उन्मेष समाप्त हुआ ।
